अथ षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः पादः

[*द्वित्वप्रकरणम्*]

एकाचो द्वे प्रथमस्य ॥६।१।१॥

एकाचः ६।१॥ द्वे १।२॥ प्रथमस्य ६।१॥ *स०*—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्य एकाचः, बहुव्रीहिः ॥ *अर्थः*—प्रथमस्य एकाचो द्वे भवत इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—जजागार, पपाच, इयाय, आर ॥

भाषार्थः—[*प्रथमस्य*] प्रथम [*एकाचः*] एक अच् वाले समुदाय को [*द्वे*] द्वित्व हो जाता है। यह अधिकार ६।१।११ सूत्र तक जानना चाहिये॥ द्वित्व का अभिप्राय है, एक का दो बार उच्चारण करना॥

अजादेर्द्वितीयस्य ॥६।१।२॥

अजादेः ६।१॥ द्वितीयस्य ६।१॥ *स०*—अच् आदिर्यस्य सः अजादिः, तस्य ······ बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—एकाचः, द्वे ॥ *अर्थः*—अजादेर्द्वितीयस्य एकाचो द्वे भवत इत्यधिकारो वेदितव्यः॥ *उदा०*—अटिटिषति, अशिशिषति, अरिरिषति ॥

भाषार्थः—[*अजादेः*] अच् है आदि में जिसके ऐसे शब्द के [*द्वितीयस्य*] द्वितीय एकाच् समुदाय को द्वित्व होता है॥ यह अधिकार भी ६।१।११ तक जानना चाहिये॥

यहाँ 'द्वितीयस्य' ग्रहण सामर्थ्य से 'प्रथमस्य' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता है॥

न न्द्राः संयोगादयः ॥६।१।३॥

न अ० ॥ न्द्राः १।३॥ संयोगादयः १।३॥ *स०*—नश्च दश्च रश्च न्द्राः, इतरेतरद्वन्द्वः। संयोगस्य आदिः संयोगादिः, ते ······ षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—अजादेर्द्वितीयस्य, एकाचः, द्वे ॥ *अर्थः*—अजादेर्द्वितीयस्य

एकाचः, संयोगस्याद्यवयवभूता नकारदकाररेफाः न द्विरुच्यन्ते। पूर्वेण प्राप्तं द्वित्वं प्रतिषिध्यते॥ *उदा०* —उन्दिदिषति, अड्डिडिषति, अर्चिचिषति॥

भाषार्थः—अजादि के द्वितीय एकाच् समुदाय के [*संयोगादयः*] संयोग के आदि में स्थित जो [*न्द्राः*] न् द् र् इनको द्वित्व [*न*] नहीं होता॥ पूर्व सूत्र से अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त था, यहाँ यदि द्वितीय एकाच् समुदाय के संयोग के आदि वाला अक्षर नकार दकार या रेफ हो तो उसे द्वित्व न हो यह निषेध कर दिया॥

उन्द् धातु में द्वितीय एकाच् के संयोग का आदि 'न्' है सो उसे द्वित्व न होकर 'दिस् दिस्' द्वित्व होकर उन्दिदिषति (गीला करना चाहता है) बना। अड्ड धातु में भी द् को छोड़कर 'डिस् डिस्' द्वित्व होकर अड्डिडिषति (अभियोग करना चाहता है (बना। ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से द् को ड् हो गया है। अर्च धातु से अर्चिचिषति (पूजा करना चाहता है) में भी इसी प्रकार पूर्व सूत्र से प्राप्त रेफ सहित को द्वित्व न होकर, रेफ को छोड़कर 'चिस् चिस्' द्वित्व हुआ है। सन्नन्त की पूरी सिद्धि परिशिष्ट में दिखा दी है॥

पूर्वोऽभ्यासः ॥६।१।४॥

पूर्वः १।१॥ अभ्यासः १।१॥ *अनु०*—द्वे॥ द्वे इति प्रथमान्तमत्र षष्ठ्या विपरिणम्यते। *अर्थः*—ये द्वे विहितेऽस्मिन् प्रकरणे तयोर्यः पूर्वः सोभ्याससंज्ञो भवति॥ *उदा०*—पपाच, पिपक्षति, पापच्यते, जुहोति, अपीपचत्॥

भाषार्थः—जो इस प्रकरण में द्वित्व कहा है, उन दोनों में जो [*पूर्वः*] पूर्व है उसकी [*अभ्यासः*] अभ्यास संज्ञा होती है॥

जुहोति की सिद्धि भाग १ परि० १।१।६० में देखें। अपीपचत् की सिद्धि परि० ६।१।११ में देखें। सर्वत्र अभ्यास संज्ञा होने से तत्तत् निर्दिष्ट अभ्यास कार्य हो जाते हैं॥

उभे अभ्यस्तम् ॥६।१।५॥

उभे १।२॥ अभ्यस्तम् १।१॥ *अनु०*—द्वे॥ *अर्थः*—ये द्वे विहिते ते उभे समुदितेऽभ्यस्तसंज्ञे भवतः॥ *उदा०*—ददति, ददतु, दधतु॥

भाषार्थः—[*उभे*] जो द्वित्व रूप से कहे गए वे दोनों (द्वित्व किये हुये दोनों) [*अभ्यस्तम्*] अभ्यस्त संज्ञक होते हैं ॥

यहाँ से '*अभ्यस्तम्*' की अनुवृत्ति ६।१।६ तक जायेगी ॥

जक्षित्यादयः षट् ॥६।१।६॥

जक्ष् अविभक्तिकनिर्देशः ॥ इत्यादयः ॥१।३॥ षट् १।१॥ *स०*—इति आदिः येषां ते इत्यादयः बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अभ्यस्तम् ॥ *अर्थः*—जक्ष इति धातुरादयश्चान्ये षट् धातवोऽभ्यस्तसंज्ञका भवन्ति ॥ *उदा०*—जक्षति, जाग्रति, दरिद्रति, चकासति, शासति, दीध्यते, वेव्यते, दीध्यत् ॥

भाषार्थः—[*जक्ष्*] जक्ष इस धातु की और [*इत्यादयः*] वह आरम्भ में है जिन [*षट्*] छः धातुओं के उनकी अभ्यस्त संज्ञा होती है ॥ आदि शब्द से यहाँ जक्ष से आगे की, छः धातुओं का ग्रहण है, सो जक्ष को लेकर कुल सात धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होगी ॥

पूर्व सूत्र से द्वित्व किये हुये दोनों की ही अभ्यस्त संज्ञा प्राप्त थी, यहाँ बिना द्वित्व किये हुये सामान्य धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा की है ॥

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ॥६।१।७॥

तुजादीनाम् ६।३॥ दीर्घः १।१॥ अभ्यासस्य ६।१॥ *स०*—तुज आदिर्येषां ते तुजादयस्तेषां .... बहुव्रीहिः ॥ आदिशब्दः प्रकारवाची, तुजप्रकारा इत्यर्थः ॥ *अर्थः*—तुजादीनां धातूनाम् अभ्यासस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—तूतुजानः । मामहानः । अनड्वान् दाधान । स्वधां मीमाय । दाधार । स तूताव ॥

भाषार्थः—[*तुजादीनाम्*] तुजादि धातुओं के [*अभ्यासस्य*] अभ्यास को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ सूत्र में आदि शब्द प्रकारवाची है, तुज के प्रकार वाली, अर्थात् जिनको दीर्घ कहीं कहा नहीं, पर प्रयोग में देखा जाता है, उनके अभ्यास को दीर्घ होता है ॥

लिटि धातोरनभ्यासस्य ॥६।१।८॥

लिटि ७।१॥ धातोः ६।१॥ अनभ्यासस्य ६।१॥ *स०*—अनभ्यासस्येत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥

रतो धातोरवयवस्यानभ्यासस्य प्रथमस्य एकाचोऽजादे-
थायोगं द्वे भवतः ॥ उदा०—पपाच, पपाठ, प्रोर्णुनाव ॥

[लिटि] लिट् लकार परे रहते [धातोः] धातु का अवयव
अनभ्यास (अर्थात् जिसको पहले किसी और निमित्त
द्वित्व होकर अभ्यास संज्ञा नहीं हुई हो) जो प्रथम एकाच्
ात का अवयव जो द्वितीय एकाच् उसको द्वित्व होता है ॥

पूर्ववत् जानें। ऊर्णुञ् धातु से प्रोर्णुनाव बनेगा।
'ऊ' को द्वित्व नहीं होगा, तथा न न्द्राः संयो०
ो द्वित्व न होकर नु नाव् द्वित्व होकर प्रोर्णुनाव

धातोरनभ्यासस्य" की अनुवृत्ति ६।१।११ तक जायेगी ॥

सन्यङोः ॥६।१।९॥

६।२॥ स०—सँश्च यङ् च सन्यङौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥
रनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥
ास्य यङन्तस्य चानभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो-
ाय वा द्वे भवतः ॥ उदा०—पिपक्षति, पिपतिषति, अरिरि-
ाति। यङन्तस्य—पापच्यते, यायज्यते अटाट्यते, अरार्यते,
।

-[सन्यङोः] सन्नन्त और यङन्त धातु के अनभ्यास अवयव
तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है ॥

श्लौ ॥६।१।१०॥

श्लौ ७।१॥ अनु०—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादे-र्द्वितीयस्य ॥ अर्थः—श्लौ परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्य एकाचोऽजादेर्द्वितीयस्य वा एकाचो द्वे भवतः ॥ उदा०—जुहोति, बिभेति, जिह्रेति ॥

भाषार्थः—[श्लौ] श्लु परे रहते धातु के अनभ्यास अवयव प्रथम एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व हो जाता है ॥

जुहोति की सिद्धि परि० १।१।६० में देखें। ञिभी भये धातु से इसी प्रकार बिभेति (डरता है) तथा ह्री लज्जायाम् धातु से जिह्रेति (लज्जा करता है) बनता है ॥

चङि ॥६।१।११॥

चङि ७।१॥ अनु०—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥ *अर्थः*—चङि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचोऽजादेर्द्वितीयस्य वा द्वे भवतः ॥ उदा०—अपीपचत्, अपीपठत्, आटिटत्, आशिशत्, आर्दिदत् ॥

भाषार्थः—[चङि] चङ् परे रहते धातु के अनभ्यास प्रथम एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है ॥

दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च ॥६।१।१२॥

दाश्वान् १।१॥ साह्वान् १।१॥ मीढ्वान् १।१॥ च अ० ॥ *अर्थः*—दाश्वान् साह्वान् मीढ्वानित्येते शब्दा निपात्यन्ते छन्दसि भाषायाञ्च सामान्येन ॥ दाश्वानिति—दाशृ दाने इत्येतस्माद् धातोः क्वसुप्रत्ययो भवति, अद्विर्वचनमनिट्त्वञ्च निपात्यते ॥ दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥ साह्वानिति षह मर्षणे, धातोः क्वसुप्रत्ययः, परस्मैपदमद्विर्वचनमनिट्त्वं धातोरुपधादीर्घत्वञ्च निपात्यते ॥ साह्वान् बलाहकः ॥ मीढ्वानिति मिह सेचने धातोः क्वसुप्रत्ययः, अद्विर्वचनमनिट्त्वं धातोरुपधादीर्घत्वं ढत्वञ्च निपात्यते ॥ मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृडय ॥

भाषार्थः—[दाश्वान्···न्] दाश्वान् साह्वान् [च] तथा मीढ्वान् ये शब्द छन्द तथा भाषा में सामान्य करके निपातन किये जाते हैं ॥

दाश्वान् में दाशृ दाने धातु से लिट् के स्थान में *क्वसुश्च* (३।२।१०७) सूत्र से क्वसु हुआ है। अब क्वसु को स्थानिवद्भाव से लिट् मानकर जो *लिटि धातो०* (६।१।८) से द्वित्व प्राप्त हुआ, उस द्वित्व का निषेध तथा *वस्वेकाजाद्घसाम्* (७।२।६७) से जो इट् प्राप्त था उसका भी निषेध निपातन से किया जाता है ॥ शेष नुम् आगम दीर्घ आदि कार्य चितवान् की सिद्धि के समान जानें ॥ साह्वान् में षह मर्षणे धातु से पूर्ववत् क्वसु होकर परस्मैपदत्व अद्विर्वचन अनिट्त्व एवं धातु की उपधा को दीर्घत्व निपातन किया गया है। यहाँ षह धातु आत्मनेपदी है।

लः परस्मैपदम् (१।४।९८) से (तङ् और आन=को छोड़कर) सब लादेश परस्मैपद होते हैं इस प्रकार लिट् के स्थान में होने से क्वसु लादेश (लकार) है, सो यह परस्मैपद संज्ञक होने से परस्मैपदी धातु से ही होगा, अतः यहाँ धातु को परस्मैपदत्व का निपातन करना पड़ा ॥

मीढ्वान् में मिह सेचने धातु से पूर्ववत् क्वसु करके अद्विर्वचन अनिटत्व, मिह् के उपधा को दीर्घ तथा हकार का ढकार निपातन है। सूत्र निर्दिष्ट प्रकृत उदाहरण में 'मीढ्वस्' सम्बुद्ध्यन्त पद है। मीढ्वन् यहाँ *मतुवसो रु०* (८।३।१) से न् को रु होकर 'मीढ्वर्' विसर्जनीय होकर मीढ्वः तथा उस विसर्जनीय को पुनः तोकाय परे रहते *विसर्जनीयस्य सः* (८।३।३४) से सत्व होकर 'मीढ्वस्तोकाय' बना है ॥ दाश्वान्स् जस्=दाश्वांसः यह बहुवचन का रूप है ॥

[*संप्रसारणप्रकरणम्*]

ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ॥६।१।१३॥

ष्यङः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ पुत्रपत्योः ७।२॥ तत्पुरुषे ७।१॥ *स०*—पुत्रश्च पतिश्च पुत्रपती, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—पुत्र, पति इत्येतयोरुत्तरपदयोः ष्यङः सम्प्रसारणं भवति तत्पुरुषे समासे ॥ *उदा०*—कारीषगन्धीपुत्रः कारीषगन्धीपतिः, कौमुदगन्धीपुत्रः कौमुदगन्धीपतिः ॥

भाषार्थः—[*ष्यङः*] ष्यङ् को [*सम्प्रसारणम्*] सम्प्रसारण होता है, यदि [*पुत्रपत्योः*] पुत्र तथा पति शब्द उत्तरपद में हों तो [*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में ॥ यण् के स्थान में इक् करने को (१।१।४४) सम्प्रसारण कहते हैं ॥

कारीषगन्ध्या कौमुदगन्ध्या की सिद्धि परि० ४।१।७४ में दिखा आये हैं, इन शब्दों से आगे कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः पतिर्वा, कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः पतिर्वा—ऐसा विग्रह करके षष्ठीतत्पुरुष (२।२।८) समास किया, तब प्रकृत सूत्र से ष्यङ् के 'य' को सम्प्रसारण होकर कारीषगन्धिपुत्रः, बना। *सम्प्रसारणस्य* (६।३।१३७) से दीर्घ होकर कारीषगन्धीपुत्रः कारीषगन्धीपतिः आदि रूप बन गये ॥

यहाँ से 'ष्यङः' की अनुवृत्ति ६।१।१४ तथा '*सम्प्रसारणम्*' की ६।१।२१ तक जायेगी ॥

बन्धुनि बहुव्रीहौ ॥६।१।१४॥

बन्धुनि ७।१॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ *अनु०*—ष्यङः, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—बन्धुशब्द उत्तरपदे बहुव्रीहौ समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य कारीषगन्धीबन्धुः कौमुदगन्धीबन्धुः॥

भाषार्थः—[*बन्धुनि*] बन्धु शब्द उत्तरपद में हो तो [*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में ष्यङ् को सम्प्रसारण हो जाता है ॥

सिद्धि पूर्ववत् जानें। *अनेकमन्यपदार्थे* (२।२।२४) से यहाँ समास होगा, यही विशेष है॥ *उदा०*—कारीषगन्धीबन्धुः (कारीषगन्ध्या नाम की स्त्री जिसकी बन्धु है), कौमुदगन्धीबन्धुः ॥

वचिस्वपियजादीनां किति ॥६।१।१५॥

वचिस्वपियजादीनाम् ६।३॥ किति ७।१॥ *स०*—यज आदिर्येषां ते यजादयः, बहुव्रीहिः। वचिश्च स्वपिश्च यजादयश्च वचिस्वपियजादयस्तेषाम्, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं भवति किति परतः ॥ *उदा०*—वच्—उक्तः, उक्तवान्। स्वप्—सुप्तः, सुप्तवान्। यज्—इष्टः इष्टवान्। वप्—उप्तः, उप्तवान्। वह्—ऊढः, ऊढवान्। वस्—उषितः, उषितवान्। वेञ्—उतः, उतवान्। व्येञ्—संवीतः, संवीतवान्। ह्वेञ्—हूतः, हूतवान्। वद्—उदितः, उदितवान्। टुओश्वि—शूनः, शूनवान् ॥

भाषार्थः—[*वचिस्वपियजादीनाम्*] वच, ञिष्वप् शये तथा यजादि धातुओं को [*किति*] कित् प्रत्यय के परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है। वच् से वच परिभाषणे तथा *ब्रुवो वचिः* (२।४।५३) से विहित वच् आदेश दोनों का ग्रहण है। यजादि के अन्तर्गत यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु से लेकर भ्वादिगण की समाप्तिपर्यन्त धातुओं का ग्रहण है ॥

उक्तः उक्तवान् आदि की सिद्धि परि० १।१।४४ में देखें। ऊढः में वह धातु से क्त प्रत्यय तथा सम्प्रसारण होकर 'उह् त' बना, अब *हो ढः* (८।२।३१) से ह् को 'ढ्' *झषस्तथो०*(८।२।४०) से त् को 'ध' एवं ष्टुत्व

होकर 'उढ् ढ' रहा। *ढो ढे लोपः* (८।३।१३) से एक ढकार का लोप तथा *ढ्रलोपे पूर्वस्य०* (६।३।१०६) से दीर्घ होकर ऊढः बन गया। क्तवतु में ऊढवान् की सिद्धि भी इसी प्रकार जानें। उषितः उषितवान् में *शासिवसि०* (८।३।६०) से षत्व हुआ है। संवीतः हूतः शूनः आदि में *हलः* (६।४।२) से दीर्घ हुआ है। शूनः शूनवान् में *ओदितश्च* (८।२।४५) से निष्ठा को नत्व तथा *आर्धधातुकस्ये०* (७।२।३५) से प्राप्त इट् का *श्वीदितो०* (७।२।१४) से निषेध भी हुआ है॥

यहाँ से *किति*' की अनुवृत्ति ६।१।१६ तक जायेगी॥

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ॥६।१।१६॥

ग्रहि......भृज्जतीनाम् ६।३॥ ङिति ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—ग्रहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—किति, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—ग्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ, वेञो वयिरिति वयादेशः, व्यध ताडने, वश कान्तौ व्यच व्याजीकरणे, ओव्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायां, भ्रस्ज पाके, इत्येतेषां धातूनां सम्प्रसारणं भवति, ङिति किति च परतः ॥ *उदा०*—ग्रह- गृहीतः, गृहीतवान्, ङिति—गृह्णाति जरीगृह्यते। ज्या—जीनः, जीनवान्, ङिति—जिनाति, जेजीयते। वय—ऊयतुः, ऊयुः। ङिद्भावात् किदेवात्रोदाह्रियते। व्यध—विद्धः, विद्धवान्। ङिति—विध्यति वेविध्यते। वश—उशितः, उशितवान्। ङिति—उष्टः, उशन्ति। व्यच—विचितः, विचितवान्। ङिति—विचति वेविच्यते। ओव्रश्चू—वृक्णः, वृक्णवान्। ङिति—वृश्चति, वरीवृश्च्यते। प्रच्छ—पृष्टः, पृष्टवान्। ङिति—पृच्छति, परीपृच्छ्यते। भ्रस्ज—भृष्टः, भृष्टवान्। ङिति—भृज्जति, बरीभृज्ज्यते ॥

भाषार्थः—[*ग्रहिज्या...भृज्जतीनाम्*] ग्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ, वय (वेञो वयिः से जो वय आदेश होता है उसका यहाँ ग्रहण है), व्यध ताडने, वश कान्तौ, व्यच व्याजीकरणे, ओव्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायां, भ्रस्ज पाके, इन-इन धातुओं को सम्प्रसारण हो जाता है, [*ङिति*] ङित् [च] तथा कित् प्रत्यय परे रहते ॥ वश धातु को यङ् परे रहते सम्प्रसारण का निषेध *न वशः* (६।१।२०) से करेंगे, अतः उसके यङ् का उदाहरण नहीं दिया।

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ॥६।१।१७॥

लिटि ७।१॥ अभ्यासस्य ६।१॥ उभयेषाम् ६।३॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—उभयेषां=वच्यादीनां ग्रहादीनां च लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—वच्—उवाच, उवचिथ। स्वप्—सुष्वाप, सुष्वपिथ। यज्—इयाज, इयजिथ। टुवप्—उवाप, उवपिथ। ग्रह—जग्राह, जग्रहिथ। ज्या—जिज्यौ, जिज्यिथ। वय—उवाय, उवयिथ। व्यध—विव्याध, विव्यधिथ। वश—उवाश, उवशिथ। व्यच—विव्याच, विव्यचिथ। ओव्रश्चू—वव्रश्च, वव्रश्चिथ। प्रच्छ—पप्रच्छ पप्रच्छिथ। भ्रस्ज—बभ्रज्ज बभ्रज्जिथ। ग्रहिपृच्छतिभृज्ज तीनां सम्प्रसारणासंप्रसारणत्व उभयथाऽपि रूपयोरविशेषः ॥

भाषार्थः—[*उभयेषाम्*] दोनों के अर्थात् वचि, स्वपि, यजादि तथा ग्रहिज्यादियों के [*अभ्यासस्य*] अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है, [*लिटि*] लिट् परे रहते ॥

विशेषः—लिट् लकार के *असंयोगाल्लिट् कित्* (१।२।५) से कित्वत् होने के कारण, लिट् लकार में अभ्यास को पूर्व दोनों सूत्रों से ही सम्प्रसारण हो सकता था, पुनः इस सूत्र के विधान करने का यह प्रयोजन है कि, जहाँ लिडादेश पित्स्थानी होने के कारण पूर्वोक्त सूत्र से कित्वत् नहीं हो सकता, वहाँ कित् परे न होने पर भी अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाय। जैसे णल् तथा थल् तिप् सिप् स्थानी होने से पित् स्थानी हैं, अतः कित्वत् नहीं थे, पुनरपि यहाँ इस सूत्र से सम्प्रसारण हो जाता है ॥

लिट् लकार की सिद्धियाँ बहुत बार दिखा आये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझें, सम्प्रसारण रूप ही एक कार्य यहाँ विशेष है और कुछ नहीं ॥ द्वित्व करने के पश्चात् *हलादिः शेषः* (७।४।६०) से पहले ही प्रकृत सूत्र से अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। ग्रह प्रच्छ तथा भ्रस्ज धातु को द्वित्व तथा सम्प्रसारण होकर 'गृ ग्रह, पृ प्रच्छ, भृ भ्रस्ज' बना। पुनः उरत् (७।४।६६) से अत्व करके 'गर् ग्रह पर् प्रच्छ, भर् भ्रस्ज' बना। हलादि शेष करके जग्राह पप्रच्छ बभ्रज्ज बन गया। बभ्रज्ज यहाँ इतना और विशेष है कि *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से भ्रस्ज के स् को द् एवं पुनः द् को श्चुत्व (८।४।३९) होकर ज् हो गया है। यहाँ सम्प्रसारण बिना किये

हलादिः शेषः से अभ्यास के रेफ की निवृत्ति होकर पप्रच्छ बभ्रज्ज रूप बन सकता था, अतः कहा है कि प्रच्छ तथा भ्रस्ज धातु में सम्प्रसारण करने एवं न करने में कोई विशेष नहीं है अर्थात् दोनों में एक जैसा ही रूप बनेगा, सो प्रच्छ, भ्रस्ज से अतिरिक्त धातुओं के लिये ही यह सम्प्रसारण विधान है ॥

स्वापेश्चङि ॥६।१।१८॥

स्वापेः ६।१॥ चङि ७।१॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—स्वापेरिति स्वपधातोर्ण्यन्तस्य ग्रहणम् । तस्य स्वापेः चङि परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—असूषुपत्, असूषुपताम्, असूषुपन् ॥

भाषार्थः—[*स्वापेः*] स्वापि (णिजन्त) धातु को [*चङि*] चङ् परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ॥ स्वप् धातु का स्वापि यह णिजन्त में निर्देश है ॥ परि० ६।१।११ में किये गये अपीपचत् की सिद्धि के समान असूषुपत् की सिद्धि जानें, केवल यहाँ चङ् परे रहते सम्प्रसारण (व को उ) होता है, यही विशेष है । सम्प्रसारण होकर सुप् सुप् द्वित्व होगा शेष सिद्धि परि० ६।१।११ के समान जानें । *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९) से षत्व हो जायेगा ॥

स्वपिस्यमिव्येञां यङि ॥६।१।१९॥

स्वपिस्यमिव्येञाम् ६।३॥ यङि ७।१॥ *स०*—स्वपि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—ञिष्वप् शये, स्यमु शब्दे, व्येञ् संवरणे इत्येतेषां धातूनां यङि परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—सोषुप्यते, सेसिम्यते, वेवीयते ॥

भाषार्थः—[*स्वपिस्यमिव्येञाम्*] ञिष्वप् स्यमु व्येञ् इन धातुओं को [*यङि*] यङ् परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ॥ परि० ६।१।९ के समान यङ् की सिद्धि जानें । व्येञ् में व् तथा य् दोनों यण् हैं सो दोनों को ही सम्प्रसारण हो सकता है, पर *न सम्प्रसारणे०* (६।१।३६) से संप्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध करने से विदित होता है कि पहले पर यण् को सम्प्रसारण होता है, तत्पश्चात् पूर्व य को उक्त सूत्र से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है । इस प्रकार

यहाँ पर यण् 'य्' को सम्प्रसारण होता है। *आदेच उपदेशेऽशिति* (६।१।४४) से आत्व यहाँ हो ही जायेगा।

यहाँ से '*यङि*' की अनुवृत्ति ६।१।२१ तक जायेगी॥

न वशः ॥६।१।२०॥

न अ० ॥ वशः ६।१॥ *अनु०*—यङि, सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*—वशेर्धातोर्यङि परतः सम्प्रसारणं न भवति॥ *उदा०*—वावश्यते वावश्येते वावश्यन्ते।

भाषार्थः—[*वशः*] वश धातु को यङ् परे रहते सम्प्रसारण [*न*] नहीं होता॥ *ग्रहिज्यावयि०* (६।१।१६) से यङ् ङित् के परे रहते सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका निषेध इस सूत्र से हो जाता है॥

चायः की ॥६।१।२१॥

चायः ६।१॥ की, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ *अनु०*—यङि॥ *अर्थः*—चायृ पूजानिशामनयोरित्येतस्य धातोर्यङि परतः 'की' आदेशो भवति॥ *उदा०*—चेकीयते चेकीयेते चेकीयन्ते॥

भाषार्थः—[*चायः*] चायृ धातु को यङ् परे रहते [*की*] 'की' आदेश होता है॥ इस सूत्र में सम्प्रसारण की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता॥

स्फायः स्फी निष्ठायाम् ॥६।१।२२॥

स्फायः ६।१॥ स्फी, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ निष्ठायाम् ७।१॥ *अर्थः*—स्फायी वृद्धौ धातोर्निष्ठायां परतः स्फीत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—स्फीतः, स्फीतवान्॥

भाषार्थः—[*स्फायः*] स्फायी धातु को [*निष्ठायाम्*] निष्ठा परे रहते [*स्फी*] स्फी यह आदेश हो जाता है॥ इस सूत्र में भी सम्प्रसारणम् की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं होता॥

यहाँ से '*निष्ठायाम्*' की अनुवृत्ति ६।१।२८ तक जायेगी॥

स्त्यः प्रपूर्वस्य ॥६।१।२३॥

स्त्यः ६।१॥ प्रपूर्वस्य ६।१॥ *स०*—प्र पूर्वो यस्य स प्रपूर्वस्तस्य बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*—प्रपूर्वस्य स्त्याधातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति॥ *उदा०*—प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान्। प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान्॥

भाषार्थः—[*प्रपूर्वस्य*] प्र पूर्व में है, जिस [*स्त्यः*] स्त्या (स्त्यै) धातु के, उसको निष्ठा परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ॥ स्त्यै को *आदेच उपदेशे०* (६।१।४४) से आत्व होकर प्र स्त्या त प्रस्तितः = *हलः* (६।४।२) से दीर्घ होकर प्रस्तीतः प्रस्तीतवान् बन गया। प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् में निष्ठा के त को म *प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्* (८।२।५४) से विकल्प से हुआ है ॥

द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः ॥६।१।२४॥

द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः ७।२॥ श्यः ६।१॥ *स०*—द्रवस्य मूर्त्तिः काठिन्यं, द्रवमूर्त्तिः, षष्ठीतत्पुरुषः, द्रवमूर्त्तिश्च स्पर्शश्च द्रवमूर्त्तिस्पर्शौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥*अनु०*— निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*— द्रवमूर्त्तौ = द्रवकाठिन्ये स्पर्शे च वर्त्तमानस्य श्यैङ् गतौ इत्येतस्य धातोः सम्प्रसारणं भवति निष्ठायां परतः ॥ *उदा०*— द्रवमूर्त्तौ—शीनं घृतं, शीना वसा, शीनं मेदः। द्रवावस्थायाः काठिन्यं गतम् इत्यर्थः। स्पर्शे—शीतं वर्त्तते, शीतो वायुः, शीतमुदकम् ॥

भाषार्थः— [*द्रवमू'''योः*] द्रवमूर्त्ति अर्थात् तरल पदार्थ के काठिन्य में वर्त्तमान तथा स्पर्श अर्थ में वर्त्तमान [*श्यः*] श्यैङ् धातु को सम्प्रसारण हो जाता है निष्ठा के परे रहते ॥

श्योऽस्पर्शे (८।२।४७) से अस्पर्श विषय में निष्ठा के त को 'न' हुआ है। शेष आत्व (६।१।४४) दीर्घत्वादि (६।४।२) सब पूर्ववत् ही जानें ॥ *उदा०*—शीनं घृतम् (कठोर जमा हुआ घी)। शीना वसा (जमी हुई चर्बी)। शीतं वर्त्तते (शीतल स्पर्श), शीतो वायुः (शीतल स्पर्श युक्त वायु) ॥

यहाँ से '*श्यः*' की अनुवृत्ति ६।१।२६ तक जायेगी ॥

प्रतेश्च ॥६।१।२५॥

प्रतेः ५।१॥ च अ०॥ *अनु०*—श्यः, निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—प्रतेरुत्तरस्य श्याधातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान् ॥

भाषार्थः—[*प्रतेः*] प्रति से उत्तर [*च*] भी श्या धातु को निष्ठा परे रहते, सम्प्रसारण हो जाता है ॥ पूर्व सूत्र से ही सम्प्रसारण प्राप्त था, यहाँ द्रवमूर्त्ति तथा स्पर्श विषय से अन्यत्र भी सम्प्रसारण हो जावे,

इसलिये यह वचन है ॥ सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥ उदा०—प्रतिशीनः (पिघला हुआ द्रव्य) प्रतिशीनवान् ॥

विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ॥६।१।२६॥

विभाषा १।१॥ अभ्यवपूर्वस्य ६।१॥ स०—अभिश्च अवश्च, अभ्यवौ, अभ्यवौ पूर्वौ यस्य स अभ्यवपूर्वस्तस्य' 'द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०-श्यः, निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—अभि, अव इत्येवं पूर्वस्य श्याधातोर्निष्ठायां परतो विभाषा सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—अभिशीनम्, पक्षे—अभिश्यानम् । अवशीनम्, पक्षे—अवश्यानम् ॥ उभयत्र विभाषेयम्, तेन *द्रवमूर्तिस्पर्शयोरपि* सम्प्रसारणं विकल्प्यते ।

भाषार्थः— [*अभ्यवपूर्वस्य*] अभि अव पूर्वक श्या धातु को निष्ठा परे रहते [*विभाषा*] विकल्प से सम्प्रसारण होता है ॥ पक्ष में सम्प्रसारण नहीं भी होगा ॥ सिद्धि पूर्ववत् समझें ॥

यह उभयत्र विभाषा है, अतः अभि अव पूर्वक श्या धातु को इस सूत्र से द्रवमूर्त्तिस्पर्श विवक्षा में भी विकल्प होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।१।२८ तक जायेगी ॥

शृतं पाके ॥६।१।२७॥

शृतम् १।१॥ पाके ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, निष्ठायाम् ॥ *अर्थः*—पाके वाच्ये शृतमिति निपात्यते श्रा पाके इत्येतस्य धातोर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च क्तप्रत्यये परतः पाकेऽभिधेये शृभावो विभाषा निपात्यते ॥ शृतं क्षीरम्, शृतं हविः ॥ व्यवस्थितविभाषा चेयं तेन क्षीरहविषोर्नित्यं शृभावो भवति अन्यत्र न भवति, यथा—श्राणा यवागूः, श्रपिता यवागूः ॥

भाषार्थः—[*शृतम्*] शृतम् यह शब्द [*पाके*] पाक अभिधेय होने पर निपातन किया जाता है । श्रा पाके धातु चाहे वह ण्यन्त हो या अण्यन्त उसको क्त प्रत्यय के परे रहते विकल्प से पाक अभिधेय होने पर शृभाव निपातन किया जाता है ॥ इस सूत्र में कही विभाषा व्यवस्थित विभाषा है, ऐसा समझना चाहिये ।

व्यवस्थित विभाषा उदाहरण विशेष में विधि, एवं उदाहरण विशेष में ही निषेध करती है, इसलिये यहाँ भी क्षीर तथा हवि विषय में ही

शृ आदेश की विधि तथा अन्यत्र निषेध (शृ आदेश का अभाव) होता है। श्राणा, श्रपिता का प्रयोग क्षीर हवि विषयक पाक से अन्यत्र होता है।

श्राणा में निष्ठा के तकार को नकार *संयोगादेरातो०* (८।२।४३) से हुआ है। ४।१।४ से टाप् हो जायगा। श्रपिता णिजन्त के श्रा धातु से निष्ठा प्रत्यय होकर बना है। *अर्त्तिह्रीव्लीरी०* (७।३।३६) से पुक् आगम हो ही जायगा। *घटादयो मितः* इस धातुपाठ के सूत्र से 'श्रा' के मित् माने जाने से *मितां ह्रस्वः* (६।४।९२) से ह्रस्व भी हो जाता है। श्रा पुक् णिच् त टाप् = श्राप् इ त आ ह्रस्व होकर श्रपिता बन गया॥

प्यायः पी ॥६।१।२८॥

प्यायः ६।१॥ पी, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ *अनु०*—विभाषा, निष्ठायाम्॥ *अर्थः*—ओप्यायी वृद्धौ इत्येतस्य धातोर्निष्ठायां परतो विभाषा 'पी' इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—पीनं मुखम्, पीनौ बाहू, पीनमुरः। पक्षे न च भवति—आप्यानश्चन्द्रमाः। व्यवस्थितविभाषात्वाद् अनुपसर्गस्य नित्यमादेशः, सोपसर्गस्य तदभावो ज्ञेयः॥

भाषार्थः—[*प्यायः*] ओप्यायी धातु को निष्ठा परे रहते विकल्प से [*पी*] पी आदेश होता है॥ यह भी व्यवस्थित विभाषा है, अतः अनुपसर्ग प्या धातु को नित्य 'पी' आदेश होता है, तथा सोपसर्ग को नहीं होता॥ *ओदितश्च* (८।२।४५) से निष्ठा के त को 'न' पीनं आदि में हुआ है॥

यहाँ से '*प्यायः पी*' की अनुवृत्ति ६।१।२९ तक जायेगी॥

लिड्यङोश्च ॥६।१।२९॥

लिड्यङोः ७।२॥ च अ०॥ *स०*—लिड्यङोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—प्यायः पी॥ *अर्थः*—लिटि यङि च परतः प्यायः 'पी' इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—आपिप्ये, आपिप्याते, आपिप्यिरे। यङि—आपेपीयते, आपेपीयेते, आपेपीयन्ते॥

भाषार्थः—[*लिड्यङोः*] लिट् तथा यङ् परे रहते [*च*] भी ओप्यायी धातु को पी आदेश होता है॥

आपिप्ये में द्वित्वादि सब कार्य लिट् लकार में की गई सिद्धियों के सामान हैं, यहाँ केवल 'त' को *लिटस्तझयोरेशिरेच्* (३।४।८१) से एश्

हो जाता है। आपेपीयते भी यङ् की सिद्धि के समान जानें। *गुणो-यङ्लुकोः* (७।४।८२) से अभ्यास को गुण हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*लिड्यङोः*' की अनुवृत्ति ६।१।३० तक जायेगी ॥

विभाषा श्वेः ॥६।१।३०॥

विभाषा १।१॥ श्वेः ६।१॥ *अनु०*—लिड्यङोः, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—लिटि यङि च परतः श्विधातोः सम्प्रसारणं भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*—लिटि—शुशाव शिश्वाय, शुशुवतुः शिश्वियतुः। यङि—शोशूयते शेश्वीयते ॥

भाषार्थः—लिट् तथा यङ् परे रहते [*श्वेः*] टुओश्वि धातु को [*विभाषा*] विकल्प से सम्प्रसारण हो जाता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।४३ में देखें ॥

इस सूत्र में उभयत्र विभाषा है। लिट् लकार में कित् प्रत्यय (द्विवचन बहुवचन) परे रहते *वचिस्वपि०* (६।१।१५) से श्वि धातु को नित्य संप्रसारण प्राप्त था और अकित् प्रत्यय (एकवचन) परे रहते सम्प्रसारण नहीं प्राप्त था। यङ् परे रहते भी श्वि को सम्प्रसारण की प्राप्ति नहीं थी। उभयत्र विभाषा में न वा अर्थों में से प्रथम न का अर्थ प्रवृत्त होता है। तदनुसार श्वि को लिट् तथा यङ् परे सम्प्रसारण नहीं होता इस अर्थ द्वारा श्वि को जहाँ कहीं भी (कित् परे रहते धातु को, प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध हो गया। (यङ् में तो प्राप्त ही नहीं था अतः यङ् विषय में न की प्रवृत्ति नहीं होती)। तदनन्तर 'वा' के अर्थ की प्रवृत्ति हुई—श्वि धातु को लिट् और यङ् परे विकल्प से सम्प्रसारण होता है ॥

यहाँ से '*विभाषा श्वेः*' की अनुवृत्ति ६।१।३१ तक जायेगी ॥

णौ च संश्चङोः ॥६।१।३१॥

णौ ७।१॥ च अ०॥ संश्चङोः ७।२॥ *स०*—संश्चङोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा श्वेः, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—सन्परे चङ्परे च णौ परतः श्वीत्येतस्य धातोर्विभाषा सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—सन्परे—शुशावयिषति, शिश्वाययिषति। चङ्परे—अशूशवत् अशिश्वयत् ॥

भाषार्थः—[*संश्चङोः*] सन् परे हो, या चङ्परे हो जिस [*णौ*] णिच् के ऐसे णि के परे रहते [च] भी टुओश्वि धातु को विकल्प से सम्प्रसारण हो जाता है ॥

यहाँ से '*णौ च संश्चङोः*' की अनुवृत्ति ६।१।३२ तक जायेगी ॥

ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च ॥६।१।३२॥

ह्वः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ अभ्यस्तस्य ६।१॥ च अ०॥ *अनु०*— णौ च संश्चङोः ॥ *अर्थः*—सन्परे चङ्परे च णौ परतो ह्वः सम्प्रसारणं भवति, अभ्यस्तस्य निमित्तं यो ह्वयतिस्तस्य च सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—जुहावयिषति जुहावयिषतः जुहावयिषन्ति। चङ्परे—अजूहवत्, अजूहवताम्, अजूहवन्। अभ्यस्तस्य—जुहाव जोहूयते, जुहूषति ॥

भाषार्थः—सन्परक चङ्परक णि के परे रहते [*ह्वः*] ह्वेञ् धातु को [*सम्प्रसारणम्*] सम्प्रसारण हो जाता है, तथा [*अभ्यस्तस्य*] अभ्यस्त का निमित्त जो ह्वेञ् धातु उसको [च] भी सम्प्रसारण हो जाता है ॥

विशेषः—'अभ्यस्तस्य च' इस अंश के अर्थ में च से 'ह्वः' का संनियोग होता है, 'अभ्यस्तस्य' तथा 'ह्वः' दोनों षष्ठ्यन्त पद हैं, सो इनका अर्थ "अभ्यस्त के ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण होता है" यह होगा। अब प्रश्न यह है कि अभ्यस्त का ह्वेञ् धातु क्या है, अर्थात् इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है सो उसको बताने के लिये अर्थ में निमित्त शब्द जोड़ा गया है, "अभ्यस्त का निमित्त = कारण जो ह्वेञ्" उसे सम्प्रसारण होता है। ऐसा अर्थ करने से यह लाभ होगा, कि जिस ह्वेञ् धातु में अभ्यस्त बनने का अर्थात् द्वित्व करने का निमित्तमात्र (लिट्, सन्, यङ्, आदि) हो उसको अभ्यस्त बनने से (द्वित्व होने से) पूर्व ही सम्प्रसारण हो जाता है ॥

सिद्धि परि० ६।१।३१ के समान ही जानें। ह्वेञ् को आत्व *आदेच उपदेशे०* (६।१।४४) से हो ही जायेगा॥ जुहाव (लिट्) जोहूयते (यङ्) तथा जुहूषति (सन्) सबमें सिद्धि पूर्ववत् जानें॥

यहाँ से 'ह्वः' की अनुवृत्ति ६।१।३३ तक तथा '*सम्प्रसारणम्*' की ६।१।३६ तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥६।१।३३॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—ह्वः सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ह्वेञ्धातोर्बहुलं सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—इन्द्राग्नी हुवे। देवीं सरस्वतीं हुवे। बहुलग्रहणात् न च भवति—ह्वयामि मरुतः शिवान्। ह्वयामि विश्वान् देवान् ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में ह्वेञ् धातु को [*बहुलम्*] बहुल करके सम्प्रसारण होता है ॥

हुवे लट् लकार आत्मनेपद का रूप है। 'ह्वे शप् इट्' यहाँ *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से शप् का लुक् होकर तथा प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण होकर हु ए इ रहा *सम्प्रसारणाच्च* (६।१।१०४) से पूर्वरूप होकर 'हु इ' रहा। (६।४।७७) से 'हु' के 'उ' को उवङ् होकर 'हुव् इ' रहा। पश्चात् *टित आत्मने०* (३।४।७९) से एत्व होकर हुवे बन गया ॥

यहाँ से '*बहुलम्*' की अनुवृत्ति ६।१।३४ तक तथा '*छन्दसि*' की ६।१।३५ तक जायेगी ॥

चायः की ॥६।१।३४॥

चायः ६।१॥ की लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *अनु०*—बहुलं छन्दसि ॥ *अर्थः*—चायृधातोः छन्दसि विषये बहुलं कीत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—विधुना निचिक्युः, नान्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्। न च भवति—अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य (य० ११।१) ॥

भाषार्थः—[*चायः*] चायृ धातु को वेद विषय में बहुल करके [*की*] 'की' आदेश हो जाता है ॥

निचिक्युः यह नि पूर्वक चायृ धातु के लिट् लकार के 'उस्' का रूप है। निचाय्य यहाँ बहुल कहने के कारण 'की' आदेश नहीं होता। निचाय्य रूप क्त्वा को ल्यप् आदेश होकर बना है। नि चाय् क्त्वा = निचाय् ल्यप् = निचाय्य ॥

अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः श्रितमाशीराशीर्त्ताः ॥६।१।३५॥

अपस्पृधेथाम् तिङ् ॥ आनृचुः तिङ् ॥ आनृहुः तिङ् ॥ चिच्युषे तिङ् ॥ तित्याज तिङ् ॥ श्राताः १।३॥ श्रितम् १।१॥ आशीर् १।१॥

आशीर्त्ताः ११३।। अनु०—छन्दसि, सम्प्रसारणम्।। अर्थः—छन्दसि विषये एते शब्दा निपात्यन्ते ।। अपस्पृधेथाम् इत्यत्र स्पर्धधातोर्लङि आथामि द्विर्वचनं रेफस्य सम्प्रसारणम् अकारलोपश्च निपातनात् भवति।। *अपर आह*—अपपूर्वस्य स्पर्धेः लङि, आथामि, सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात् । *बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि* (६।४।७५) इत्यडागमो न भवति । अस्मिन् पक्षे द्वित्वस्य नास्त्यावश्यकता ।। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् । पूर्वस्मिन् पक्षे भाषायाम् अस्पर्धेथाम्, अपरस्मिन् पक्षे अपास्पर्धेथाम् इति भवति । आनृचुः आनृहुरित्यत्र, अर्च पूजायाम्, अर्ह पूजायामित्यनयोः धात्वोः लिटि उसि परतः सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनाद् भवति ।। य ईम्रा अर्कमानृचुः (ऋ० १।१६।४) । न वसून्यानृहुः। आनर्चुः आनर्हुरिति भाषायाम् ।। चिच्युषे, इत्यत्र च्युङ्गतावित्यस्य धातोः लिटि 'से' (*थासः से* ३।४।८०) परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणमनिट्त्वञ्च निपातनाद् भवति । चुच्युविषे इति भाषायाम् । तित्याजेत्यत्र त्यजधातोः लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं निपात्यते । तित्याज । तत्याजेति भाषायाम् ।। श्राता इत्यत्र श्रीञ् धातोर्निष्ठायां परतः श्राभावो निपात्यते ।। श्रातास्त इन्द्रसोमाः ।। श्रितमित्यत्र तस्यैव श्रीञ्धातोः निष्ठायां परतो ह्रस्वत्वं निपात्यते ।। सोमो गौरी अधिश्रितः ।। आशीरित्यत्रापि तस्यैव आङ्पूर्वस्य श्रीञ्धातोः क्विपि परतः शीरादेशो निपात्यते ।। तामाशीरा दुहन्ति ।। आशीर्त्ता इत्यत्रापि आङ्पूर्वस्य श्रीञ्धातोः निष्ठायां परतः शीर्भावो निष्ठायाश्च *रदाभ्यां नि०* (८।२।४२) इत्यनेन नत्वे प्राप्तेऽभावो निपात्यते ।। क्षीरैर्मध्यत आशीर्त्तः ।।

भाषार्थः—वेद विषय में [*अपस्पृ······शीर्त्ताः*] अपस्पृधेथाम् आदि शब्द निपातन किये जाते हैं ।। अपस्पृधेथाम् यहाँ स्पर्ध धातु से लङ् लकार में आथाम् होकर स्पर्ध को द्विर्वचन तथा रेफ को सम्प्रसारण, एवं धातु के 'प्' से उत्तरवर्ती 'अ' का लोप भी निपातन से होता है ।। स्पर्ध अ आथाम्, द्वित्व होकर, स्पर्ध् स्पर्ध् अ आथाम् रहा, *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) लगकर एवं सम्प्रसारण तथा 'प' के 'अ' का लोप होकर प स्प् ऋध् अ आथाम् रहा । *आतो ङितः* (७।२।८१) से 'आ' को इय् एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश तथा *लोपो व्योर्वलि* (६।१।६४) से य् का लोप और अडागम होकर अपस्पृधेथाम् बना ।। कई लोगों का मत है कि अप पूर्वक स्पर्ध धातु से लङ् लकार में आथाम् परे रहते

सम्प्रसारण तथा अकार लोप ही निपातन है। इस पक्ष में स्पर्ध को द्वित्व करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। *बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि* (६।४।७५) से इस पक्ष में अट् आगम का अभाव भी हो जायेगा।। शेष पहले के समान ही सिद्धि जानें।। भाषा में द्वित्व सम्प्रसारण तथा अकार लोप निपातन से नहीं होगा, अतः प्रथम पक्ष में 'अस्पर्धेथाम्' और द्वितीय पक्ष में 'अपास्पर्धेथाम्' रूप बनेगा। आनृचुः आनृहुः में अर्च पूजायाम् अर्ह पूजायाम् धातु से लिट् लकार के उस् परे रहते रेफ को सम्प्रसारण तथा अकार लोप निपातन से किया जाता है।। अर्च् लिट् = अर्च् झि = अर्च उस् = ६।१।८ से द्वित्व होकर अर्च् अर्च् उस् = अ अर्च् उस् रहा। *अत आदेः* (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ तथा *तस्मान्नुड् द्विहलः* (७।४।७१) से नुट् आगम होकर आ नुट् अर्च् उस् = आन् अर्च् उस् रहा। निपातन से अर्च् के अ का लोप तथा सम्प्रसारण होकर आन् ऋच् उस् = आनृचुः बन गया। इसी प्रकार आनृहुः में जानें।। भाषा में सम्प्रसारण तथा अकारलोप नहीं होगा तो आनर्चुः आनर्हुः बनेगा।।

चिच्युषे में च्युङ् गतौ धातु से लिट् लकार के 'से' (*थासः से*) परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण तथा अनिट्त्व निपातन किया जाता है।। च्यु च्यु से = निपातन से सम्प्रसारण होकर च् इ उ च्यु से = चि च्यु से = चिच्युषे बन गया। *आर्धधातुकस्येड्०* (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त था निपातन से अनिट्त्व भी कर दिया गया। भाषा में चुच्युविषे बनेगा।।

तित्याज में त्यज हानौ धातु से लिट् के णल् परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण निपातन किया गया है।। भाषा में तत्याज ही बनेगा।। श्राता यहाँ श्रीञ् धातु को निष्ठा (क्त) परे रहते श्रा भाव निपातन है।। श्रातास्त इन्द्रसोमाः।।

श्रितम् यहाँ श्रीञ् धातु को निष्ठा परे रहते ह्रस्वत्व निपातन है। श्रिता नो गृहाः।।

आशीर् में आङ् पूर्वक श्रीञ् धातु को क्विप् परे रहते शीर् आदेश निपातन है। तामाशीरा दुहन्ति।।

आशीर्त्ता यहाँ भी आङ् पूर्वक श्रीञ् धातु को निष्ठा परे रहते शीर् भाव तथा *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से प्राप्त निष्ठा के त को न का अभाव निपातन किया गया है। त्रीरैमैध्यत आशीर्त्तः (ऋ.८।२।९)।।

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ॥६।१।३६॥

न अ० ॥ सम्प्रसारणे ७।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ *अर्थः*—सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—व्यध—विद्धः । व्यच—विचितः । व्येञ्—संवीतः ॥

भाषार्थः—[*सम्प्रसारणे*] सम्प्रसारण परे रहते [*सम्प्रसारणम्*] सम्प्रसारण [*न*] नहीं होता ॥ वाक्य तथा वर्ण दोनों की सम्प्रसारण संज्ञा होती है, यह बात *इग्यणः०* (१।१।४४) सूत्र में कही गई है । जहाँ सम्प्रसारण कहा हो वहाँ यदि दो यण् हों तो दोनों को सम्प्रसारण होना चाहिये पर इष्ट ऐसा है नहीं, अतः सम्प्रसारणसंज्ञक इक् के परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता, अर्थात् पहले पर वाले यण् को इक् होगा उसके परे रहने पर पूर्व को निषेध हो जायेगा । व्यध व्यच आदि में व् य् दोनों सम्प्रसारण भावी यण् थे, सो प्रकृत सूत्र से पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध होता है । पर यण् (य) को सम्प्रसारण ६।१।१६ से हो गया ॥

व्यध क्त = विध् त = *झषस्तथो०* (८।२।४०) लगकर विध् ध् रहा । *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से ध् को द् होकर विद्धः बन गया है ॥

यहाँ से '*न सम्प्रसारणम्*' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी ।

लिटि वयो यः ॥६।१।३७॥

लिटि ७।१॥ वयः ६।१॥ यः ६।१॥ *अनु०*—न सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—लिटि परतो वयो यकारस्य सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—उवाय, ऊयतुः, ऊयुः ॥

भाषार्थः-[*लिटि*] लिट् लकार परे रहते [*वयः*] वय् के [*यः*] यकार को सम्प्रसारण नहीं होता ॥ *लिट्य०*(६।१।१७) *ग्रहिज्या०*(६।१।१६) से सम्प्रसारण प्राप्त था, जिसमें पूर्व सूत्र के ज्ञापन से प्रथम पर यण् को (य् को) सम्प्रसारण प्राप्त हुआ, उसका यह निषेध सूत्र है । यकार को सम्प्रसारण का निषेध

---

१. सम्प्रसारण परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण के निषेध से ज्ञापन होता है कि जहाँ सम्प्रसारणभावी एक से अधिक यण् होते हैं, वहाँ प्रथम पर यण् को सम्प्रसारण होता है ।

हो जाने पर 'व्' को सम्प्रसारण होता है। सिद्धि परि० २।४।४१ में देखें ॥

यहाँ से '*वयो यः*' की अनुवृत्ति ६।१।३८ तक तथा '*लिटि*' की ६।१।३९ तक जायेगी ॥

वश्चास्यान्यतरस्यां किति ॥६।१।३८॥

वः १।१॥ च अ० ॥ अस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ किति ७।१॥ *अनु०*—लिटि वयो यः ॥ *अर्थः*—अस्य वयो यकारस्य किति लिटि परतो विकल्पेन वकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—ऊवतुः, ऊवुः, ऊयतुः, ऊयुः ॥

भाषार्थः—[*अस्य*] इस वय् के यकार को [*किति*] कित् लिट् परे रहते [*वः*] वकारादेश [*च*] भी [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके हो जाता है ॥ *असंयोगाल्लिट् कित्* (१।२।५) से अतुस् उस् कित्वत् हैं ही, सो ऊवतुः ऊवुः ऊयतुः ऊयुः दो रूप बनें ॥ सूत्र में 'अस्य' निर्देश पूर्व सूत्र द्वारा जिस यकार को सम्प्रसारण का निषेध किया है उसका है अतः निषेध किये हुए सम्प्रसारण वाले यकार के स्थान पर होने वाले वकार को भी सम्प्रसारण नहीं होता ॥ सिद्धि परि० २।४।४१ में देख लें ॥

वेञः ॥६।१।३९॥

वेञः ६।१॥ *अनु०*—लिटि, न सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—वेञ् तन्तुसन्ताने, इत्यस्य धातोर्लिटि परतः सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—ववौ, ववतुः, ववुः ॥

भाषार्थः—[*वेञः*] वेञ् धातु को लिट् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता ॥ *वचिस्वपियजा०* (६।१।१५) से कित् परे रहते सम्प्रसारण प्राप्त था, तथा पित् स्थानी णल् थल् में भी *लिट्यभ्यासस्यो०* (६।१।१७) से सम्प्रसारण प्राप्त था, उन दोनों का यह निषेध सूत्र है ॥

यहाँ से '*वेञः*' की अनुवृत्ति ६।१।४० तक जायेगी ॥

ल्यपि च ॥६।१।४०॥

ल्यपि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—वेञः, न सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—ल्यपि च परतो वेञः सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—प्रवाय, उपवाय ॥

भाषार्थः—[*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते [*च*] भी वेञ् को सम्प्रसारण नहीं होता ॥ स्थानिवत् से ल्यप् कित् माना गया, सो कित् परे होने से

वचिस्वपियजा० (६।१।१५) से सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका निषेध हो गया । *आदेच उप०* (६।१।४४) से वेञ् को आत्व हो ही जायेगा ॥

यहाँ से *'ल्यपि'* की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी ॥

ज्यश्च ॥६।१।४१॥

ज्यः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ल्यपि, न सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—ज्याधातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—प्रज्याय, उपज्याय ॥

भाषार्थः—ल्यप् परे रहते [*ज्यः*] ज्या धातु को [च] भी सम्प्रसारण नहीं होता ॥ *ग्रहिज्या०* (६।१।१६) से सम्प्रसारण प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥

व्यश्च ॥६।१।४२॥

व्यः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ल्यपि, न सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—व्येञ्धातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—प्रव्याय ॥

भाषार्थः—[*व्यः*] व्येञ् धातु को [च] भी ल्यप् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता ॥ व्येञ् को आत्व ६।१।४४ से हो ही जायेगा ॥ पूर्ववत् सम्प्रसारण प्राप्त था निषेध कर दिया ॥

यहाँ से *'व्यः'* की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी ॥

विभाषा परेः ॥६।१।४३॥

विभाषा १।१॥ परेः ५।१॥ *अनु०*—व्यः, ल्यपि, न सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—परेरुत्तरस्य व्येञ्धातोर्ल्यपि परतो विभाषा सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—परिवीय यूपम् । पक्षे—परिव्याय ॥

भाषार्थः—[*परेः*] परि उपसर्ग से उत्तर व्येञ् धातु को [*विभाषा*] विकल्प करके सम्प्रसारण नहीं होता ॥ परि व्या ल्यप् = *न सम्प्रसारणे०* (६।१।३६) के नियम से 'य्' को सम्प्रसारण ६।१।१५ से हुआ । परि व् इ आ य = परिविय = *हलः* (६।४।२) से दीर्घ होकर परिवीय बन गया ॥

[*आत्वप्रकरणम्*]

आदेच उपदेशेऽशिति ॥६।१।४४॥

आत् १।१॥ एचः ६।१॥ उपदेशे ७।१॥ अशिति ७।१॥ *स०*—श् इत् यस्य स शित्, न शित् अशित् तस्मिन्‌ ..... बहुव्रीहिगर्भनञ्-तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—उपदेशावस्थायां य एजन्तो धातुस्तस्याकारादेशो भवति शिति प्रत्यये परतस्तु न भवति । *उदा०*—ग्लै—ग्लाता, ग्लातुम्, ग्लातव्यम् । शो—निशाता, निशातुम्, निशातव्यम् ॥

भाषार्थः—[*उपदेशे*] उपदेश अवस्था में जो [*एचः*] एजन्त धातु उसको [*आत्*] आकारादेश हो जाता है, [*अशिति*] शित् प्रत्यय परे हो तो नहीं होता ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्तिम अल् एच् को ही आत्व होता है ॥ यहाँ *लिटि धातो०* (६।१।८) से धातोः की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुति से जाननी चाहिये ॥

यहाँ से '*आदेचः*' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक तथा '*उपदेशे*' की ६।१।६३ तक जायेगी ॥

न व्यो लिटि ॥६।१।४५॥

न अ० ॥ व्यः ६।१॥ लिटि ७।१॥ *अनु०*—आदेच उपदेशे ॥ *अर्थः*—व्येञ्धातोरेचः स्थाने लिटि परत आकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—संविव्याय, संविव्ययिथ ॥

भाषार्थः—उपदेश में एजन्त जो [*व्यः*] व्येञ् धातु उसको [*लिटि*] लिट् परे रहते आकारादेश [*न*] नहीं होता ॥ पूर्ववत् द्वित्वादि होकर 'व्ये व्ये णल्' रहा । *लिट्यभ्यासस्यो०* (६।१।१७) एवं *न सम्प्रसारणे०* (६।१।३६) के नियम से अभ्यास के पर यण् य् को सम्प्रसारण होकर 'वि व्ये अ' रहा । णल् को मानकर ए को ऐ वृद्धि तथा आयादेश होकर संविव्याय बना । संविव्ययिथ में *इडत्यर्त्तिव्ययतीनाम्* (७।२।६६) से इट् आगम हो जाता है ॥

स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि ॥६।१।४६॥

स्फुरतिस्फुलत्योः ६।२॥ घञि ७।१॥ *स०*—स्फुरति० इत्यत्रेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदेचः ॥ *अर्थः*—स्फुर स्फुल संचलने इत्येतयोः धात्वो-

रेचः स्थान आकारादेशो भवति घञि परतः ॥ उदा०—विस्फारः विस्फालः । विष्फारः विष्फालः ॥

भाषार्थः—[*स्फुरतिस्फुलत्योः*] स्फुर तथा स्फुल धातुओं के एच् के स्थान में [*घञि*] घञ् परे रहते आकारादेश हो जाता है ॥ स्फुर स्फुल को गुण कर लेने पर जो एच् होता है उसको आत्व इस सूत्र से होता है क्योंकि उपदेशावस्था में तो एच् है नहीं, अतः उपदेश की अनुवृत्ति यहाँ एवं इसी प्रकार अन्यत्र जहाँ उपदेश में एच् न हो सम्बद्ध नहीं होती। उदाहरणों में विकल्प से षत्व *स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः* (८।३।७६) से होता है ॥

क्रीङ्जीनां णौ ॥६।१।४७॥

क्रीङ्जीनाम् ६।३॥ णौ ७।१॥ *स०*-क्री च इङ् च जिश्च क्रीङ्जयस्तेषां इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदेचः ॥ *अर्थः*—डुक्रीञ् इङ् जि इत्येतेषां धातूनामेचः स्थान आकारादेशो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—क्रापयति अध्यापयति, जापयति ॥

भाषार्थः—[*क्रीङ्जीनाम्*] डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये, इङ् अध्ययने, जि जये इन धातुओं के एच् के स्थान में [*णौ*] णिच् परे रहते आकारादेश हो जाता है ॥ भाग १ परि० ३।३।१६६ के अध्यापय के समान ही अध्यापयति की सिद्धि में 'अध्यापि' धातु बनाकर शप् तिप् लाकर सिद्धि जानें ॥ शेष क्री तथा जि को भी गुण होकर प्रकृत सूत्र से आत्व करके पुक् आगम करके पूर्ववत् सिद्धि जानें ॥

यहाँ से '*णौ*' की अनुवृत्ति ६।१।४८ तक जायेगी ॥

सिध्यतेरपारलौकिके ॥६।१।४८॥

सिध्यतेः ६।१॥ अपारलौकिके ७।१॥ परलोकः प्रयोजनमस्येति पारलौकिकः । *प्रयोजनम्* (५।१।१०८) इति ठञ्, अनुशतिकादित्वाच्च (७।३।२०) उभयपदवृद्धिः ॥ *स०*—अपारलौ० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः । *अनु०*—णौ, आदेचः ॥ *अर्थः*—अपारलौकिकेऽर्थे वर्त्तमानस्य षिधु धातोरेचः स्थाने णौ परत आकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अन्नं साधयति, ग्रामं साधयति ॥

भाषार्थः—[*सिध्यतेः*] 'षिधु हिंसासंराध्योः' धातु यदि [*अपारलौकिके*] अपारलौकिक अर्थ में वर्त्तमान हो तो उसके एच् के स्थान में णिच् परे रहते आकारादेश हो जाता है॥ अन्नं साधयति (अन्न को पकाता है) यहाँ उदाहरणों में परलोक को सिद्ध करना अर्थ नहीं है, अतः आत्व हो गया है। सिध् को सेध् गुण करके आत्व होता है॥

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ॥६।१।४९॥

मीनातिमिनोतिदीङाम् ६।३॥ ल्यपि ७।१॥ च अ०॥ *स०*—मीनातीत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—आदेच उपदेशे॥ *अर्थः*—मीञ् हिंसायाम्, डुमिञ् प्रक्षेपणे, दीङ् क्षये इत्येतेषां धातूनां ल्यपि विषये चकारादेचश्च विषय उपदेश एवाकारादेशो भवति॥ *उदा०*—प्रमाता प्रमातुं प्रमातव्यम्। ल्यपि—प्रमाय। डुमिञ्—निमाता निमातुं निमातव्यम्। ल्यपि—निमाय। दीङ्—उपदाता उपदातुम् उपदातव्यम्। ल्यपि—उपदाय।

भाषार्थः—[*मीनातिमिनोतिदीङाम्*] मीञ् डुमिञ् तथा दीङ् धातुओं को [*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते [च] तथा एच् के विषय में भी उपदेश अवस्था में ही आत्व हो जाता है॥ एच् विषय में ही अर्थात् एच् बनने की सम्भावना होने पर ही आत्व विधान करने से *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्तिम अल् को आत्व एच् बनने से पूर्व ही हो जाता है[1]। तृच् तुमुन् तव्य प्रत्यय के परे रहते गुण सम्भव है, अतः ये एच् विषयक हैं सो इनका विषय उपस्थित होगा यह मानकर पूर्व ही आत्व हो जाता है। ल्यप् स्थानिवत् से कित् है अतः यहाँ गुण सम्भव नहीं सो ल्यप् का पृथक् ग्रहण है॥

यहाँ से '*ल्यपि*' की अनुवृत्ति ६।१।५० तक जायेगी॥

विभाषा लीयतेः ॥६।१।५०॥

विभाषा १।१॥ लीयतेः ६।१॥ *अनु०*—ल्यपि, आदेच उपदेशे॥

---

१. इसका फल यह है कि 'उपदायो वर्तते' में इकारान्तलक्षण (३।३।५६) अच् नहीं होता, घञ् होता है 'ईषदुपदानम्' में *आतो युच्* (३।३।१२८) से आकारान्त लक्षण युच् हो जाता है॥

अर्थः—लीङ् श्लेषणे ली श्लेषणे इति द्वयोरपि ग्रहणम् । लीयतेर्धातोर्ल्यपि च, एचश्च विषय उपदेश एव विभाषाऽऽकारादेशो भवति ॥ उदा०—विलाता, विलातुम्, विलातव्यम् । ल्यपि—विलाय । पक्षे—विलेता, विलेतुम्, विलेतव्यम् । ल्यपि—विलीय ॥

भाषार्थः—लीङ् श्लेषणे तथा ली श्लेषणे दोनों धातुओं का यहाँ ग्रहण है । [*लीयतेः*] ली धातु को ल्यप् परे रहते तथा एच् विषय में [*विभाषा*] विकल्प से उपदेश अवस्था में ही आत्व हो जाता है ॥ पूर्व सूत्र के समान यहाँ भी एच् विषय में *अलोऽन्त्यस्य* से आत्व होगा ऐसा जानें ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।१।५५ तक जायेगी ॥

खिदेश्छन्दसि ॥६।१।५१॥

खिदेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, आदेचः ॥ *अर्थः*—खिद दैन्ये धातोरेचः स्थाने छन्दसि विषये विकल्पेन आकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—चित्तं चखाद, चित्तं चिखेद ॥

भाषार्थः—[*खिदेः*] खिद धातु के एच् के स्थान में [*छन्दसि*] वेद विषय में विकल्प से आत्व होता है ॥ प्रथम खिद धातु को लिट् में गुण होकर प्रकृत सूत्र से आत्व करने पर द्वित्व एवं अभ्यास कार्य करके चखाद बन गया, पक्ष में चिखेद रहा ॥

अपगुरो णमुलि ॥६।१।५२॥

अपगुरः ६।१॥ णमुलि ७।१॥ *स०*—अपात् गुर् अपगुर् तस्मात्... पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—विभाषा, आदेचः ॥ *अर्थः*—अपपूर्वस्य गुरी उद्यमने धातोर्णमुलि परत एचः स्थाने विभाषा आकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अपगारमपगारम् । अपगोरमपगोरम् ॥

भाषार्थः—[*अपगुरः*] अप पूर्वक गुरी उद्यमने धातु के एच् के स्थान में [*णमुलि*] णमुल् परे रहते विकल्प से आत्व हो जाता है ॥ उदाहरण में *आभीक्ष्ण्ये णमुल्च* (३।४।२२) से णमुल् प्रत्यय तथा *आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः* (वा०८।१।१२) वार्त्तिक से 'अपगारम्' को द्वित्व हुआ है ॥

चिस्फुरोर्णौ ॥६।१।५३॥

चिस्फुरोः ६।२॥ णौ ७।१॥ स०—चिश्च स्फुर् च चिस्फुरौ तयोः... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा आदेचः ॥ *अर्थः*—चि स्फुर इत्येतयोः धात्वोरेचः स्थाने णौ परत विकल्पेनाकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—चापयति, चाययति । स्फारयति, स्फोरयति ॥

भाषार्थः—[*चिस्फुरोः*] चि तथा स्फुर धातुओं के एच् के स्थान में [*णौ*] णिच् परे रहते विकल्प से आत्व हो जाता है ॥ आत्व पक्ष में 'चापयति' में *अर्तिह्रीव्ली०* (७।३।३६) से पुक् आगम तथा अनात्व पक्ष में चि को चै वृद्धि एवं आयादेश होकर 'चायि अ ति' रहा । पश्चात् गुण एवं अयादेश होकर चाययति बना ॥

यहाँ से '*णौ*' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक जायेगी ॥

प्रजने वीयतेः ॥६।१।५४॥

प्रजने ७।१॥ वीयतेः ६।१॥ *अनु०*—णौ, विभाषा, आदेचः ॥ *अर्थः*—प्रजनेऽर्थे वर्त्तमानस्य 'वी' इत्यस्य धातोर्णौ परत विकल्पेनाकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पुरो वातो गाः प्रवापयति । प्रवाययति ॥

भाषार्थः—[*प्रजने*] प्रजन अर्थ में वर्त्तमान [*वीयतेः*] वी धातु के एच् के स्थान में विकल्प से आकारादेश हो जाता है, णिच् परे रहते ॥ पूर्ववत् आत्व पक्ष में पुक् आगम तथा अनात्व पक्ष में वृद्धि आदि कार्य जानें ॥ *उदा०*—पुरो वातो गाः प्रवापयति (पूर्व दिशा का वायु गौओं को गर्भ धारण कराता है) । प्रवाययति ॥

बिभेतेर्हेतुभये ॥६।१।५५॥

बिभेतेः ६।१॥ हेतुभये ७।१॥ *स०*—हेतोर्भयम् हेतुभयम्, तस्मिन् पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—णौ, विभाषा, आदेचः ॥ *अर्थः*—हेतुभयेऽर्थे वर्त्तमानस्य 'ञिभी भये' इत्यस्य धातोरेचः स्थाने णौ परतो विकल्पेनाकारादेशो भवति । स्वतन्त्रस्य कर्त्तुः प्रयोजकः (१।४।५५) हेतुरिह गृह्यते ॥ *उदा०*—मुण्डो भापयते, मुण्डो भीषयते । जटिलो भापयते, जटिलो भीषयते ॥

भाषार्थः—स्वतन्त्र कर्त्ता का जो प्रयोजक वह 'हेतु' शब्द से यहाँ लिया गया है, ऐसा साक्षात् हेतु जहाँ भय का कारण बन रहा हो उस

अर्थ में अर्थात् [*हेतुभये*] हेतु से भय अर्थ में वर्त्तमान [*बिभेतेः*] ञिभी धातु के एच् के स्थान में णिच् परे रहते विकल्प से आत्व होता है ॥ भीषयते की सिद्धि भाग १ पृ० ७१५ में देखें। यह अनात्व पक्ष का रूप है, आत्व पक्ष में पुक् आगम होगा, शेष भीषयते के समान जानें ॥

यहाँ से 'हेतुभये' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक जायेगी ॥

नित्यं स्मयतेः ॥६।१।५६॥

नित्यम् १।१॥ स्मयतेः ६।१॥ *अनु०*—हेतुभये, णौ, आदेचः ॥ *अर्थः*—हेतुभयेऽर्थे स्मिङ् ईषद्धसने इत्यस्य धातोरेचः स्थाने णौ परतो नित्यमात्वं भवति ॥ *उदा०*—मुण्डो विस्मापयते, जटिलो विस्मापयते ॥

भाषार्थः—हेतुभय अर्थ में वर्त्तमान [*स्मयतेः*] स्मिङ् धातु के एच् के स्थान में णिच् परे रहते [*नित्यम्*] नित्य ही आत्व हो जाता है ॥ यहाँ भी हेतु शब्द का पूर्ववत् अर्थ समझें ॥ विस्मापयते में *भीस्म्योर्हेतुभये* (१।३।६८) से आत्मनेपद तथा पूर्ववत् पुक् का आगम होता है ॥

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ॥६।१।५७॥

सृजिदृशोः ६।२॥ झलि ७।१॥ अम् १।१॥ अकिति ७।१॥ *स०*—सृजि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। अकितीत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अर्थः*—सृज विसर्गे, दृशिर् प्रेक्षणे, इत्येतयोः धात्वोरमागमो भवति झलादावकिति प्रत्यये परतः॥ *उदा०*—स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्। द्रष्टा, द्रष्टुम्, द्रष्टव्यम् ॥

भाषार्थः—[*सृजिदृशोः*] सृज और दृशिर् धातु को [*अकिति*] कित् भिन्न [*झलि*] झलादि प्रत्यय परे हो तो [*अम्*] अम् आगम होता है ॥ दृश् तृच् यहाँ अम् आगम *मिदचो०* (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे होकर सृ अम् ज् तृ रहा यणादेश तथा *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से षत्व एवं ष्टुत्व होकर 'स्र ष्टृ' रहा। शेष कार्य तृजन्त की सिद्धि के समान होकर स्रष्टा (बनाने वाला) बना। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानें ॥

यहाँ से '*झल्यमकिति*' की अनुवृत्ति ६।१।५८ तक जायेगी ॥

अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ॥६।१।५८॥

अनुदात्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ ऋदुपधस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—ऋकार उपधा यस्य स ऋदुपधस्तस्य...... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—झल्यमकिति, उपदेशे ॥ *अर्थः*—उपदेशेऽनुदात्तस्य ऋकारोपधस्य धातोर्झलादावकिति प्रत्यये परतो विकल्पेनामागमो भवति ॥ *उदा०*—त्रप्ता, तर्पिता, तर्प्ता । द्रप्ता, दर्पिता दर्प्ता ॥

भाषार्थः—उपदेश में जो [*अनुदात्तस्य*] अनुदात्त [*च*] तथा [*ऋदुपधस्य*] ऋकार उपधा वाली धातु उसको अम् आगम [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से अकित् झलादि प्रत्यय परे रहते हो जाता है ॥ तृप दृप धातु को *रधादिभ्यश्च* (७।२।४५) से इट् भी विकल्प से होता है सो पक्ष में तर्पिता, दर्पिता रूप बनेगा। जब अम् आगम होगा तो त्रप्ता द्रप्ता तथा जब पक्ष में अम् तथा इट् नहीं होगा तो गुण होकर तर्प्ता दर्प्ता बनेगा। तृप् दृप् धातुएं ऋकारोपध तथा अनिट् हैं।

शीर्षंश्छन्दसि ॥६।१।५९॥

शीर्षन् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अर्थः*—शीर्षन् इति निपात्यते छन्दसि विषये। न पुनरयमादेशः शिरःशब्दस्य, किन्तु शिरःशब्देन समानार्थको भिन्नोऽयं शब्दः ॥[1] *उदा०*—शीर्ष्णा हि तत्र सोमं क्रीतं हरन्ति। यत्ते शीर्ष्णो दौर्भाग्यम् ॥

भाषार्थः—[*शीर्षन्*] शीर्षन् शब्द [*छन्दसि*] वेद विषय में निपातन किया जाता है ॥ शिरस् शब्द का पर्यायवाची यह शीर्षन् शब्द पृथक् निपातित है, न कि शिरस् को शीर्षन् आदेश निपातित किया है ॥ शीर्ष्णा यह तृतीयान्त तथा शीर्ष्णः षष्ठ्यन्त का रूप है। *अल्लोपोऽनः* (६।४।१३४) से यहाँ अकार लोप हुआ है ॥

यहाँ से '*शीर्षन्*' की अनुवृत्ति ६।१।६० तक जायेगी ॥

ये च तद्धिते ॥६।१।६०॥

ये ७।१॥ च अ० ॥ तद्धिते ७।१॥ *अनु०*—शीर्षन् ॥ *अर्थः*—यका-

---

१. आदेशनिपातने वेदे शिरसः प्रयोगो न स्यात्। दृश्यते च तस्यापि प्रयोग इति कृत्वा प्रकृत्यन्तरं निपात्यते।

रादौ तद्धिते परतः शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशो भवति । आदेशोऽयमिष्यते शिरःशब्दस्य[1] ॥ उदा०—शीर्षण्यो हि मुख्यो भवति । शीर्षण्यः स्वरः ॥

भाषार्थः—[*ये*] यकारादि [*तद्धिते*] तद्धिते के परे रहते [*च*] भी शिरस् को शीर्षन् आदेश हो जाता है ॥ इस सूत्र में शीर्षन् भिन्न शब्द इष्ट नहीं किन्तु शिरस् को शीर्षन् आदेश इष्ट है ॥ शिरसि भवः शीर्षण्यः यहाँ *शरीरावयवाच्च* (४।३।५५) से यत् तद्धित प्रत्यय हुआ है । *नस्तद्धिते* से यहाँ टिलोप *ये चाभावकर्मणोः* (६।४।१६८) से प्रकृतिभाव होने के कारण नहीं होता ॥

पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छ-स्प्रभृतिषु ॥६।१।६१॥

पद्दन्नो······सन् , सर्वे पृथक् पृथक् लुप्तप्रथमान्तनिर्दिष्टाः ॥ शस्प्रभृतिषु ७।३॥ *स०*—शस् प्रभृतयः = प्रकाराः येषां ते शस्प्रभृतयस्तेषु··· बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—मण्डूकप्लुतगत्या 'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते ॥ *अर्थः*—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज् , यूष, दोष, यकृत् , शकृत् उदक आस्य इत्येतेषां स्थाने यथासङ्ख्यं पद् , दत् , नस् , मास् , हृत् , निश् , असन् , यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन् इत्येते आदेशा भवन्ति, छन्दसि विषये शस्प्रभृतिषु प्रत्ययेषु परतः ॥ आदेशानुरूपप्रकृत्याक्षेपात् स्थानिनः परिज्ञानं भवति ॥ *उदा०*—पद्—निपद्श्चतुरो जहि । पदा वर्त्तय गोदुहम् । दत्—या दतो धावति तस्यै श्यावदन् । नस्—सूकरस्त्वखनन्नसा । मास्—मासि त्वा पश्यामि चक्षुषा । हृत—हृदा पूतेन मनसा जातवेदसम् । निश्—अमावास्यायां निशि यजेत । असन्—असिक्तोऽस्नावरोहति । यूषन्—या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि । दोषन्—यत्ते दोष्णो दौर्भाग्यम् । यकन्—यक्नोऽवद्यति । शकन्—शक्नोऽवद्यति । उदन्—उद्नो दिव्यस्य नावा ते । आस्य—आसनि किं लभे मधूनि ॥

भाषार्थः—यहाँ स्थानी का निर्देश नहीं किया गया, केवल आदेश गिनाये हैं, सो अर्थ के अनुसार आदेश के अनुरूप स्थानी का आक्षेप कर

१. आदेशविधानाद् 'शिरस्यः' इति प्रयोगो न भवति । केशेषु तु 'वा केशेषु' इति वार्त्तिकेन शीर्षण्यः शिरस्य इत्युभयं भवति ।

लिया जायेगा, अतः सूत्रार्थ होगा—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य इन के स्थान में यथासङ्ख्य करके [पद्दन्नो...सन्] पद्, दत्, नस्, मास्, हृत्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन्, ये आदेश [शस्प्रभृतिषु] शस् प्रकार वाले अर्थात् शस् से आगे के प्रत्ययों के परे रहते वेद विषय में हो जाते हैं॥ यूष्णः, दोष्णः, यक्नः शक्नः उद्नः ये षष्ठ्यन्त पद हैं, *अल्लोपोनः* (६।४।१३४)से यहाँ अकार लोप हुआ है। णत्वादि कार्य पूर्ववत् जान लें। अस्ना (३।१) यहाँ *अल्लोपोनः* से लोप जानें। आसनि (७।१) यहाँ *विभाषा ङिश्योः* (६।४।१३६) से पक्ष में अकार लोप नहीं हुआ है। शेष पद षष्ठ्यन्त तृतीयान्त एवं सप्तम्यन्त हैं, सो सुस्पष्ट ही हैं॥

धात्वादेः षः सः ॥६।१।६२॥

धात्वादेः ६।१॥ षः ६।१॥ सः १।१॥ *स०*—धातोरादिः धात्वादिस्तस्य... षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—उपदेशे॥ *अर्थः*—धात्वादेः षकारस्य स्थाने उपदेशावस्थायां सकारादेशो भवति॥ *उदा०*—षह—सहते। षिच—सिञ्चति॥

भाषार्थः—[*धात्वादेः*] धातु के आदि के [*षः*] षकार के स्थान में उपदेश अवस्था में [*सः*] सकार आदेश होता है॥ सिञ्चति में *शे मुचादीनाम्* (७।१।५९) से नुम् आगम होता है, पश्चात् श्चुत्व होकर सिञ्चति बनता है॥

यहाँ से '*धात्वादेः*' की अनुवृत्ति ६।१।६३ तक जायेगी॥

णो नः ॥६।१।६३॥

णः ६।१॥ नः १।१॥ *अनु०*—धात्वादेः उपदेशे॥ *अर्थः*—धात्वादेर्णकारस्य स्थाने उपदेशावस्थायां नकार आदेशो भवति॥ *उदा०*—णीञ्—नयति। णम—नमति। णह—नह्यति।

भाषार्थः—धातु के आदि के [*णः*] णकार के स्थान में उपदेश में [*नः*] नकार आदेश होता है॥ णह दिवादिगण की धातु है॥

लोपो व्योर्वलि ॥६।१।६४॥

लोपः १।१॥ व्योः ६।२॥ वलि ७।१॥ *स०*—वश्च यश्च व्यौ तयोः...

इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—वकारयकारयोर्लोपो भवति वलि परतः ॥ उदा०—दिव्—दिदिवान् दिदिवांसौ दिदिवांसः । ऊयी–ऊतम् । क्नूयी—क्नूतम् । गौधेरः । पचेरन् यजेरन् । जीरदानुः । आस्रेमाणम् ॥

भाषार्थः—[*व्योः*] वकार और यकार का [*वलि*] वल् परे रहते [*लोपः*] लोप होता है ॥ दिदिवान् क्वसु का रूप है सो वस् के परे रहते दिव् के वकार का लोप हो जायेगा । तथा *सान्तमहतः संयोगस्य* (६।४।१०) से दीर्घ होगा । शेष सिद्धि क्तवतु प्रत्ययान्त के समान जानें । क्त के परे ऊयी क्नूयी के यकार का लोप होता है । गौधेरः पचेरन् जीरदानुः आस्रेमाणम् की सिद्धियां भाग १ पृ. ७५३—५४ में देखें ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।१।६८ तक जायेगी ॥

वेरपृक्तस्य ॥६।१।६५॥

वेः ६।१॥ अपृक्तस्य ६।१॥ अनु०—लोपः ॥ *अर्थः*—अपृक्तस्य वेः लोपो भवति ॥ उदा०—ब्रह्महा, भ्रूणहा । घृतस्पृक्, तैलस्पृक् । अर्द्धभाक्, पादभाक्, तुरीयभाक् ॥

भाषार्थः—[*अपृक्तस्य*] अपृक्तसंज्ञक [*वेः*] वि का लोप होता है ॥ 'वि' का सामान्यरूप से निर्देश है, अतः क्विप् क्विन् तथा ण्वि आदि सभी का ग्रहण हो जाता है । ब्रह्महा भ्रूणहा में *ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषुक्विप्* (३।२।८७) से क्विप् प्रत्यय जानें, सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें । घृतस्पृक्, तैलस्पृक् अर्द्धभाक् इत्यादि की सिद्धि भाग १ पृ. ७८९–९० में देखें । वि के अनुनासिक इकार का लोप करने पर वह अपृक्तसंज्ञक होता है ।

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ॥६।१।६६॥

हल्ङ्याब्भ्यः ५।३॥ दीर्घात् ५।१॥ सुतिसि १।१॥ अपृक्तम् १।१॥ हल् १।१॥ *स०*—हल् च ङी च आप् च हल्ङ्यापस्तेभ्यः······इतरेतरद्वन्द्वः । सुश्च तिश्च सिश्च सुतिसि, समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लोपः । *अर्थः*—हलन्ताद् ङ्यन्ताद् आबन्ताच्च दीर्घात् परं सु, ति, सि इत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते ॥ *उदा०—हलन्तात् सुलोपः*—राजा, तक्षा उखास्रत्, पर्णध्वत् । *ङ्यन्तात्*—कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी । *आबन्तात्*—खट्वा, बहुराजा, कारीषगन्ध्या । तिलोपः सिलोपश्च हलन्तादेव

तिलोपस्तावत्—अबिभर्भवान्, अजागर्भवान् । सिलोपः—अभिनोऽत्र, अच्छिनोऽत्र ॥

भाषार्थः—[*हल्ङ्याब्भ्यः*] हलन्त ङ्यन्त तथा आबन्त जो [*दीर्घात्*] दीर्घ उनसे उत्तर [*सुतिसि*] सु, ति तथा सि जो [*अपृक्तम्*] अपृक्त [*हल्*] हल् उनका लोप होता है ॥

यहाँ से '*हल्*' की अनुवृत्ति ६।१।६७ तक जायेगी ॥

एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ॥६।१।६७॥

एङ्ह्रस्वात् ५।१॥ सम्बुद्धेः ६।१॥ *स०*—एङ् च ह्रस्वश्च एङ्ह्रस्वं तस्मात्......समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—हल्, लोपः ॥ *अर्थः*—एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्च प्रातिपदिकादुत्तरस्य हल् लुप्यते स चेत् सम्बुद्धेर्भवति ॥ *उदा०*—एङन्तात्—हे अग्ने, हे वायो । ह्रस्वान्तात्—हे देवदत्त, हे नदि, हे वधु, हे कुण्ड ॥

भाषार्थः—[*एङ्ह्रस्वात्*] एङन्त प्रातिपदिक से उत्तर तथा ह्रस्वान्त से उत्तर हल् का लोप होता है, यदि वह हल् [*सम्बुद्धेः*] सम्बुद्धि का हो तो ॥

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।६८॥

शेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—लोपः ॥ *अर्थः*—शि इत्येतस्य बहुलं छन्दसि विषये लोपो भवति ॥ *उदा०*—या क्षेत्रा, या वना । यानि क्षेत्राणि, यानि वनानि ॥

भाषार्थः—[*शेः*] शि का [*बहुलम्*] बहुल करके [*छन्दसि*] वेद विषय में लोप हो जाता है ॥ *जश्शसोः शिः* (७।१।२०) से जो शि होता है उसका यहाँ लोप विधान है । लोप करने के पश्चात् प्रत्ययलक्षण से *नपुंसकस्य झलचः* (७।१।७२) से नुम् होकर तथा *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) से दीर्घ होकर 'या न्' रहा । पश्चात् *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप होकर 'या' बना । बहुल कहने से जिस पक्ष में शि लोप नहीं होगा तो पूर्ववत् *त्यदादीनामः* (७।२।१०२) आदि लगकर 'यानि' बना ॥

[*तुक्प्रकरणम्*]

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥६।१।६९॥

ह्रस्वस्य ६।१॥ पिति ७।१॥ कृति ७।१॥ तुक् १।१॥ *अर्थः*—पिति

कृति परतो ह्रस्वस्य तुगागमो भवति ॥ उदा०—अग्निचित्, सोमसुत्। प्रकृत्य, प्रहृत्य, उपस्तुत्य ॥

भाषार्थः—[*ह्रस्वस्य*] ह्रस्व को [*पिति कृति*] पित् कृत् परे रहते [तुक्] तुक् आगम होता है॥ भाग १ पृ० ७५६ में अग्निचित् सोमसुत् की सिद्धि देखें, तथा भाग १ पृ० ७२६ में प्रकृत्य आदि की सिद्धि देखें॥

यहाँ से '*ह्रस्वस्य*' की अनुवृत्ति ६।१।७१ तक तथा 'तुक्' की ६।१।७३ तक जायेगी॥

संहितायाम् ॥६।१।७०॥

संहितायाम् ७।१॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयमनुदात्तं पदमेकवर्जमिति यावत्, प्रागेस्तस्मात् सूत्राद् यद् वक्ष्यति तत् संहितायामित्येवं वेदितव्यम्। विषयसप्तमीयम्॥ उदा०—वक्ष्यति इको यणचि—दध्यत्र, मध्वत्र॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, *अनुदात्तं पदमेक०* (६।१।१५२) से पहले २ तक जायेगा, अतः इस सूत्र पर्यन्त जितने कार्य कहे जायेंगे वे सब संहिता के विषय में होंगे। 'संहितायाम्' में विषय सप्तमी है॥ *परः सन्निकर्षः०* (१।४।१०८) से संहिता संज्ञा होती है॥

छे च ॥६।१।७१।

छे ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—संहितायाम्, ह्रस्वस्य तुक्॥ *अर्थः*—छकारे परतः संहितायां विषये ह्रस्वस्य तुगागमो भवति॥ उदा०—इच्छति, गच्छति॥

भाषार्थः—[छे] छकार परे रहते [च] भी ह्रस्व को संहिता के विषय में तुक् का आगम होता है॥ गम् के मकार को *इषुगमि०* (७।३।७७) से छत्व होकर तुक् आगम तथा श्चुत्व होकर गच्छति बनेगा। इसी प्रकार इषु धातु में भी छत्व, तुक् आगम एवं श्चुत्व होकर इच्छति बना है॥

यहाँ से 'छे' की अनुवृत्ति ६।१।७२ तक जायेगी॥

आङ्माङोश्च ॥६।१।७२॥

आङ्माङोः ६।२॥ च अ० ॥ *स०*—आङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छे, संहितायाम्, तुक् ॥ *अर्थः*—आङो माङश्च छकारे परतस्तुगागमो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—ईषच्छाया = आच्छाया । आच्छादयति । आच्छायायाः । आच्छायम् । माच्छैत्सीत् । माच्छिदत् ॥

भाषार्थः—[*आङ्माङोः*] आङ् तथा माङ् को [च] भी छकार परे रहते तुक् आगम होता है, संहिता के विषय में ॥ आङ् के ईषत्, (थोड़ा), क्रियायोग, मर्यादा तथा अभिविधि ये चार अर्थ हैं, तथा माङ् प्रतिषेधवाची है, सो इन अर्थों में तुक् आगम होता है । तुक् करने के पश्चात् श्चुत्व हो ही जायेगा ॥ *उदा०*—आच्छाया (थोड़ी छाया), आच्छादयति (ढकता है), आच्छायायाः (छाया से पूर्व २), आच्छायम् (छाया तक), माच्छैत्सीत् (नहीं काटा) ॥

दीर्घात् पदान्ताद्वा ॥६।१।७३॥

दीर्घात् ५।१॥ पदान्तात् ५।१॥ वा अ० ॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्मात्***षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—छे, संहितायाम्, तुक् ॥ *अर्थः*—दीर्घादुत्तरो यश्छकारस्तस्मिन् पूर्वस्य तस्यैव दीर्घस्य तुगागमो भवति, पदान्ताच्च दीर्घादुत्तरो यश्छकारस्तस्मिन् पूर्वस्य तस्यैव पदान्तस्य दीर्घस्य च विकल्पेन तुगागमो भवति ॥ *उदा०*—दीर्घात्—ह्रीच्छति, म्लेच्छति, अपचाच्छायते, विचाच्छायते । पदान्तात्—कुटीच्छाया, कुटीछाया । कुवलीच्छाया, कुवलीछाया ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ से उत्तर जो छकार है उसके परे रहते पूर्व वाले दीर्घ को नित्य तुक् का आगम होता है, तथा जो [*पदान्तात्*] पदान्त में दीर्घ हो उससे उत्तर छकार परे रहते पूर्व पदान्त दीर्घ को [*वा*] विकल्प से तुक् आगम होता है, संहिता के विषय में, अर्थात् जो अपदान्त में दीर्घ है उसे नित्य तुक् आगम तथा पदान्त दीर्घ को विकल्प से तुक् आगम होता है ॥ ह्रीच्छति आदि अपदान्त दीर्घ हैं, अतः नित्य तुक् हुआ है, तथा कुटीच्छाया पदान्त दीर्घ है, सो विकल्प से तुक् हुआ है ॥

[सन्धिप्रकरणम्]

इको यणचि ॥६।१।७४॥

इकः ६।१॥ यण् १।१॥ अचि ७।१॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इकः स्थाने यणादेशो भवत्यचि परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—दध्यत्र, मध्वत्र, कर्त्रर्थम्, हर्त्रर्थम्, ऌ+आकृतिः = लाकृतिः ॥

भाषार्थः—[इकः] इक् = इ, उ, ऋ, ऌ के स्थान में यथासङ्ख्य करके [*यण्*] य्, र्, ल्, व् आदेश होते हैं [*अचि*] अच् परे रहते संहिता के विषय में ॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ६।१।१२१ तक जायेगी ॥

एचोऽयवायावः ॥६।१।७५॥

एचः ६।१॥ अयवायावः १।३॥ *स०*—अय् च अव् च आय् च आव् च अयवायावः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—एचः स्थाने अय्, अव्, आय्, आव् इत्येते आदेशाः यथासङ्ख्यम् अचि परतो भवन्ति, संहितायां विषये ॥ *उदा०*—चयनम्, लवनम्, चायकः, लावकः ॥

भाषार्थः—[*एचः*] एच् = ए, ओ, ऐ, औ के स्थान में क्रमशः [*अयवायावः*] अय्, अव्, आय्, आव् आदेश अच् परे रहते होते हैं संहिता के विषय में ॥ चे अन = चयनम् । लो+अन = लवनम् । चै अक = चायकः । लौ अक = लावकः ॥

यहाँ से '*एचः*' की अनुवृत्ति ६।१।७७ तक जायेगी ॥

वान्तो यि प्रत्यये ॥६।१।७६॥

वान्तः १।१॥ यि ७।१॥ प्रत्यये ७।१॥ *स०*—वकारोऽन्ते यस्य स वान्तः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—एचः, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—यकारादौ प्रत्यये परतः संहितायां विषय एचः स्थाने वान्तादेशो भवति ॥ *उदा०*—बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्पासः, नाव्यो ह्रदः ॥

भाषार्थः—[*यि*] यकारादि [*प्रत्यये*] प्रत्ययों के परे रहते एच् के स्थान में संहिता विषय में [*वान्तः*] वकार अन्त वाले अर्थात् ओकार के स्थान में अव् तथा औकार के स्थान में आव् आदेश होते हैं ॥ अय्,

आय् आदेश यकारान्त हैं, अतः वे नहीं होते ॥ बभ्रु शब्द से *मधुबभ्र्वो०* (४।१।१०६) से यञ् प्रत्यय तथा मण्डु शब्द से *गर्गादिभ्यो०* (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय हुआ है। गुण होकर ओकार को अव् आदेश प्रकृत सूत्र से हुआ है। शङ्कव्यं, पिचव्यः में *उगवादिभ्यो यत्* (५।१।२) से यत् प्रत्यय हुआ है। नौ शब्द से *नौवयोधर्म०* (४।४।९१) से यत् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*वान्तः*' की अनुवृत्ति ६।१।७७ तक तथा '*यि प्रत्यये*' की ६।१।८० तक जायेगी ॥

धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥६।१।७७॥

धातोः ६।१॥ तन्निमित्तस्य ६।१॥ एव अ० ॥ *स०*—स निमित्तं यस्य, स तन्निमित्तस्तस्य······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—वान्तो यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—तन्निमित्तः = यकारादिप्रत्ययनिमित्त एव यो धातोरेच् तस्य यकारादौ प्रत्यये परतो वान्तादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ *उदा०*—लव्यम्, पव्यम्। अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम् ॥

भाषार्थः—[*तन्निमित्तस्य*] तत् निमित्तक अर्थात् यकारादि प्रत्यय निमित्तक [*एव*] ही जो [*धातोः*] धातु का एच् उसको यकारादि प्रत्यय के परे रहते वान्त आदेश संहिता विषय में होता है ॥ लव्यम् में *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् तथा अवश्यलाव्यम् में *ओरावश्यके* (३।१।१२६) से ण्यत् हुआ है ॥

यहाँ से '*धातोः*' की अनुवृत्ति ३।१।८० तक जायेगी ॥

क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ॥६।१।७८॥

क्षय्यजय्यौ १।२॥ शक्यार्थे ७।१॥ *स०*—क्षय्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। शक्यश्चासौ अर्थः शक्यार्थस्तस्मिन्······कर्मधारयः ॥ *अनु०*—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—क्षय्य जय्य इत्येतयोः शब्दयोः क्षि जि इत्येतयोः धात्वोः शक्यार्थे गम्यमाने यति प्रत्यये परतः एकारस्य स्थानेऽयादेशो निपात्यते संहितायां विषये ॥ *उदा०*—शक्यः क्षेतुं क्षय्यः। शक्यो जेतुं जय्यः ॥

भाषार्थः—[*क्षय्यजय्यौ*] क्षय्य जय्य ये शब्द निपातित हैं, अर्थात् क्षि जि धातु से यत् प्रत्यय परे रहते [*शक्यार्थे*] शक्य अर्थ में एकार

के स्थान में अयादेश निपातन है संहिता विषय में ॥ *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् प्रत्यय हुआ है ॥ *उदा०*—क्षय्यः (नष्ट किया जा सकता है), जय्यः (जीता जा सकता है) ॥

क्रय्यस्तदर्थे ॥६।१।७९॥

क्रय्यः १।१॥ तदर्थे ७।१॥ *स०*—तस्य अर्थः, तदर्थस्तस्मिन्‌ ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—क्रय्यः इत्यत्र क्रीणातेर्धातोस्तदर्थे = क्रयार्थेऽभिधेये यति प्रत्यये परतोऽयादेशो निपात्यते संहितायां विषये ॥ *उदा०*—क्रय्यो गौः, क्रय्यः कम्बलः ॥

भाषार्थः—[*क्रय्यः*] क्रय्य शब्द में डुक्रीञ् धातु से [*तदर्थे*] उस अर्थ में अर्थात् क्रयार्थ अभिधेय होने पर यत् प्रत्यय के परे रहते अयादेश निपातित किया जाता है संहिता विषय में ॥ *उदा०*—क्रय्यो गौः (क्रय के लिये जो गौ), क्रय्यः कम्बलः (क्रय के लिये जो कम्बल) ॥ पूर्ववत् यत् प्रत्यय जानें ॥

भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि ॥६।१।८०॥

भय्यप्रवय्ये १।२॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—भय्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ञिभीधातोः प्रपूर्वस्य च वीधातोः यति प्रत्यये परतश्छन्दसि विषयेऽयादेशो निपात्यते संहितायां विषये ॥ *उदा०*—भय्यं किलासीत्, वत्सतरी प्रवय्या ॥

भाषार्थः—[*भय्यप्रवय्ये*] भय्य तथा प्रवय्य शब्द [*च*] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में निपातन किये जाते हैं। ञिभी धातु से तथा प्रपूर्वक वी धातु से यत् प्रत्यय परे रहते अयादेश निपातित है संहिता विषय में। भय्यः यहाँ *कृत्यल्यु०* (३।३।११३) से अपादान में यत् प्रत्यय पूर्ववत् जानें। बिभेत्यस्मादिति भय्यम्। प्रवय्या स्त्रीलिङ्ग में ही निपातन है ॥

एकः पूर्वपरयोः ॥६।१।८१॥

एकः १।१॥ पूर्वपरयोः ६।२॥ *स०*—पूर्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्, *ख्यत्यात् परस्य* ... *ऋत उत्* (६।१।१०७) इति यावत्। तत्र पर्यन्तं यद्वक्ष्यति तत्र पूर्वस्य परस्य द्वयोरपि स्थाने

एकादेशो भवतीति वेदितव्यम् ।। वक्ष्यति *आद् गुणः* (६।१।८४) इति तत्राचि पूर्वस्यावर्णाच्च परस्य द्वयोरपि स्थाने गुण एको भवति ।। तद्यथा—खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः ।।

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, *ऋत उत्* (६।१।१०७) तक जायेगा। यहाँ से आगे ६।१।१०७ तक जो भी कहेंगे, उस विषय में [*पूर्वपरयोः*] पूर्व और पर दोनों के स्थान में [*एकः*] एक आदेश होगा, ऐसा जानना चाहिये ।। जैसे कि *आद् गुणः* आगे कहेंगे सो वहाँ अच् से पूर्व अवर्ण तथा अवर्ण से उत्तर अच् दोनों के स्थान में गुण एकादेश होता है ।।

अन्तादिवच्च ।।६।१।८२।।

अन्तादिवत् अ० ।। च अ० ।। *स०*—अन्तश्च आदिश्च अन्तादी, इतरेतरद्वन्द्वः । ताभ्यां तुल्यमन्तादिवत् *तेन तुल्यं०* (५।१।११४) इति वतिप्रत्ययः ।। *अनु०* एकः पूर्वपरयोः ।। *अर्थः*—अतिदेशोऽयम् । एकः पूर्वपरयोरिति योऽयमेकादेशो विधीयते स एकादेशः पूर्वस्यान्तवद्भवति परस्य चादिवद् भवति ।। *उदा०*—ब्रह्मबन्धूः, वृक्षौ ।।

भाषार्थः—*एकः पूर्वपरयोः* के अधिकार में जो पूर्व पर को एकादेश कहा है वह एकादेश पूर्व से कार्य पड़ने पर पूर्व के [*अन्तादिवत्*] अन्त के समान माना जाये [*च*] तथा पर से कार्य पड़ने पर, पर के आदि के समान माना जाये ।। यह अतिदेश सूत्र है ।। 'ब्रह्मबन्धूः' यहाँ ब्रह्मबन्धु + ऊङ् (४।१।६६) ऐसी स्थिति में 'उ' तथा 'ऊ' दोनों के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ है । अब यहाँ 'ब्रह्मबन्धु' की तो प्रातिपदिक (१।२।४५) संज्ञा है तथा ऊङ् अप्रातिपदिक (प्रत्यय) है । इन दोनों अर्थात् प्रातिपदिक का अवयव उकार तथा अप्रातिपदिक ऊकार के स्थान में हुआ दीर्घ एकादेश प्रातिपदिक का अवयव कैसे माना जाये ? अतः प्रकृत सूत्र से दीर्घ एकादेश को पूर्व का अन्त अर्थात् प्रातिपदिक का अन्तवत् मानकर स्वाद्युत्पत्ति हुई । वृक्षौ यहाँ भी वृक्ष का अकार असुप् है तथा औ सुप् है । इन दोनों असुप् अकार तथा सुप् औकार के स्थानमें हुआ एकादेश (६।१।८५) 'औ' प्रकृत सूत्र से सुप् (औकार का) आदिवत् माना गया, जिससे *सुप्तिङन्तं पदम्* (१।४।१४) से सुबन्त मानकर पद संज्ञा हो गई ।।

दो स्थानियों के स्थान में एक आदेश *एकः पूर्वपरयोः* के अधिकार में होता है, सो वह पूर्व स्थानी के अन्त के समान माना जावे या पर के आदि के समान माना जावे इसलिये यह सूत्र बनाया है ॥

षत्वतुकोरसिद्धः ॥६।१।८३॥

षत्वतुकोः ७।२॥ असिद्धः १।१॥ *स०*—षत्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। न सिद्धः, असिद्धः, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—एकः पूर्वपरयोः ॥ *अर्थः*—षत्वे तुकि च कर्त्तव्ये एकादेशोऽसिद्धो भवति, सिद्धकार्यं न करोतीत्यर्थः ॥ *उदा०*—षत्वविधौ—कोऽसिचत्। कोऽस्य, योऽस्य, कोऽस्मै, योऽस्मै। तुग्विधौ—अधीत्य, प्रेत्य ॥

भाषार्थः—[*षत्वतुकोः*] षत्व और तुक् विधि करने में एकादेश [*असिद्धः*] असिद्ध होता है, अर्थात् सिद्ध के समान कार्य नहीं होते ॥ एकादेश को मानकर कोई कार्य प्राप्त हो रहा हो वह न हो, तथा स्थानी को मानकर जो कार्य प्राप्त नहीं हो रहा है वह हो जावे यही असिद्धत्व विधान का प्रयोजन है ॥ किम् शब्द से सु आकर तथा उसे असिचत् परे रहते *अतो रोर०* (६।१।१०९) से उत्व एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर 'को असिचत्' रहा। अब *एङः पदान्तादति* (६।१।१०५) से पूर्वरूप एकादेश होकर कोऽसिचत् बन गया, तब ओकार को *अन्तादिवच्च* से पर (तिङन्त का) का आदिवत् माना गया, अतः इण् ओकार से उत्तर सिच् (धातु) के सकार को *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९) से आदेश का सकार होने से (षिच् के ष को स आदेश *धात्वादेः षः सः* (६।१।६२) से होता है) षत्व पाया, वह षत्वविधि में पूर्वरूप एकादेश के प्रकृत सूत्र से असिद्ध होने से नहीं होता, क्योंकि असिद्ध होने से 'को असिचत्' ऐसा रूप षत्वकार्य करने में दीखेगा, तो इण् ओकार से उत्तर अकार का व्यवधान होने से षत्व नहीं होगा। को अस्य, यो अस्य, को अस्मै, यो अस्मै यहाँ भी पूर्ववत् पूर्वरूप एकादेश करके असिद्ध होने से प्रत्यय के सकार को षत्व नहीं हुआ ऐसा जानें। यहाँ आदेश लक्षण प्रतिषेध कार्य हुआ है ॥ अधीत्य यहाँ 'अधि इण्' को सवर्णदीर्घ हुआ है तथा प्रेत्य में 'प्र इण्' को *आद्गुणः* से गुण एकादेश हुआ है। अब यहाँ क्त्वा को ल्यप् कर देने के पश्चात् *ह्रस्वस्य पिति०* (६।१।६९) से तुक् आगम नहीं होता,

क्योंकि ह्रस्व से उत्तर पित् कृत् नहीं है, तब प्रकृत सूत्र से एकादेश तुक् विधि में असिद्ध माना गया तो 'अधि इ य, प्र इ य' ऐसा ही रूप तुक् करने में समझा गया। अतः ह्रस्व मिल जाने से ल्यप् को तुक् आगम हो गया। यहाँ स्थानीलक्षण कार्य हुआ है।

आद् गुणः ॥६।१।८४॥

आत् ५।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अचि पूर्वो योऽवर्णः, अवर्णाच्च परो योऽच् तयोः द्वयोः पूर्वपरयोः स्थान एको गुणादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—तव + इदम् = तवेदम्। खट्वा + इन्द्रः = खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः। तव + ईहते = तवेहते, खट्वेहते। तव + उदकं = तवोदकम्, खट्वोदकम्। तव + ऋश्यः = तवर्श्यः, खट्वर्श्यः। तवल्कारः, खट्वल्कारः ॥

भाषार्थः—[*आत्*] अवर्ण से उत्तर जो अच् तथा अच् परे रहते जो पूर्व अवर्ण इन दोनों पूर्वपर के स्थान में अर्थात् अवर्ण और अच् के स्थान में [*गुणः*] गुण एकादेश होता है संहिता विषय में ॥ खट्वल्कारः तवल्कारः में *लृकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि* (*महाभा०* १।१।६) इस भाष्य-वचन से लृ के स्थान में लपर आदेश होता है। यहाँ आत् पञ्चमी और अचि सप्तमी है। *तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य* (१।१।६५) के नियम से अच् से पूर्व जो आत् वह षष्ठी विभक्ति में परिणत हो जाता है और आत् में जो पञ्चमी है वह *तस्मादित्युत्तरस्य* (१।१।६६) के नियम से अचि को षष्ठी रूप में बदल देता है। यद्यपि *विप्रतिषेधे परं०* (१।४।२) के नियम से *तस्मादित्युत्तरस्य* (१।१।६६) का नियम बलवान् होना चाहिए परन्तु यहाँ 'पूर्वपरयोः' की अनुवृत्ति होने से दोनों के स्थान में आदेश होता है।

यहाँ से '*आत्*' की अनुवृत्ति ६।१।६३ तक जायेगी ॥

वृद्धिरेचि ॥६।१।८५॥

वृद्धिः १।१॥ एचि ७।१॥ अनु०—आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अवर्णात् परो य एच् एचि च परतो योऽवर्णस्तयोः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ पूर्वस्यापवादोऽयम् ॥ *उदा०*—ब्रह्म + एडका = ब्रह्मैडका, खट्वैडका। ब्रह्म +

ऐतिकायनः = ब्रह्मैतिकायनः, खट्वैतिकायनः। ब्रह्म + ओदनः = ब्रह्मौदनः, खट्वौदनः। ब्रह्म + औपगवः = ब्रह्मौपगवः, खट्वौपगवः ॥

भाषार्थः—अवर्ण से उत्तर जो एच् तथा [*एचि*] एच् परे रहते जो अवर्ण इन दोनों पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण तथा एच् के स्थान में [*वृद्धिः*] वृद्धि एकादेश होता है संहिता के विषय में ॥ पूर्व सूत्र से अच् परे रहते गुण एकादेश प्राप्त था, यहाँ एच् परे रहते तदपवाद वृद्धि एकादेश का विधान है ॥

यहाँ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति ६।१।८९ तक तथा 'एचि' की अनुवृत्ति ६।१।८६ तक जायेगी ॥

एत्येधत्यूठ्सु ॥६।१।८६॥

एत्येधत्यूठ्सु ७।३॥ *स०*—एतिश्च एधतिश्च ऊठ् च एत्येधत्यूठस्तेषु ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वृद्धिरेचि, अचि, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अवर्णात् परो य इण् गतौ इत्येतस्य एच्, एध वृद्धौ, ऊठ् इत्येतयोश्च योऽच्, इत्येतेषां पूर्वो योऽवर्णस्तयोः पूर्वपरयोरवर्णाचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ *उदा०*—उपैति, उपैषि, उपैमि। उपैधते, प्रैधते। प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा, प्रष्ठौहे ॥

भाषार्थः—यहाँ 'एच्' इण् धातु का ही विशेषण बन सकता है, क्योंकि 'एध' धातु तो सर्वदा एच् आदि वाला ही है, तथा ऊठ् एच् आदि वाला हो ही नहीं सकता ॥

[*एत्येधत्यूठ्सु*] इण् गतौ धातु के एच् से पूर्व तथा 'एध्' एवं ऊठ् के अच् से पूर्व जो अवर्ण तथा उस अवर्ण से उत्तर जो इण् का एच् एवं एध तथा ऊठ् का अच् इन दोनों के पूर्व पर के स्थान में संहिता के विषय में वृद्धि एकादेश होता है ॥ इण् धातु गुण करने पर एजादि हो जाता है ॥ ऊठ् परे रहते *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण प्राप्त है, तथा एति एधति परे रहते *एङि पररूपम्* (६।१।९१) से पररूप प्राप्त है, यह सूत्र इन दोनों का अपवाद है ॥ उप + एति = उपैति। उप + एधते = उपैधते। प्रष्ठौहः यहाँ प्रष्ठ उपपद रहते 'वह' धातु से *वहश्च* (३।२।६४) से ण्वि प्रत्यय हुआ है। वह् को वाह् वृद्धि तथा ण्वि का सर्वापहारी लोप होकर 'प्रष्ठवाह्'

बना। ङस् विभक्ति आकर *वाह ऊठ्* (६।४।१३२) से सम्प्रसारणसंज्ञक ऊठ्, वाह् के यण् के स्थान में अर्थात् व् को होकर 'प्रष्ठ ऊठ् आह् ङस्' *सम्प्रसारणाच्च* लगकर प्रष्ठ ऊह् अस् रहा। अब प्रकृत सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर प्रष्ठौहः बन गया। 'टा' विभक्ति में प्रष्ठौहा तथा 'ङे' में प्रष्ठौहे बनता है॥

आटश्च ॥६।१।८७॥

आटः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—वृद्धिः, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—आटः परो योऽच्, अचि च पूर्वो य आट् तयोः पूर्वपरयोराडचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—ऐक्षिष्ट, ऐक्षत, ऐक्षिष्यत। औभीत्। आर्ध्नोत्। औब्जीत्॥

भाषार्थः—[*आटः*] आट् से उत्तर [च] भी जो अच् तथा अच् से पूर्व जो आट् इन दोनों आट् तथा अच् के (पूर्व पर के) स्थान में वृद्धि एकादेश होता है संहिता के विषय में॥ लुङ् लकार में आट् ईक्ष् इट् सिच् त' रहा। प्रकृत सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर ऐक्षिस्त रहा। षत्व ष्टुत्व होकर ऐक्षिष्ट बन गया। लङ् लकार में आट् ईक्ष् शप् त = ऐक्षत तथा लृङ् में ऐक्षिष्यत जानें। उभ धातु से औभीत्, तथा उब्ज धातु से औब्जीत् की सिद्धि भाग १ परि० १।१।१ में दर्शाई हुई अलावीत् की सिद्धि के समान जानें। ऋधु धातु से लङ् लकार में *स्वादिभ्यः श्नुः* (३।१।७३) से श्नु विकरण करके आर्ध्नोत् की सिद्धि जानें। यहाँ रपरत्व विशेष है। सर्वत्र *आडजादीनाम्* (६।४।७२) से हुये आट् को वृद्धि एकादेश होता है॥

उपसर्गादृति धातौ ॥६।१।८८॥

उपसर्गात् ५।१॥ ऋति ७।१॥ धातौ ७।१॥ *अनु०*—वृद्धिः, आत्, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये॥ *आद् गुणः* इत्यस्यापवादोऽयम्॥ *उदा०*—उप + ऋच्छति = उपार्च्छति। प्र + ऋच्छति = प्रार्च्छति। उप + ऋध्नोति = उपार्ध्नोति॥

भाषार्थः—अवर्णान्त [*उपसर्गात्*] उपसर्ग से परे जो [*ऋति धातौ*] ऋकारादि धातु इन दोनों के पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण एवं धातु के

ऋकार के स्थान में संहिता के विषय में वृद्धि एकादेश होता है ॥ *आद् गुणः* का अपवाद यह सूत्र है। वृद्धि एकादेश करने पर रपरत्व हो ही जायेगा ॥

यहाँ से *'उपसर्गात् धातौ'* की अनुवृत्ति ६।१।६१ तक तथा *'ऋति'* की ६।१।८६ तक जायेगी ॥

वा सुप्यापिशलेः ॥६।१।८९॥

वा अ० ॥ सुपि ७।१॥ आपिशलेः ६।१॥ *अनु०*—उपसर्गादृति धातौ, वृद्धिः, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सुबन्तावयव ऋकारादौ धातौ परतोऽवर्णान्तादुपसर्गात् पूर्वपरयोः स्थाने संहितायां विषये आपिशलेराचार्यस्य मतेन वृद्धिरेकादेशो वा भवति ॥ *उदा०*— उपर्षभीयति, उपार्षभीयति। उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति ॥

भाषार्थः—[*सुपि*] सुबन्त अवयव वाले ऋकारादि धातु के परे रहते अवर्णान्त उपसर्ग से उत्तर पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण एवं ऋकार के स्थान में संहिता विषय में [*आपिशलेः*] आपिशलि आचार्य के मत में [*वा*] विकल्प से वृद्धि एकादेश होता है ॥ पक्ष में *आद् गुणः* से गुण एकादेश होगा ॥ सुबन्त धातु कभी नहीं हो सकता अतः सुबन्तावयव = सुबन्त से बना नामधातु ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये। *ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या* (*वा०* १।१।६) वार्त्तिक से ऋकार लृकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा कही है, अतः ऋकार से लृकार का भी ग्रहण होकर उपल्कारीयति आदि उदाहरण बनेंगे। यहाँ *'लृकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि'* (*महाभा०* १।१।६) इस भाष्य वचन से लृकार को लपर भी हो जाता है ॥ ऋषभमिच्छतीति ऋषभीयति की सिद्धि भाग १ पृष्ठ ८५७ के पुत्रीयति के समान जानें। 'अम्' विभक्ति के बीच में आने से 'ऋषभीय' सुबन्तावयव वाला धातु है, 'उप' अवर्णान्त उपसर्ग से उत्तर वृद्धि एकादेश हो गया है। इसी प्रकार लृकारमिच्छति लृकारीयति में भी जानें ॥

औतोऽम्शसोः ॥६।१।९०॥

आ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ ओतः ५।१॥ अम्शसोः ७।२॥ *स०*—अम्

च शश्च अम्शसौ, तयोः·····इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—ओकारान्ताद् अमि शसि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने आकार एकादेशो भवति संहितायां विषये ।। *उदा०*—गां पश्य, गाः पश्य, द्यां पश्य, द्याः पश्य ।।

भाषार्थः—[*ओतः*] ओकारान्त से [*अम्शसोः*] अम् तथा शस् विभक्ति के परे रहते पूर्व पर के स्थान में अर्थात् ओकार और अम् शस् के अकार के स्थान में [*आ*] आकार एकादेश संहिता विषय में होता है ।। गो अम् = आकार एकादेश होकर गाम् द्याम् बना । शस् में गाः द्याः बन गया ।।

एङि पररूपम् ।।६।१।९१।।

एङि ७।१।। पररूपम् १।१।। *अनु०*—उपसर्गात् धातौ, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—अवर्णान्तादुपसर्गाद् एङादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ।। *उदा०*—उप+एलयति = उपेलयति, प्रेलयति । उप+ओषति = उपोषति, प्रोषति ।।

भाषार्थः—अवर्णान्त उपसर्ग के पश्चात् [*एङि*] एङ् (ए ओ) आदि वाले धातु के परे रहते पूर्व पर के स्थान में [*पररूपम्*] पररूप (अर्थात् पर का जो रूप) एकादेश होता है ।। *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) का यह अपवाद सूत्र है ।। उप एलयति यहाँ पर का रूप 'ए' अर्थात् 'अ' तथा 'ए' को 'ए' ही हो गया । प्रोषति में 'ओ' हो गया ।।

यहाँ से '*पररूपम्*' की अनुवृत्ति ६।१।९६ तक जायेगी ।।

ओमाङोश्च ।।६।१।९२।।

ओमाङोः ७।२।। च अ० ।। *स०*—ओम् च आङ् च ओमाङौ, तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—पररूपम्, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—ओमि आङि च परतोऽवर्णान्तात् पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ।। *उदा०*—कन्या + ओम् = कन्योम् इत्यवोचत् । आ + ऊढा = ओढा, अद्य + ओढा = अद्योढा, कदोढा । तदोढा ।।

भाषार्थः—अवर्ण के पश्चात् [*ओमाङोः*] ओम् तथा आङ् परे रहते [च] भी पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है, संहिता

विषय में ॥ *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) का यह अपवाद सूत्र है ॥ आ + ऊढा यहाँ पहले आङ् के आ तथा ऊढा के ऊ को *आद् गुणः* से गुण एकादेश करके ओढा बनाया । तत्पश्चात् 'आङ् एवं अनाङ् का एकादेश पूर्व का अन्तवत् होकर आङ् के ग्रहण से गृहीत, हो जाता है' इस न्याय से ओढा में आङ् माना गया तो कदा के 'आ' और 'ओढा' के 'ओ' के स्थान में पररूप अर्थात् 'ओ' हो गया ॥

उस्यपदान्तात् ॥६।१।९३॥

उसि ७।१॥ अपदान्तात् ५।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तः, न पदान्तः अपदान्तस्तस्मात् 'पूर्वं षष्ठीतत्पुरुषस्ततो नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पररूपम्, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अपदान्तादवर्णाद् उसि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ आद्गुणापवादः ॥ *उदा०*—भिन्द्या+उस् भिन्द्युः, छिन्द्युः । अदा+उस् = अदुः, अयुः ॥

भाषार्थः—[*अपदान्तात्*] अपदान्त अवर्ण से उत्तर [*उसि*] उस् परे रहते पूर्व पर के (अवर्ण और उस् के उ के) स्थान में पररूप एकादेश होता है, संहिता विषय में ॥ भिदिर् धातु से विधिलिङ् में श्नम् विकरण, यासुट् आगम एवं झि होकर 'भि श्नम् द् यासुट् झि = भिनद् यास् झि' रहा । *झेर्जुस्* (३।४।१०८) से झि को जुस् *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से 'न' के अकार का लोप एवं *लिङः सलोपो०* (७।२।७९) से यासुट् के सकार का लोप होकर 'भिन्द्या उस्' रहा । अब प्रकृत सूत्र से पररूप एकादेश होकर भिन्द्युः बन गया । डुदाञ् धातु से लुङ् में अदुः की सिद्धि, *गातिस्था०* (२।४।७७) से सिच् लुक् एवं *आतः* (३।४।११०) से झि को जुस् होकर जानें । या धातु से लङ् में अयुः बना है । *लङः शाकटाय०* (३।४।१११) से यहाँ झि को जुस् हुआ है ॥ *आद् गुणः* का यह अपवाद सूत्र है ॥

यहाँ से '*अपदान्तात्*' की अनुवृत्ति ६।१।९४ तक जायेगी ॥

अतो गुणे ॥६।१।९४॥

अतः ५।१॥ गुणे ७।१॥ *अनु०*—अपदान्तात्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अपदान्तादकारात् गुणे परतः पूर्वपरयोः स्थाने

पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—पचन्ति, यजन्ति, पठन्ति, पचे, यजे ॥

भाषार्थः—अपदान्त [*अतः*] अकार से उत्तर [*गुणे*] गुण अर्थात् गुणसंज्ञक अ, ए, ओ के परे रहते पूर्व पर के स्थान में संहिता विषय में पररूप एकादेश होता है ॥ पचन्ति यजन्ति की सिद्धि भाग १ पृ० ६७० तथा पचे की पृ० ६७१ में देखें। पचन्ति में *अकः सवर्णे०* (६।१।९७) की प्राप्ति थी तथा पचे में *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) की प्राप्ति थी, तदपवाद यह सूत्र है ॥

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥६।१।९५॥

अव्यक्तानुकरणस्य ६।१॥ अतः ५।१॥ इतौ ७।१॥ *स०*—अव्यक्तस्य अनुकरणम् अव्यक्तानुकरणं, तस्य·····षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अव्यक्तमपरिस्फुटवर्णं, तस्याऽव्यक्तानुकरणस्य योऽच्छब्दस्तस्मादितौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—पटत् + इति = पटिति । घटत् + इति = घटिति । झटत् + इति = झटिति । छमत्+इति = छमिति ॥

भाषार्थः—[*अव्यक्तानुकरणस्य*] अव्यक्त के अनुकरण का जो [*अतः*] 'अत्' शब्द उससे उत्तर [*इतौ*] इति शब्द परे रहते पूर्व 'अत्' तथा पर 'इ' के स्थान में पररूप एकादेश होता है संहिता विषय में ॥ अव्यक्त अपरिस्फुट = अनभिव्यक्त वर्ण को कहते हैं, किन्तु अव्यक्त का जो अनुकरण = प्रतिशब्द, नकल वह परिस्फुट अभिव्यक्त वर्ण वाला होगा, क्योंकि वह अव्यक्त की ध्वनि की सदृशता को लेकर किसी शब्द विशेष से व्यक्त किया जायेगा। यथा वस्त्रादि प्रक्षालन के समय जो पटत् पटत् अव्यक्त वर्ण वाली ध्वनि निकलती है उसका अनुकरण किसी ने सादृश्य से 'पटत्' इस व्यक्त वर्ण से किया ॥ अव्यक्तानुकरण 'पटत्' के पूरे 'अत्' भाग को इति परे रहते पूर्व पर को पररूप प्रकृत सूत्र से हो गया तो पर का रूप पट् इ ति = पटिति झटिति आदि बन गये ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।९६ तक जायेगी ॥

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥६।१।९६॥

न अ० ॥ आम्रेडितस्य ६।१॥ अन्त्यस्य ६।१॥ तु अ० ॥ वा अ० ॥

अनु०—अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—आम्रेडितसंज्ञकस्याव्यक्तानुकरणस्य योऽच्छब्द इतौ परतस्तस्य पररूपं न भवति, परम् इतौ परतस्तस्याम्रेडितस्य योऽन्त्यस्तकारस्तस्य विकल्पेन पररूपमेकादेशो भवति ।। *उदा०*—पटत्पटदिति, पटत्पटेति करोति ।।

भाषार्थः—[*आम्रेडितस्य*] आम्रेडित संज्ञक जो अव्यक्तानुकरण का 'अत्' शब्द उसे 'इति' परे रहते पररूप एकादेश [*न*] नहीं होता, [*तु*] किन्तु जो उस आम्रेडित का [*अन्त्यस्य*] अन्त्य तकार उसको [*वा*] विकल्प से पररूप एकादेश होता है, संहिता विषय में ।। पूर्वसूत्र से 'अत्' शब्द को पररूप प्राप्त था उसका निषेध करके अन्त्य तकार को विकल्प से विधान कर दिया ।। 'पटत् पटत्' ऐसा द्वित्व *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) से होता है। *तस्य परमाम्रेडितम्* (८।१।२) से परवाले पटत् की आम्रेडित संज्ञा हो गई, तो इति परे रहते 'त्' को पररूप कर देने से 'पटत्पट इति' ऐसा रहा। तब *आद् गुणः* (६।१।८४) लग कर पटत्पटेति बन गया ।।

अकः सवर्णे दीर्घः ।।६।१।९७ ।।

अकः ५।१।। सवर्णे ७।१।। दीर्घः १।१।। *अनु०*—अचि, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—अक उत्तरस्य सवर्णेऽचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घ एकादेशो भवति संहितायां विषये ।। *उदा०*—दण्ड + अग्रम् = दण्डाग्रम् दधीन्द्रः, मधूदके, होतृ + ऋश्यः = होतॄश्यः ।।

भाषार्थः—[*अकः*] अक् (प्रत्याहार) से उत्तर [*सवर्णे*] सवर्ण अच् परे हो तो पूर्व और पर के स्थान में [*दीर्घः*] दीर्घ एकादेश संहिता विषय में होता है ।। दण्ड + अग्रम् में दोनों अकार परस्पर सवर्ण हैं सो दीर्घ एकादेश हो गया है। इसी प्रकार औरों में जानें ।।

यहाँ से '*अकः*' की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक तथा '*दीर्घः*' की ६।१।१०२ तक जायेगी ।।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ।।६।१।९८।।

प्रथमयोः ७।२।। पूर्वसवर्णः १।१।। *स०*—पूर्वस्य सवर्णः पूर्वसवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषः ।। *अनु०*—अकः दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, अचि संहितायाम् ।। *अर्थः*—प्रथमायां द्वितीयायां च विभक्तावचि अकः उत्तरस्य

पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो भवति ॥ उदा०—अग्नी, वायू। वृक्षाः, प्लक्षाः। वृक्षान् प्लक्षान् ॥

भाषार्थः—अक् प्रत्याहार के पश्चात् [*प्रथमयोः*] प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के अच् के परे रहते पूर्व पर के स्थान में [*पूर्वसवर्णः*] पूर्व जो वर्ण उसका सवर्ण दीर्घ एकादेश हो जाता है॥ यहाँ '*प्रथमयोः*' द्विवचनान्त कहने से प्रथमा तथा द्वितीया दोनों विभक्ति ले ली जाती हैं। 'अचि' की अनुवृत्ति आने से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के तीनों वचनों में जो अजादि प्रत्यय होगा वहीं यह सूत्र प्रवृत्त होगा॥ 'अग्नि औ' यहाँ पूर्व वर्ण 'इ' है, सो पूर्व पर के स्थान में पूर्व सवर्ण दीर्घ 'ई' एकादेश हो गया। इसी प्रकार 'वायु औ' = वायू में जानें। द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में भी ये ही रूप हैं। जस् विभक्ति परे रहते वृक्षाः तथा शस् में वृक्षान् बनेगा॥

यहाँ से '*पूर्वसवर्णः*' की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक जायेगी॥

तस्माच्छसो नः पुंसि ॥६।१।९९॥

तस्मात् ५।१॥ शसः ६।१॥ नः १।१॥ पुंसि ७।१॥ *अनु०*—पूर्वसवर्णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—तस्मात् पूर्वसवर्णदीर्घादुत्तरस्य शसोऽवयवस्य सकारस्य नकारादेशो भवति पुंसि॥ *उदा०*—वृक्षान्, अग्नीन्, वायून्, कर्तॄन्, षण्डकान्, स्थूरकान्, अररकान्॥

भाषार्थः—[*तस्मात्*] पूर्व सूत्र से दीर्घ किये हुये पूर्वसवर्ण दीर्घ से उत्तर [*शसः*] शस् के अवयव सकार को [*नः*] नकार आदेश [*पुंसि*] पुँल्लिङ्ग में होता है॥ 'शसः' में षष्ठी अवयव सम्बन्ध में होने से सकार के स्थान में नकार होता है॥

नादिचि ॥६।१।१००॥

न अ० ॥ आत् ५।१॥ इचि ७।१॥ *अनु०*—पूर्वसवर्णः, दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अवर्णादुत्तरस्य इचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति॥ उदा०—वृक्षौ, प्लक्षौ। खट्वे, कुण्डे॥

भाषार्थः—[*आत्*] अवर्ण से उत्तर [*इचि*] इच् प्रत्याहार परे रहते पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश [*न*] नहीं होता॥ वृक्ष + औ यहाँ इच् प्रत्याहार 'औ' के परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ का जो कि *प्रथमयोः*

पूर्वसवर्णः से प्राप्त था निषेध होकर वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर वृ बन गया। इसी प्रकार खट्वा औ = खट्वा शी (७।१।१८) = खट्वे जानें ॥

यहाँ से 'इचि' की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक तथा 'न' की ६।१।१ तक जायेगी ॥

दीर्घाज्जसि च ॥६।१।१०१॥

दीर्घात् ५।१॥ जसि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—न इचि, पूर्वसवर्ण दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—दीर्घात् परः जसि इचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो न भवति ॥ उदा०—कुमार्यौ, कुमार्यः । ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्ध्वः ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ वर्ण से उत्तर [*जसि*] जस् तथा [च चकार से इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता ॥ पूर्वस में अवर्ण से उत्तर ही कहा था, यहाँ दीर्घ से उत्तर कहने से दीर्घ 'ईका ऊकार' से उत्तर निषेध हो गया। पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश व निषेध होने पर यणादेश होकर कुमार्यौ इत्यादि रूप बनते हैं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक जायेगी ॥

वा छन्दसि ॥६।१।१०२॥

वा अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—दीर्घाज्जसि च, इचि, पूर्वसवर्णः दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः- दीर्घात् परो जसि इचि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने छन्दसि विषये पूर्वसवर्णदीर्घो वा भवति। उदा०—मारुतीश्चतस्रः । पिण्डीः । मारुत्यश्चतस्रः । पिण्ड्यः । वाराही उपानही । वाराह्यौ, उपानह्यौ ॥

भाषार्थः—दीर्घ से उत्तर जस् तथा इच् प्रत्याहार परे रहते [*छन्दसि*] वेद विषय में पूर्वपर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश [*वा*] विकल्प से होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्यनिषेध प्राप्त था उसका विकल्प करने से यहाँ विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ होता है ॥ मारुतीः, पिण्डीः आदि में जस् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ है, तथा मारुत्यः पिण्ड्यः आदि

में पक्ष में पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं हुआ, सो यणादेश हो गया। 'औ' परे रहते वाराही उपानही के वाराह्यौ उपानह्यौ रूप बने हैं ॥

अमि पूर्वः ॥६।१।१०३॥

अमि ७।१॥ पूर्वः १।१॥ *अनु०*—अकः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अक उत्तरस्यामि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति ॥ *उदा०*—वृक्षम्, प्लक्षम्, अग्निम्, वायुम् ॥

भाषार्थः—अक् प्रत्याहार से उत्तर [*अमि*] अम् विभक्ति परे रहते [*पूर्वः*] पूर्वरूप एकादेश होता है ॥ वृक्ष+अम्, यहाँ पूर्व 'क्ष्' का उत्तरवर्ती 'अ' है सो दोनों के स्थान में पूर्वरूप अकार एकादेश हो गया है। अग्निम् में 'इ' तथा वायुम् में 'उ' है सो इकार उकार एकादेश हुआ है ॥

यहाँ से '*पूर्वः*' की अनुवृत्ति ६।१।१०६ तक जायेगी ॥

सम्प्रसारणाच्च ॥६।१।१०४॥

सम्प्रसारणात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सम्प्रसारणादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—यजि—इष्टम्। वपि—उप्तम्। ग्रहि—गृहीतम् ॥

भाषार्थः—[*सम्प्रसारणात्*] सम्प्रसारण संज्ञक वर्ण से उत्तर अच् परे हो तो [*च*] भी पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में ॥

वाक्य तथा वर्ण दोनों की सम्प्रसारण संज्ञा होने से यहाँ 'सम्प्रसारण संज्ञक वर्ण से उत्तर' यह अर्थ होता है ॥ सिद्धियाँ भाग १ पृ० ७१४ में देखें ॥

एङः पदान्तादति ॥६।१।१०५॥

एङः ५।१॥ पदान्तात् ५।१॥ अति ७।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्मात्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदान्तादेङ उत्तरस्य अति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—अग्नेऽत्र, वायोऽत्र ॥

S.V. College Library, TIRUPATI. Acc. No. 9547 Date.........

भाषार्थः—[*पदान्तात्*] पदान्त में जो [*एङः*] एङ् प्रत्याहार उसके पश्चात् जो [*अति*] अकार उन दोनों पूर्व पर के स्थान में संहिता विषय में पूर्वरूप एकादेश होता है ॥ अग्ने + अत्र = अग्नेऽत्र, वायो + अत्र = वायोऽत्र यहाँ पूर्वरूप एकादेश हो गया है। अकार को पूर्वरू हुआ है, यह दिखाने के लिये 'ऽ' ऐसा चिह्न रखा जाता है ॥[1]

यहाँ से '*एङः, अति*' की अनुवृत्ति ६।१।११८ तक जायेगी ॥

ङसिङसोश्च ६।१।१०६॥

ङसिङसोः ६।२॥ च अ० ॥ *स०*—ङसि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। *अनु०*—एङः अति, पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ए उत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—अग्नेः, वायोः ॥

भाषार्थः—एङ् से उत्तर [*ङसिङसोः*] ङसि तथा ङस् का अका हो तो [*च*] भी पूर्वपर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश संहिता के विषय में होता है ॥ अग्नि + ङसि यहाँ *घेर्ङिति* (७।३।१११) से अग्नि को गुण होकर अग्ने + अस् रहा। अब प्रकृत सूत्र से पूर्वरूप होकर अग्ने बना। ङस् परे रहते भी इसी प्रकार जानें तथा वायु से इसी प्रका वायोः की सिद्धि जानें ॥

यहाँ से '*ङसिङसोः*' की अनुवृत्ति ६।१।१०८ तक जायेगी ॥

ऋत उत् ॥६।१।१०७॥

ऋतः ५।१॥ उत् १।१॥ *अनु०*—ङसिङसोः, अति, एकः पूर्वपरयोः संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तादुत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयो स्थाने उकार एकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—पितुः, होतुः।

भाषार्थः—[*ऋतः*] ऋकार से उत्तर ङसि तथा ङस् का अकार परे हो तो पूर्वपर के स्थान में संहिता के विषय में [*उत्*] उकार एकादेश

---

१. यह साम्प्रतिक व्यवहार है। वैदिक वाङ्मय में जहाँ दो अच् अव्यवहित प्रयुक्त होते हैं, उसे 'विवृत्ति' कहते हैं। ऐसे दो अव्यवहित स्वरों के मध्य में 'ऽ' चिह्न प्रयुक्त होता है। अतः इसका वास्तविक नाम विवृति चिह्न है। यथा—कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय (य० १।१)।

होता है ॥ होतृ + ङसि = होतृ अस् यहाँ ऋकार एवं अकार दोनों के स्थान में उकारादेश करने से उरण् रपरः (१।१।५०) से रपरत्व भी होकर होतु र् स् रहा। रात्सस्य (८।२।२४) से संयोगान्त सकार का लोप होकर होतु र् रहा। रेफ को विसर्जनीय होकर होतुः पितुः बन गया ॥

यहाँ से 'उत्' की अनुवृत्ति ६।१।११० तक जायेगी ॥

ख्यत्यात् परस्य ॥६।१।१०८॥

ख्यत्यात् ५।१॥ परस्य ६।१॥ स०—ख्यश्च त्यश्च ख्यत्यं तस्मात्...... समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्, ङसिङसोः, अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ख्य् त्य् इत्येताभ्यां परस्य ङसिङसोरतः स्थाने उकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—सख्युः। पत्युः ॥

भाषार्थः—[*ख्यत्यात्*] ख्य् और त्य् से [*परस्य*] परे ङसि तथा ङस् के अकार के स्थान में उकार आदेश होता है, संहिता के विषय में ॥ सखि तथा पति शब्द को ङसि एवं ङस् विभक्ति परे रहते यणादेश होकर 'सख्य् अस्, पत्य् अस्' रहा। अब यहाँ ख्य् तथा त्य् से परे अकार को उकार होकर सख्युः, पत्युः बन गया ॥

अतो रोरप्लुतादप्लुते ॥६।१।१०९॥

अतः ५।१॥ रोः ६।१॥ अप्लुतात् ५।१॥ अप्लुते ७।१॥ *स०*—अप्लुतात् अप्लुत, उभयत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—उत्, अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अप्लुतादकारादुत्तरस्याप्लुतेऽति[1] परतः रो रेफस्योकारादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—वृक्षोऽत्र, प्लक्षोऽत्र ॥

भाषार्थः—[*अप्लुतात्*] अप्लुत [*अतः*] अकार से उत्तर [*अप्लुते*] अप्लुत अकार परे रहते [*रोः*] रु के रेफ को उकार आदेश होता है संहिता के विषय में ॥ 'वृक्ष रु अत्र = वृक्ष र् अत्र' यहाँ 'क्ष्' का उत्तरवर्ती

---

१. 'अतः अति' दोनों में तपर होने के कारण ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होगा, प्लुत का हो ही नहीं सकता फिर भी 'अप्लुतात्, अप्लुते' ग्रहण इस लिए है कि अष्टमाध्याय पाद २ सूत्र ८२–१०८ तक जो प्लुत विधान है वह इस प्रकरण के प्रति 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) के नियम से असिद्ध होने पर एकमात्रिक माना जाने पर भी प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति न हो।

'अ' प्लुत भिन्न है, तथा अत्र का 'अ' भी प्लुत भिन्न अकार है, अतः रु के रेफ को उत्व होकर 'वृक्ष उ अत्र' बना। पश्चात् *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण होकर 'वृक्षो अत्र' पश्चात् *एङः पदान्तादति* (६।१।१०५) लगकर वृक्षोऽत्र बन गया ॥

यहाँ से '*अतः रोः*' की अनुवृत्ति ६।१।११० तक जायेगी ॥

हशि च ॥६।१।११०॥

हशि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अतः रोः, उत्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—हशि च परतोऽत उत्तरस्य रोरुकारादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—पुरुषो याति, पुरुषो हसति, पुरुषो वदति ॥

भाषार्थः—[*हशि*] हश् प्रत्याहार परे रहते [*च*] भी अकार से उत्तर रु के रेफ को उकारादेश होता है संहिता के विषय में॥ पूर्व सूत्र से अकार परे रहते ही प्राप्त था, हश् परे रहते भी विधान कर दिया ॥ पुरुष सु = पुरुष रु = पुरुष र् याति, उत्व तथा *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर पुरुषो याति बन गया ॥

प्रकृत्यान्तःपादम् ॥६।१।१११॥

प्रकृत्या ३।१॥ अन्तःपादम् अ० ॥ *स०*—अन्तः = मध्ये पादस्य अन्तःपादम् तस्मिन् अन्तःपादम्, अव्ययीभावः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः (२।१।६) ॥ ततः सप्तम्यामुत्पन्नस्य ङेस्*तृतीयासप्तम्यो०* (२।४।८४) इत्यनेनाम्भावः ॥ अन्तःशब्दोऽव्ययमधिकरणभूतं मध्यममाचष्टे। *अनु०*—एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पादमध्यस्थेऽति परत एङ् प्रकृत्या भवति, संहिताकार्यं न भवतीत्यर्थः ॥ एङ इति यत् पञ्चम्यन्तमनुवर्त्तते तदर्थादिह प्रथमान्तेन विपरिणम्यते ॥ *उदा०*—ते अग्रे अश्वमायुञ्जन्। ते अस्मिन् जवमादधुः। सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० ५।७९।१)। उपप्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० १।७४।१)। शिरो अपश्यम्। अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम् ॥

भाषार्थः—[*अन्तःपादम्*] पाद के मध्य में वर्त्तमान अकार के परे रहते एङ् को [*प्रकृत्या*] प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् जैसा है वैसे ही रहता है सन्धि-कार्य नहीं होते ॥ अन्तः अव्यय शब्द यहाँ मध्यवाची है, *अव्ययं विभक्ति०* (२।१।६) से विभक्त्यर्थ में अन्तःपादम् में समास हुआ

है। समास करने के पश्चात् उत्पन्न सप्तमी विभक्ति के एकवचन को *अव्ययादाप्सुपः* (२।४।८२) से लुक् न होकर *तृतीयासप्तम्यो०*(२।४।८४) से 'अम्' होता है ॥ ऊपर से आ रहा 'एङः' पञ्चम्यन्त पद यहाँ अर्थ के अनुसार प्रथमा विभक्ति में बदल जाता है ॥ उपर्युक्त सारे उदाहरणों में पाद के मध्य में अकार है, अतः 'ते, सुजाते, उपप्रयन्तो' आदि के एङ् को प्रकृतिभाव हो जाता है अर्थात् एङः *पदान्तादति* (६।१।१०५) से प्राप्त पूर्वरूप नहीं होता ॥

विशेषः—यद्यपि इस प्रकरण में 'छन्दसि' का निर्देश नहीं है तथापि इस प्रकरण के अधिकांश सूत्र वेदविषयक ही हैं, क्योंकि लौकिक पादबद्ध पद्यों में यह कार्य नहीं देखा जाता है। सूत्र ६।१।११८ में पठित 'सर्वत्र' पद से भी यही ध्वनित होता है ॥

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक तथा '*अन्तःपादम्*' की ६।१।११२ तक जायेगी ॥

अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ॥६।१।११२॥

अव्या''स्युषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—अव्या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रकृत्या, अन्तःपादम्, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इत्येतेष्वति परतोऽन्तःपादमेङ् प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्। मित्रमहो अवद्यात् (ऋ० ४।४।१५)। मा शिवासो अवक्रमुः (ऋ० ७।३२।२७)। ते नो अव्रताः। शतधारो अयंमणिः। ते नो अवन्तु पितरः। कुशिकासो अवस्यवः (ऋ० ३।४२।९) ॥

यद्यप्यत्र पूर्वसूत्रेणैव प्रकृतिभावः सिद्धस्तथापि 'अव्यात्' आदिषु परतः पुनः प्रकृतिभावविधानाज्ज्ञाप्यते यत् पूर्वसूत्रेऽवकारयकारपरेऽति प्रकृतिभावो विधीयत इति ॥

भाषार्थः—[*अव्या*···*स्युषु*] अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इन शब्दों में जो अकार उसके परे रहते पाद के मध्य में जो एङ् उसको [च] भी प्रकृति भाव हो जाता है, अर्थात् सन्धि नहीं होती ॥

यद्यपि इस सूत्र के उदाहरणों में पूर्वसूत्र से प्रकृतिभाव प्राप्त था पुनरपि इस सूत्र की रचना से ज्ञात होता है कि पूर्वसूत्र में वकार यकार

परे हैं जिस अकार के, उसके परे प्रकृति भाव नहीं होता। सूत्र ६।१।११८ में पठित 'सर्वत्र' पद से भी यह भाव प्रकट होता है एङः पदान्ता० (६।१।१०५) से प्राप्त सन्धि कार्य उदाहरणों में नहीं हुआ है ॥

यजुष्युरः ॥६।१।११३॥

यजुषि ७।१॥ उरः १।१॥ अनु०—प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—यजुषि विषये एङन्त उरः शब्दोऽति परतः प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—उरो अन्तरिक्षम् ॥

भाषार्थः—[यजुषि] यजुर्वेद विषय में [उरः] उरः शब्द जो एङन्त उसे प्रकृतिभाव होता है, अकार परे रहते ॥ 'उरस्' के स् को पहले रुत्व करके पश्चात् *अतो रोरप्लु०* (६।१।१०६) से 'रु' को 'उ' हुआ। तत्पश्चात् *आद् गुणः* (६।१।८४) लगाकर 'उरो' एङन्त बन गया, तब अन्तरिक्षम् का अकार परे रहते प्रकृतिभाव हो गया ॥

यहाँ से 'यजुषि' की अनुवृत्ति ६।१।११७ तक जायेगी ॥

आपोजुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेअम्बेअम्बाले अम्बिकेपूर्वे ॥६।१।११४॥

आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, अम्बे, अम्बाले इत्येतान्यनुकरणपदान्यविभक्त्यन्तानि। अम्बिकेपूर्वे १।२॥ स०—अम्बिकेशब्दात् पूर्वे, अम्बिकेपूर्वे, पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—यजुषि, प्रकृत्या, अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे इत्येतानि पदानि अम्बिकेशब्दात् पूर्वे अम्बे अम्बाले इत्येते च पदे तानि यजुषि अति परतः प्रकृत्या भवन्ति ॥ *उदा०*—आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु (य० ४।२)। जुषाणो अप्तुराज्यस्य (य० ५।३५)। वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः (य० ७।१) वर्षिष्ठे अधिनाके। अम्बे अम्बाले अम्बिके ॥

भाषार्थः—[आपो...अम्बिकेपूर्वे] आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, ये पद तथा अम्बिके शब्द से पूर्व अम्बे अम्बाले ये दो पद यजुर्वेद में पठित होने पर अकार परे रहते प्रकृतिभाव से रहते हैं ॥ सर्वत्र एङः पदान्ता० (६।१।१०५) से प्राप्त सन्धिकार्य नहीं होता ॥ आपो

जुषाणो आदि सारे पद अनुकरणरूप अविभक्त्यन्त सूत्र में पढ़े हुये हैं ।

अङ्ग इत्यादौ च ॥६।१।११५॥

अङ्गे ७।१॥ इत्यादौ ७।१॥ च अ० ॥ स०—इति = अङ्गशब्दः, तस्यादिः, तस्मिन्‌ ''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम्‌ ॥ *अर्थः*—यजुषि विषये अङ्गशब्दे य एङ्‌ स अति परतः प्रकृत्या भवति, तदादौ चाति परतो यः कश्चिद्‌ एङ्पूर्वः सोऽपि प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत्‌ (य० ६।२०) । ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम्‌ ॥

भाषार्थः—यजुर्वेद विषय में [*अङ्गे*] अङ्ग शब्द में जो एङ्‌ उसको अकार के परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है, [च] तथा [*इत्यादौ*] उस अङ्ग शब्द के आदि में जो अकार उसके परे रहते पूर्व एङ्‌ को (किसी शब्द में स्थित) प्रकृतिभाव होता है, अर्थात्‌ सन्धि नहीं होती ॥ इति शब्द से यहाँ अङ्ग शब्द का ही प्रत्यवमर्षण किया गया है ॥ चकार से दो वाक्यार्थ होते हैं, प्रथम तो अङ्ग शब्द के एङ्‌ को प्रकृतिभाव होता है, किसी शब्द में स्थित अकार के परे रहते अर्थात्‌ अङ्ग शब्द में स्थित ही अकार परे हो यह आवश्यक नहीं, अतः 'अङ्गे अशोचिषम्‌' में प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है । द्वितीय वाक्यार्थ में कहा कि तदादि = अङ्ग शब्द के अकार के परे रहते कोई भी एङ्‌ पूर्व हो उसे प्रकृतिभाव होता है, अर्थात्‌ यह आवश्यक नहीं रहा कि अङ्ग शब्द का ही एङ्‌ हो, किसी भी शब्द में स्थित एङ्‌ हो, अतः 'प्राणो अङ्गे' में 'प्राणो' के ओकार को प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है ॥

अनुदात्ते च कुधपरे ॥६।१।११६॥

अनुदात्ते ७।१॥ च अ०॥ कुधपरे ७।१॥ स०—कुश्च धश्च कुधौ, कुधौ परौ यस्मात्‌ स कुधपरस्तस्मात्‌ ''द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम्‌ ॥ *अर्थः*—यजुषि विषयेऽनुदात्ते चाति कवर्गधकारपरे परत एङ्‌ प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—अयं सो अग्निः (य० १२।४७) । अयं सो अध्वरः ॥

भाषार्थः—यजुर्वेद विषय में [*कुधपरे*] कु = कवर्ग धकार परक [*अनु-*

दात्ते] अनुदात्त अकार के परे रहते [च] भी एङ् को प्रकृतिभाव होता है ॥ अग्नि शब्द की स्वर सिद्धि भाग १ पृ.७७५ में देखें। यह अनुदात्तादि शब्द है, तथा अकार के परे कवर्ग 'ग्' है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया है। अध्वर शब्द भी प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है, अतः अनुदात्तं० (६।१।१५२) लगकर अनुदात्तादि है, अकार से परे धकार है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया है ॥

यहाँ से *'अनुदात्ते'* की अनुवृत्ति ६।१।११७ तक जायेगी ॥

अवपथासि च ॥६।१।११७॥

अवपथासि ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—अनुदात्ते, यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अवपथाःशब्दे योऽनुदात्तोऽकारः तस्मिन् परत एङ् प्रकृत्या भवति यजुषि विषये ॥ *उदा०*—त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः ॥

भाषार्थः—[*अवपथासि*] अवपथाः शब्द में [च] भी जो अनुदात्त अकार उसके परे रहते यजुर्वेद विषय में एङ् को प्रकृतिभाव होता है ॥ वप धातु से लङ् लकार में थास् परे रहते अट् आगम होकर 'अवपथाः' रूप बना है। *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से अतिङ् 'रुद्रेभ्यो' से उत्तर निघात होता है, अतः अनुदात्त अकार परे है, सो रुद्रेभ्यो का ओकार प्रकृतिवत् रह गया, सन्धि नहीं हुई ॥ चकार 'अनुदात्ते' पद के अनुकर्षणार्थ है ॥

सर्वत्र विभाषा गोः ॥६।१।११८॥

सर्वत्र अ०॥ विभाषा १।१॥ गोः ६।१॥ *अनु०*—प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सर्वत्र = छन्दसि भाषायां चाति परतो गोरेङ् प्रकृत्या भवति विभाषा॥ *उदा०*—गो अग्रम्, गोऽग्रम्। छन्दसि—अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोश्वाः ॥

भाषार्थः—[*सर्वत्र*] सर्वत्र = छन्द तथा भाषा विषय दोनों में [*गोः*] गो शब्द के एङ् को [*विभाषा*] विकल्प से अकार परे रहते प्रकृतिभाव होता है ॥

यहाँ से *'गोः'* की अनुवृत्ति ६।१।१२० तक तथा *'विभाषा'* की अनुवृत्ति ६।१।११९ तक जायेगी ॥

अवङ् स्फोटायनस्य ॥६।१।११९॥

अवङ् १।१॥ स्फोटायनस्य ६।१॥ अनु०—गोः, विभाषा, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्फोटायनस्याचार्यस्य मतेनाचि परतो गोरवङादेशो भवति, विकल्पेन ॥ *उदा०*—गवाग्रम्, गोऽग्रम् । गवाजिनम्, गोऽजिनम् । गवोदनम्, गवौदनम् । गवोष्ट्रम्, गवुष्ट्रम् ॥

भाषार्थः—अच् परे रहते गो को [*अवङ्*] अवङ् आदेश [*स्फोटायनस्य*] स्फोटायन आचार्य के मत में विकल्प से होता है ॥ 'अवङ्' में वकारोत्तरवर्ती अकार निरनुनासिक है । *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्तिम अल् 'ओ' को 'अवङ्' होकर गव अग्रम् = गवाग्रम् बना है । जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं हुआ तो *एङः पदान्तादति* (६।१।१०५) से पूर्वरूप होकर गोऽग्रम् बन गया ॥

यहाँ से '*अवङ्*' की अनुवृत्ति ६।१।१२० तक जायेगी ॥

इन्द्रे च ॥६।१।१२०॥

इन्द्रे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अवङ्, गोः, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इन्द्रशब्दस्थेऽचि परतो गोरवङादेशो भवति ॥ *उदा०*—गवेन्द्रः । गवेन्द्रयज्ञस्वरुः[1] ॥

भाषार्थः—[इन्द्रे] इन्द्र शब्द में स्थित अच् के परे रहते [च] भी गो को अवङ् आदेश होता है ॥

प्रथमसूत्र से अवङ् प्राप्त था पुनः इन्द्र शब्द के परे उसका विधान करने से ज्ञापित होता है कि इस सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति नहीं आती ॥

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ॥६।१।१२१॥

प्लुतप्रगृह्याः १।३॥ अचि ७।१॥ नित्यम् १।१॥ *स०*—प्लुताश्च प्रगृह्याश्च प्लुतप्रगृह्याः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्लुताश्च प्रगृह्याश्चाचि प्रकृत्या भवन्ति नित्यम् ॥ *उदा०*—प्लुताः—देवदत्ता ३ अत्र न्वसि । यज्ञदत्ता ३ इदमानय । प्रगृह्याः—अग्नी इति । वायू इति । खट्वे इति । माले इति ॥

---

१. 'चरु' इति पाठान्तरम् । यूपव्रश्चने प्रथमं निष्पतितः शकलः 'स्वरु' नाम्ना व्यवह्रियते याज्ञिकैः ।

भाषार्थः—[*प्लुतप्रगृह्याः*] प्लुत तथा प्रगृह्यसंज्ञक शब्दों को [*अचि*] अच् परे रहते [*नित्यम्*] नित्य ही प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ 'अग्नी इति' इत्यादि की सिद्धि भाग १ परि० १।१।११ पृ० ६८४ में देखें। देवदत्ता ३ इत्यादि में प्लुत दूराद्धूते च (८।२।८४) से हुआ है। प्रकृतिभाव होने से सवर्णदीर्घ नहीं हुआ है ॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक जायेगी ॥

आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१२२॥

आङः ६।१॥ अनुनासिकः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—अचि, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—आङोऽचि परतः संहितायां छन्दसि विषयेऽनुनासिकादेशो बहुलं भवति, स च प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—अभ्रआँ अपः। गभीरआँ उग्रपुत्रे जिघांसत ॥

भाषार्थः—[*आङः*] आङ् को अच् परे रहते संहिता विषय में [*अनुनासिकः*] अनुनासिक आदेश [*छन्दसि*] वेद विषय में [*बहुलम्*] बहुल करके होता है, तथा उस अनुनासिक को प्रकृतिभाव भी होता है ॥ बहुल ग्रहण से आङ् के अतिरिक्त भी अनुनासिक आदेश और प्रकृतिभाव देखा जाता है। यथा—सवायँ एवा रात्र्युषसे (ऋ० १।११३।१) ॥

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥६।१।१२३॥

इकः १।३॥ असवर्णे ७।१॥ शाकल्यस्य ६।१॥ ह्रस्वः १।१॥ च अ० ॥ *स०*—न सवर्णोऽसवर्णस्तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अचि, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—असवर्णेऽचि परत इकः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्येकः स्थाने भवति ॥ *उदा०*—दधि अत्र, मधु अत्र, कुमारि अत्र, किशोरि अत्र, इको *यणचि* इत्यपि भवति विधानसामर्थ्यात्, तेन पक्षे दध्यत्र मध्वत्र कुमार्यत्र किशोर्यत्र इति यणादेशा भवन्ति ॥

भाषार्थः—[*असवर्णे*] असवर्ण अच् परे हो तो [*इकः*] इक् को [*शाकल्यस्य*] शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिभाव हो जाता है, [*च*] तथा उस इक् के स्थान में [*ह्रस्वः*] ह्रस्व भी हो जाता है ॥ इको *यणचि* के आरम्भसामर्थ्य से पक्ष में यणादेश भी होकर दध्यत्र आदि उदाहरण बनते हैं। कुमारी, किशोरी को ह्रस्व होकर 'कुमारि अत्र, किशोरि अत्र' बना है। असवर्ण अच् सर्वत्र अत्र का 'अ' परे है ही ॥

यहाँ से 'शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' की अनुवृत्ति ६।१।१२४ तक जायेगी ॥

ऋत्यकः ॥६।१।१२४॥

ऋति ७।१॥ अकः १।३॥ अनु०—शाकल्यस्य ह्रस्वश्च, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ अर्थः—ऋकारे परतः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेनाकः प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्याकः स्थाने भवति ॥ उदा०—खट्व+ऋश्यः, माल+ऋश्यः, कुमारि ऋश्यः, होतृ ऋश्यः। पक्षे यथायथमादेशा भवन्ति ॥

भाषार्थः—[ऋति] ऋकार परे रहते [अकः] अक् को शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिभाव होता है, तथा उस अक् को ह्रस्व भी हो जाता है ॥ पूर्वसूत्र में असवर्ण कहा था यहाँ सवर्ण अच् परे रहते भी हो जाये, जैसे कि होतृ ऋश्यः यहाँ है, तथा पूर्वसूत्र में इक् कहा है यहाँ अनिक् खट्व ऋश्यः आदि में भी हो जावे इसलिये यह सूत्र है। पक्ष में खट्वर्श्यः, मालर्श्यः, कुमार्यृश्यः, होतृश्यः इत्यादि प्रयोग भी होते हैं।

अप्लुतवदुपस्थिते ॥६।१।१२५॥

अप्लुतवत् अ० ॥ उपस्थिते ७।१॥ स०—अप्लु० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—उपस्थितं नाम अनार्ष इतिकरणः। अनार्षे इतौ परतः प्लुतोऽप्लुतवद् भवति। तेन प्लुतकार्यं प्रकृतिभावो न भवति ॥ उदा०—सुश्लोका३ इति = सुश्लोकेति। सुमङ्गला३ इति = सुमङ्गलेति ॥

भाषार्थः—उपस्थित अनार्ष अर्थात् जो वेद से अन्यत्र आया 'इति' पद है, उसे कहते हैं ॥ [उपस्थिते] अनार्ष इति के परे रहते प्लुत को [अप्लुतवत्] अप्लुतवत् = अप्लुत के समान हो जाता है ॥ अप्लुतवत कहने से प्लुतकार्य प्लुतप्रगृह्या० (६।१।१२१) से कहा हुआ प्रकृतिभाव नहीं होता, अतः सन्धिकार्य हो जाता है ॥ दूराद्धूते च (८।२।८४) से 'सुश्लोका३' आदि में प्लुत हुआ है ॥

यहाँ से 'अप्लुतवत्' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक जायेगी ॥

ई३ चाक्रवर्मणस्य ॥६।१।१२६॥

ई३ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ चाक्रवर्मणस्य ६।१॥ अनु०—अप्लुतवत्, अचि ॥ अर्थः—अचि परत ई३कारः प्लुतश्चाक्रवर्मणस्याचार्यस्य मतेनाप्लु-

तवद्भवति ॥ *उदा०*—अस्तु हीत्यब्रवीत् । चिनु हीदम् । चाक्रवर्मणग्रहणात पक्षे—अस्तु ही३ इत्यब्रवीत् । चिनु ही३ इदम् ॥

भाषार्थः—प्लुत [ई३] 'ई३' को अच् परे रहते [*चाक्रवर्मणस्य*] चाक्रवर्मण आचार्य के मत में अप्लुतवत् हो जाता है ॥ पूर्ववत् प्रकृतिभाव न होना ही अप्लुतवत् विधान का प्रयोजन है ॥ चाक्रवर्मण ग्रहण विकल्पार्थ है, अतः पाणिनि मुनि के मत में प्रकृतिभाव ही होता है ॥ उपस्थित (अनार्ष इति) अनुपस्थित दोनों विषयों में यह विकल्प करता है, अतः यह उभयत्र विभाषा है ॥

दिव उत् ॥६।१।१२७॥

दिवः ६।१॥ उत् १।१॥ *अनु०*—एङः पदान्तादतीत्यतः पदग्रहणमनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—दिवः पदस्य उकारादेशो भवति ॥ दिव इति प्रातिपदिकं गृह्यते, न धातुः ॥ *उदा०* – दिवि कामो यस्य स द्युकामः । द्युमान् । विमलद्यु दिनम् । द्युभ्याम् । द्युभिः ॥

भाषार्थः—[*दिवः*] दिव पद को [*उत्*] उकारादेश होता है ॥ *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्तिम अल् 'व्' के स्थान में उकारादेश हाता है । *येन विधिस्त०* (१।१।७१) से तदन्त विधि होने से पदान्त में स्थित दिव् के वकार को ही उकारादेश होता है ॥ द्युकामः की सिद्धि भाग१ पृ.७३४ में देखें । इसी प्रकार और सिद्धियाँ भी हैं ॥

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥६।१।१२८॥

एतत्तदोः ६।२॥ सुलोपः १।१॥ अकोः ६।२॥ अनञ्समासे ७।१॥ हलि ७।१॥ *स०*—एतच्च तच्च एतत्तदौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः । सोर्लोपः, सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । न विद्यते 'क' ययोस्तौ अकौ, तयोः''' बहुव्रीहिः । नञः समासः नञ्समासः, षष्ठीतत्पुरुषः । न नञ्समासोऽनञ्समासस्तस्मिन्''' नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अनञ्समासे वर्त्तमानयोरककारयोरेतत्तदोः सुलोपो भवति संहितायां विषये हलि परतः ॥ *उदा०*—एतद्—एष ददाति, एष भुङ्क्ते । तद्—स ददाति, स भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[*अकोः*] ककार जिनमें नहीं है तथा जो [*अनञ्समासे*] नञ् समास में वर्त्तमान नहीं हैं, ऐसे जो [*एतत्तदोः*] एतद् तथा तद्,

उनके [*सुलोपः*] सु का लोप हो जाता है [*हलि*] हल् परे रहते, संहिता के विषय में ॥ अकच् प्रत्यय करने पर ककार सहित एतद् तद् हो जाते हैं, अतः 'अकोः' से उनका निषेध है ॥ सः की सिद्धि भाग१ पृ० ७२४ तथा ७३४ में देखें। हल् परे यहाँ सु का लोप हो गया है, यही विशेष है। सः के समान ही एतद् के मध्य तकार को सकार एवं द् को अत्व तथा *आदेशप्रत्य०* (८।३।५९) से षत्व करके 'एषः' बनता है ॥

यहाँ से '*सुलोपः*' की अनुवृत्ति ६।१।१३० तक तथा '*हलि*' की अनुवृत्ति ६।१।१२९ तक जायेगी ॥

स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१२९॥

स्यः षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—सुलोपः, हलि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्य इत्येतस्य छन्दसि विषये हलि परतो बहुलं सोर्लोपो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि (ऋ० ४।४०।४)। एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमः। बहुलवचनात् न च भवति—यत्र स्यो निपतेत् ॥

भाषार्थः—'स्यः' यह षष्ठी के अर्थ में प्रथमा है। [*स्यः*] स्य शब्द के सु का [*छन्दसि*] वेद विषय में हल् परे रहते [*बहुलम्*] बहुल करके लोप हो जाता है, संहिता के विषय में ॥

सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् ॥६।१।१३०॥

सः षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ अचि ७।१॥ लोपे ७।१॥ चेत् अ० ॥ पादपूरणम् १।१॥ *स०*—पादस्य पूरणं निष्पत्तिः पादपूरणं, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सुलोपः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स इत्येतस्याचि परतः सुलोपो भवति संहितायाम्, लोपे सति चेत्पादः पूर्येत ॥ *उदा०*—सेन्दू राजा क्षयति चर्षणीनाम्। सौषधीरनुरुध्यसे। सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः। पादशब्देनेह सामान्येन ऋक्पादः श्लोकपादश्चोभौ गृह्येते ॥

भाषार्थः—[*सः*] 'सः' के सु का लोप [*अचि*] अच् परे रहते होता है [*चेत्*] यदि [*लोपे*] लोप होने पर [*पादपूरणम्*] पाद की पूर्ति (निष्पत्ति) हो रही हो ॥ पादशब्द से यहाँ ऋक् मन्त्र (पद्यमन्त्र)

और श्लोक दोनों के पादों का ग्रहण होता है ।। तद् के प्रथमा एकवचन का 'सः' अनुकरण है तथा पूर्ववत् षष्ठी का लुक् हुआ है ।। सु का लोप कर देने पर *आद् गुणः* (६।१।८४) एवं *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) लगाकर स इन्दु = सेन्दुः, स ओषधीः = सौषधीः बनने से एक मात्रा उसी में मिलकर पादपूर्त्ति हो जाती है, अन्यथा १ मात्रा बढ़ने से पादव्यवस्था ठीक न बनती ।।

[सुट्प्रकरणम्]

सुट् कात् पूर्वः ।।६।१।१३१।।

सुट् १।१।। कात् ५।१।। पूर्वः १।१।। *अनु०*—संहितायाम् ।। *अर्थः*—अधिकारोऽयम्, *पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्* (६।१।१५१) इति यावत् । इत उत्तरं ककारात् पूर्वः सुडागमो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ।। *उदा०*—वक्ष्यति *सम्परिभ्यां०* (६।१।१३२) संस्कर्त्ता, संस्कर्त्तुम्, संस्कर्त्तव्यम् ।।

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, *पारस्करप्रभृतीनि०* (६।१।१५१) तक जायेगा । [*कात्*] ककार से [*पूर्वः*] पूर्व [*सुट्*] सुट् का आगम होता है, ऐसा आगे के सूत्रों में अर्थ होता जायेगा ।। सम् सुट् कर्त्ता = सम् स् कर्त्ता यहाँ *संपुंकानां सत्वम्* (भाष्य वार्त्तिक ८।३।५) से सम् के म् को स् होकर 'स स् स्कर्त्ता' रहा । *अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा* (८।३।२) से पक्ष में स् से पूर्व वर्ण अकार को अनुनासिक तथा दूसरे पक्ष में *अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः* (८।३।४) से अनुस्वार आगम होकर संस्स्कर्त्ता बना ।। *अयोगवाहानामट्सु०* (हयवरट्) इस भाष्यवार्त्तिक से अनुस्वार अट् प्रत्याहार में माना गया तो हल् से उत्तर माना जाने से *झरो झरि सवर्णे* (८।४।६४) से एक सकार का पक्ष में लोप हो गया तब संस्कर्त्ता एक सकार वाला प्रयोग भी बना । अयोगवाहों को सामान्य करके महाभाष्य में (हयवरट्) अच् एवं हल् दोनों में ही माना है, सो अचों में मानकर अच् से उत्तर *अनचि च* (८।४।४६) से पक्ष में 'सं स् स् कर्त्ता' (द्विसकारक अवस्था में) यहाँ स् को द्वित्व होकर संस्स्कर्त्ता प्रयोग भी बनेगा । इस प्रकार सकार लोप एवं द्वित्व भी पाक्षिक होकर एक सकार, दो सकार तथा तीन सकार के भेद से प्रयोगत्रय सिद्ध होते हैं, ऐसा जानें । हमने मूल उदाहरणों में एक सकार ही रखा है ।। इसी प्रकार संस्कर्त्तुम् आदि की व्यवस्था जानें ।।

सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ॥६।१।१३२॥

सम्परिभ्याम् ५।२॥ करोतौ ७।१॥ भूषणे ७।१॥ *स०*—सम्परिभ्याम् इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुट्, कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सम्, परि, इत्येताभ्यां भूषणेऽर्थे करोतौ परतः सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ॥ *उदा०*—संस्कर्त्ता, संस्कर्त्तुम्, संस्कर्त्तव्यम् । परिष्कर्त्ता, परिष्कर्त्तुम्, परिष्कर्त्तव्यम् ।

भाषार्थः—[*भूषणे*] भूषण अर्थ में [*सम्परिभ्याम्*] सम् तथा परि उपसर्ग से उत्तर [*करोतौ*] कृ धातु के परे रहते ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, संहिता विषय में ॥ परिष्कर्त्ता (परिष्कार करने वाला) आदि में सुट् के 'स्' को *परिनिविभ्यः सेव०* (८।३।७०) से षत्व हुआ है । संस्कर्त्ता (संस्कार करने वाला) की सिद्धि पूर्व सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*सम्परिभ्याम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१३३ तक तथा '*करोतौ*' की ६।१।१३४ तक जायेगी ॥

समवाये च ॥६।१।१३३॥

समवाये ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सम्परिभ्याम्, करोतौ, सुट् कात्-पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—समवायेऽर्थे करोतौ परतः संपरिभ्यां परः कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायाम् ॥ समवायः = समुदायः ॥ *उदा०*—तत्र नः संस्कृतम्, तत्र नः परिष्कृतम् ॥

भाषार्थः—[*समवाये*] समुदाय अर्थ में [*च*] भी कृ धातु परे हो तो सम् तथा परि से उत्तर ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, संहिता विषय में ॥ *उदा०*—तत्र नः संस्कृतम् (वहाँ हमारा समुदाय) । तत्र नः परिष्कृतम् ॥

उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥६।१।१३४॥

उपात् ५।१॥ प्रति······हारेषु ७।३॥ *स०*—प्रतियत्न० इत्यत्रेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—करोतौ, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रतियत्न, वैकृत, वाक्याध्याहार इत्येतेष्वर्थेषु गम्यमानेषु करोतौ परतः उपाद् उत्तरः कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायां विषये ॥ विकृतमेव वैकृतं, स्वार्थे प्रज्ञादित्वादण् ॥ *उदा०*—प्रतियत्ने—एधोदकस्य

उपस्कुरुते, काण्डं गुडस्योपस्कुरुते । वैकृते—उपस्कृतं भुङ्क्ते, उपस्कृतं गच्छति । वाक्याध्याहारे—उपस्कृतं जल्पति, उपस्कृतमधीते ॥

भाषार्थः—[*प्रति*·····*रेषु*] प्रतियत्न (किसी गुण को किसी और गुण में बदलना), वैकृत (विकृत) तथा वाक्याध्याहार अर्थ गम्यमान हो तो कृ धातु के परे रहते [*उपात्*] उप उपसर्ग से उत्तर ककार से पूर्व सुट् का आगम संहिता विषय में होता है ॥ गम्यमान अर्थ को भी सहजता से समझाने के लिये शब्दों द्वारा उपादान कर देना वाक्याध्याहार कहाता है । जैसे कि उपस्कृतं जल्पति यहाँ 'गम्यमान अर्थ के बोधक शब्दों का प्रयोग करते हुए वार्त्ता करता है' यह अर्थ है । अतिव्याप्ति आदि दोष हटाने के लिए वाक्याध्याहार = उपस्कार की आवश्यकता होती है ॥

एधोदकस्योपस्कुरुते उदाहरण के लिये २।३।५३, तथा १।३।३२ सूत्र देखें ॥

यहाँ से '*उपात्*' की अनुवृत्ति ६।१।१३६ तक जायेगी ॥

किरतौ लवने ॥६।१।१३५॥

किरतौ ७।१॥ लवने ७।१॥ *अनु०*—उपात्, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—लवनविषये किरतौ धातौ परतः उपादुत्तरः सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ॥ *उदा०*—उपस्कारं मद्रका लुनन्ति, उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति ॥

भाषार्थः—[*लवने*] काटने विषय में [*किरतौ*] कॄ विक्षेपे धातु के परे रहते उप से उत्तर ककार से पूर्व सुट् का आगम संहिता के विषय में होता है ॥ उपस्कारं में कॄ धातु से णमुल् प्रत्यय *कृत्यल्युटो बहुलम्* (३।३।११३) में कहे हुये बहुलवचन से होता है ॥ *उदा०*—उपस्कारं मद्रका लुनन्ति (फैंक २ कर मद्र के लोग काटते हैं), उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति ॥

यहाँ से '*किरतौ*' की अनुवृत्ति ६।१।१३७ तक जायेगी ॥

हिंसायां प्रतेश्च ॥६।१।१३६॥

हिंसायाम् ७।१॥ प्रतेः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—किरतौ, उपात्, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपात् प्रतेश्चोत्तरः किरतौ धातौ

परतो हिंसायां विषये सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ॥ *उदा०*—उपस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् । प्रतिस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् ॥

भाषार्थः—उप [*च*] तथा [*प्रतेः*] प्रति उपसर्ग से उत्तर कॄ धातु के परे रहते [*हिंसायाम्*] हिंसा विषय में ककार से पूर्व सुट् आगम होता है, संहिता विषय में ॥ उपस्कीर्णं आदि में निष्ठा का तकार परे रहते *ऋत इद्धातोः* (७।१।१००) से इत्व एवं रपरत्व (१।१।५०) होकर 'उप सुट् किर् त' रहा । *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से त को न एवं *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घत्व तथा *रषाभ्यां०* (८।४।१) से णत्व होकर उपस्कीर्णं बन गया ॥ *उदा०*—उपस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् (ऐ वृषल तेरा नाश हो), प्रतिस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् ॥

अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने ॥६।१।१३७॥

अपात् ५।१॥ चतुष्पाच्छकुनिषु ७।३॥ आलेखने ७।१॥ *स०*—चतुष्पादश्च शकुनयश्च चतुष्पाच्छकुनयस्तेषु ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—किरतौ, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अपादुत्तरः किरतौ परतश्चतुष्पाच्छकुनिषु यदालेखनं तस्मिन् विषये कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायाम् ॥ *उदा०*—अपस्किरते वृषभो हृष्टः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी, अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी ॥

भाषार्थः—[*अपात्*] अप उपसर्ग से उत्तर [*चतुष्पाच्छकुनिषु*] चतुष्पाद् अर्थात् चार पैर वाले जैसे बैल, कुत्ता आदि, तथा शकुनि अर्थात् पक्षी मोर मुर्गा आदि में जो [*आलेखने*] आलेखन=कुरेदना हो तो उस विषय में संहिता में ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है ॥ *उदा०*—अपस्किरते वृषभो हृष्टः (बैल आनन्दित होकर जमीन पैरों से कुरेदता है) अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी (मुर्गा भक्ष्य पाने की इच्छा से जमीन कुरेदता है), अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी (कुत्ता बैठने की जगह बनाने के लिये जमीन कुरेदता है) ॥ अपस्किरते में पूर्ववत् *तुदादिभ्यः शः* (३।१।७७) से श, प्रत्यय तथा इत्व रपरत्व हुआ है ॥

कुस्तुम्बुरूणि जातिः ॥६।१।१३८॥

कुस्तुम्बुरूणि १।३॥ जातिः १।१॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—कुस्तुम्बुरूणीति सुडागमो निपात्यते जातिश्चेद्भवति ॥ कुस्तुम्बु-

रुर्नामौषधिर्जातिविशेषः, तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरूणि ॥ सूत्रे नपुंसकलिङ्ग बहुवचनञ्चातन्त्रम् ॥

भाषार्थः—[*कुस्तुम्बुरूणि*] कुस्तुम्बुरु शब्द में तकार से पूर्व सुट् आगम निपातन किया जाता है, यदि वह [*जातिः*] जाति अर्थ वाला हो तो ॥ कुस्तुम्बुरु किसी औषधि जाति विशेष का नाम है। उसके फल भी 'कुस्तुम्बुरूणि फलानि' कहे जाते हैं ॥ सूत्र में जो नपुंसकलिङ्ग एवं बहुवचन से निर्देश किया है, वह अविवक्षित है, अतः कुस्तुम्बुरुरोषधिः, कुस्तुम्बुरूणि फलानि यहाँ पुँल्लिङ्ग एकवचन, एवं नपुंसकलिङ्ग बहुवचन दोनों के साथ सुट् निपातित है ॥

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥६।१।१३९॥

अपरस्पराः १।३॥ क्रियासातत्ये ७।१॥ *स०*—क्रियायाः सातत्यं क्रियासातत्यं तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—क्रियासातत्ये गम्यमाने अपरस्परा इति सुट् निपात्यते ॥ *उदा०*—अपरे च परे च = अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति ॥

भाषार्थः—[*क्रियासातत्ये*] क्रिया का निरन्तर होना गम्यमान हो तो [*अपरस्पराः*] 'अपरस्पराः' इस शब्द में सुट् आगम निपातन किया जाता है ॥ *उदा०*—अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति (सार्थ लोग निरन्तर गमन करते हैं) ॥ प्राचीन काल में देशान्तर से सामान लाने ले जाने के लिए वैश्यों का जो समूह चलता था वह सार्थ कहाता था और उनका नेता 'सार्थवाह' कहाता था ॥

गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ॥६।१।१४०॥

गोष्पदम् १।१॥ सेविता...णेषु ७।३॥ *स०*—सेवितञ्च असेवितञ्च प्रमाणञ्च सेवि...णानि, तेषु...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुट् संहितायाम् ॥ *अर्थः*—गोष्पदमिति सुट् निपात्यते, षत्वं च तस्य सेवितेऽसेविते प्रमाणे च विषये ॥ *उदा०*—गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे स गोभिः सेवितो देशो गोष्पदो देशः। असेविते—अगोष्पदान्यरण्यानि। प्रमाणे—गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्, गोष्पदपूरं वृष्टो देवः ॥

भाषार्थः—[*गोष्पदम्*] गोष्पद इस शब्द में सुट् आगम तथा उसको षत्व [*सेवि...णेषु*] सेवित, असेवित तथा प्रमाण विषय में निपातन

किया जाता है ॥ गौएं जिस देश में गमन करती हैं, फिरती हैं वह गौओं से सेवित देश 'गोष्पदो देशः' कहलायेगा । इसी प्रकार जिन जङ्गलों में गौओं के गमन का अत्यन्ताभाव है, ऐसा गौओं से असेवित अरण्य अगोष्पद अरण्य कहा जायेगा । 'गोष्पदपूरं' गीली भूमि में बने गौ के खुर के चिह्न भरने के बराबर वर्षा हुई यहाँ स्पष्ट प्रमाण विषय है । यहाँ णमुल् प्रत्यय ३।४।३२ से हुआ है ॥

आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ॥६।१।१४१॥

आस्पदम् १।१॥ प्रतिष्ठायाम् ७।१॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—आस्पदमिति सुट् निपात्यते प्रतिष्ठायामर्थे ॥ प्राणधारणाय कालक्षेपाय यत् स्थानं तत् प्रतिष्ठाशब्देनोच्यते ॥ *उदा०*—आस्पदमनेन लब्धम् ॥

भाषार्थः—[*प्रतिष्ठायाम्*] प्रतिष्ठा अर्थ में [*आस्पदम्*] आस्पद शब्द में सुट् आगम निपातन है ॥ प्राणधारण अर्थात् समय बिताने के लिये जो स्थान उसे प्रतिष्ठा कहते हैं ॥ आस्पदं में जो आङ् है, वह *आङ् मर्यादावचने* (१।४।८८) से कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है । पञ्चम्यपाङ्० (२।३।१०) से पाद शब्द से पञ्चमी तथा *आङ् मर्यादाभिविध्योः* (२।१।१२) से अव्ययीभाव समास होने से विभक्ति का लुक् (२।४।८२) होकर आस्पदम् बना है ॥ *उदा०*—आस्पदमनेन लब्धम् (कालक्षेपणार्थ इसने स्थान प्राप्त कर लिया अर्थात् पद के अनुरूप योग्यता नहीं है) ॥

आश्चर्यमनित्ये ॥६।१।१४२॥

आश्चर्यम् १।१॥ अनित्ये ७।१॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *स०*—अनित्य इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—अनित्येऽर्थे आश्चर्यमिति सुट् निपात्यते ॥ *उदा०*—आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत, आश्चर्यं यदि सोऽधीयीत ॥

भाषार्थः—[*अनित्ये*] अनित्य अर्थात् अद्भुतत्व विषय में [*आश्चर्यम्*] आश्चर्य शब्द में सुट् निपातन है ॥ लोक में जो बात अदृष्टपूर्व हो, पहले न हुई हो, वह अनित्यता से व्याप्त होती है, उसी को अद्भुत[1] कहा जाता है, अतः यहाँ भी अनित्य का अर्थ अद्भुत है ॥ *चरेराङि*

---

१. अद्भुतमभूतम् । निरुक्त अ० १ खं० ६ ।

चागुरौ (वा० ३।१।१००) इस वार्त्तिक से यहाँ यत् प्रत्यय हुआ है। श्चुत्व होकर आश्चर्यम् बन गया॥

वर्चस्केऽवस्करः ॥६।१।१४३॥

वर्चस्के ७।१॥ अवस्करः १।१॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम्॥ *अर्थः*—वर्चस्केऽभिधेयेऽवस्कर इति सुट् निपात्यते॥ वर्चस्कमन्नमलम्॥ उदा०—अवस्करोऽन्नमलम्॥

भाषार्थः—[*वर्चस्के*] अन्न का मल = कचरा अभिधेय हो तो [*अवस्करः*] अवस्कर शब्द में सुट् निपातन किया जाता है॥ कुत्सितं वर्चः = वर्चस्कः यहाँ *कुत्सिते* (५।३।७४) से कन् प्रत्यय हुआ है, सो वर्चस्क का अर्थ अन्न का मल है॥ अव पूर्वक कॄ धातु से ॠदोरप् (३।३।५७) से अप् प्रत्यय तथा निपातन से सुट् करके अवस्कर बनता है॥

अपस्करो रथाङ्गम् ॥६।१।१४४॥

अपस्करः १।१॥ रथाङ्गम् १।१॥ *स०*—रथस्य अङ्गम् रथाङ्गम, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—सुट्, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अपस्कर इति सुट् निपात्यते रथाङ्गं चेत्तद्भवति॥ *उदा०*—अपस्करो रथावयवः॥

भाषार्थः—[*अपस्करः*] अपस्कर शब्द सुट् सहित निपातन किया जाता है, यदि उससे [*रथाङ्गम्*] रथ का अङ्ग = अवयव कहा जा रहा हो तो॥ पूर्ववत् अपस्कर की सिद्धि है॥

विष्किरः शकुनौ वा ॥६।१।१४५॥

विष्किरः १।१॥ शकुनौ ७।१॥ वा अ०॥ अनु०—सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—विष्किर इति सुट् निपात्यते शकुनावभिधेये विकल्पेन॥ उदा०—विष्किरः, विकिरः॥

भाषार्थः—[*विष्किरः*] विष्किर इस में ककार से पूर्व सुट् [*शकुनौ*] शकुनि = पक्षी को कहा जा रहा हो तो [*वा*] विकल्प से निपातन किया जाता है॥

ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥६।१।१४६॥

ह्रस्वात् ५।१॥ चन्द्रोत्तरपदे ७।१॥ मन्त्रे ७।१॥ *स०*—चन्द्रश्चासौ उत्तरपदञ्च चन्द्रोत्तरपदं तस्मिन्.... कर्मधारयस्तत्पुरुषः॥ अनु०—सुट्,

संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ह्रस्वात् परः चन्द्रशब्दोत्तरपदे सुडागमो भवति मन्त्रविषये संहितायां विषये ॥ *उदा०*—सुश्चन्द्रो युष्मान् ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वात्] ह्रस्व से उत्तर [चन्द्रोत्तरपदे] चन्द्र शब्द उत्तरपद में हो तो सुट् का आगम होता है, [मन्त्रे] मन्त्र विषय में संहिता में ॥ सुश्चन्द्रः में *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है। सुट् कर लेने पर *स्तोः श्चुना०* (८।४।३९) से श्चुत्व हो ही जायेगा ॥

प्रतिष्कशश्च कशेः ॥६।१।१४७॥

प्रतिष्कशः १।१॥ च अ० ॥ कशेः ६।१॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रतिपूर्वस्य कश गतिशासनयोरित्येतस्य धातोः सुट् निपात्यते तस्य च षत्वम् ॥ *उदा०*—ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः ॥

भाषार्थः—[प्रतिष्कशः] प्रतिष्कश शब्द प्रति पूर्वक [कशेः] कश धातु को सुट् आगम [च] भी तथा उसी सुट् के सकार को षत्व निपातन करके सिद्ध किया है ॥ प्रतिष्कशः में पचाद्यच् हुआ है ॥ *उदा०*—ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः (मैं ग्राम में आज प्रवेश करूँगा अतः तुम मेरे पुरोयायी = अग्रगन्ता अथवा सहायक बनो) ॥

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ॥६।१।१४८॥

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ १।२॥ ऋषी १।२॥ *स०*—प्रस्क० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रस्कण्व, हरिश्चन्द्र इति सुट् निपात्यते, ऋषी चेदभिधेयौ भवतः ॥ *उदा०*—प्रस्कण्व ऋषिः, हरिश्चन्द्र ऋषिः ॥

भाषार्थः—[प्रस्क···न्द्रौ] प्रस्कण्व तथा हरिश्चन्द्र शब्द में [ऋषी] ऋषि अभिधेय हों तो सुट् निपातन है ॥ ये दोनों ऋषि के नाम हैं, अन्य किसी के नाम होने पर सुट् नहीं होगा ॥

मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ॥६।१।१४९॥

मस्क·····रिणौ १।२॥ वेणुपरिव्राजकयोः ७।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—मस्कर, मस्करिन्

इत्येतौ शब्दौ यथासङ्ख्यं वेणौ परिव्राजके चाभिधेये निपात्येते। मस्कर इत्यत्र माङो ह्रस्वत्वं करणेऽच् प्रत्ययः, मा क्रियते येन प्रतिषिध्यते = निवार्यते स मस्करः, सुडागमश्च वेणावभिधेये निपात्यते। मस्करी इत्यत्र माङ् पूर्वात् करोतेरिनिप्रत्ययः सुडागमो माङो ह्रस्वत्वञ्च निपात्यते, परिव्राजकेऽभिधेये। मा कुरुत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी इति स आहातो मस्करी परिव्राजकः॥

भाषार्थः—[*मस्करमस्करिणौ*] मस्कर तथा मस्करिन् शब्द यथासंख्य करके [*वेणुपरिव्राजकयोः*] वेणु (बाँस) तथा परिव्राजक (संन्यासी) अभिधेय हो तो निपातन किये जाते हैं॥ वेणु (= दण्ड) को कहने में मस्कर शब्द में सुट् आगम एवं करण में अच् प्रत्यय तथा माङ् को ह्रस्वत्व निपातित है॥ जिसके द्वारा हटाया = निवारण किया जाता है, उसे मस्कर कहते हैं। मस्करी यहाँ माङ् पूर्वक कृ धातु से इनि प्रत्यय तथा सुट् आगम एवं माङ् को ह्रस्वत्व निपातन है। जो कहता है कि (प्रेय = सकाम = भवोत्पादक) कर्म मत करो, शान्ति (= भवोच्छेद) ही तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है वह परिव्राजक मस्करी है॥

कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ॥६।१।१५०॥

कास्तीराजस्तुन्दे १।२॥ नगरे ७।१॥ *स०*—कास्ती० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम्॥ *अर्थः*—कास्तीर, अजस्तुन्द इत्येतौ शब्दौ सुट् सहितौ नगरेऽभिधेये निपात्येते॥ *उदा०*—कास्तीरं नाम नगरम्। अजस्तुन्दं नाम नगरम्॥

भाषार्थः—[*कास्तीराजस्तुन्दे*] कास्तीर तथा अजस्तुन्द शब्द में [*नगरे*] नगर अभिधेय हो तो अर्थात् किसी नगर के नाम हों तो सुट् आगम निपातन किया जाता है॥

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ॥६।१।१५१॥

पारस्करप्रभृतीनि १।३॥ च अ०॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—पारस्करः प्रभृतिर्येषां तानि पारस्करप्रभृतीनि, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—सुट् संहितायाम्॥ *अर्थः*—पारस्करप्रभृतीनि च शब्दरूपाणि सुटसहितानि निपात्यन्ते संज्ञायां विषये॥ *उदा०*—पारस्करो देशः, कारस्करो वृक्षः, रथं पाति (रक्षति) रथस्पा नदी॥

भाषार्थः—[*पारस्करप्रभृतीनि*] पारस्कर इत्यादि शब्दों में [*च*] भी सुट् आगम [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में निपातन किया जाता है ॥ जहाँ सुट् आगम दिखाई पड़े, किन्तु किसी सूत्र से विहित न हो, उसे पारस्करगण में पढ़ा समझ लेना चाहिये। पारस्कर आदि शब्द रूढि संज्ञाओं के वाचक हैं ॥ *उदा०*—पारस्करः (किसी देश की संज्ञा है), कारस्करः (किसी वृक्ष की संज्ञा है), रथस्पा (नदी विशेष की संज्ञा है) ॥

[*स्वरप्रकरणम्*]

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥६।१।१५२॥

अनुदात्तम् १।१॥ पदम् १।१॥ एकवर्जम् १।१॥ *स०*—एकं वर्जयित्वा एकवर्जम्, उपपदतत्पुरुषः। *द्वितीयायाञ्च* (३।४।५३) इति णमुल् प्रत्ययः॥ अनुदात्ता अस्य सन्तीति अनुदात्तम् *अर्शआदिभ्यो०* (५।२।१२७) इत्यस्याकृतिगणत्वादत्राच् प्रत्ययो मत्वर्थे॥ *अर्थः*—स्वरविधिविषयकं परिभाषासूत्रमिदम्। यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा तस्मिन् पदे वर्त्तमाना अचोऽनुदात्ता भवन्ति॥ *उदा०*—गोपायति, धूपायति। गोपायतं नः (ऋ० ६।७४।५)। कर्त्तव्यम्॥

भाषार्थः—स्वरविधिविषयक यह परिभाषा सूत्र है। जिस एक पद में उदात्त या स्वरित विधान किया है, उसी के [*एकवर्जम्*] एक (अच्) को छोड़कर शेष [*पदम्*] पद [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त अच् वाला हो जाता है॥

स्वर अचों को ही होता है, किन्तु पद में तो हल् और अच् दोनों ही होते हैं, अतः यहाँ 'अनुदात्तम्' पद में मत्वर्थीय अकार प्रत्यय किया है, सो अर्थ होगा "एक को छोड़कर शेष अनुदात्त अच् वाला पद होता है"। अब यहाँ यह प्रश्न है कि किस एक को छोड़ना है? तो यह बात भी सूत्र से ही स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि शेष को जब अनुदात्त विधान करते हैं, तो अनुदात्त से भिन्न को ही तो छोड़ना होगा, और वे अनुदात्त से भिन्नस्वर उदात्त अथवा स्वरित ही हैं। अर्थात् जहाँ कहीं भी स्वरविधान (उदात्त या स्वरित का) कर रहे हों वहाँ यह परिभाषा सूत्र उपस्थित हो जायेगा, तो उस उदात्त या स्वरित को छोड़कर उस पद के

शेष अचों को अनुदात्त कर देगा। पद शब्द भी यहाँ *सुप्तिङन्तं०* (१।४।१४) वाला पारिभाषिक नहीं लेना, अपितु 'पद्यते गम्यतेऽर्थो येन तत्पदम्' यह अन्वर्थ लेना है। यहाँ कोई पद को प्रधान मानकर यह अर्थ न समझ ले कि 'एकपद अनुदात्त अच् वाला होता है, वाक्यस्थ एक पद को छोड़कर अर्थात् किसी पद को अनुदात्त विधान करें और किसी अन्य पद को छोड़कर'। अतः हमने सूत्रार्थ में 'जिस एक पद में उदात्त या स्वरित विधान हो, उसी पद के' ऐसा लिखकर यह बात स्पष्ट की है। वस्तुतः ऐसा ही सूत्रार्थ व्याख्यान से निकलता है, उसे हमने सहेतुक स्पष्ट करने का यत्न किया है। कुछ शङ्का समाधान का विषय बन जाने से यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त रहेगा॥

गोपायति में 'गोपाय' *सनाद्यन्ता धातवः* (३।१।३२) से धातुसंज्ञक है, जो कि *धातोः* (६।१।१५६) से अन्तोदात्त है अर्थात् 'य' का 'अ' उदात्त है सो गोपाय में 'य' को छोड़ कर 'गोपा' प्रकृत सूत्र से अनुदात्त हो गया शप् और तिप् पित् होने से अनुदात्त हैं, शप् के अ का 'य' के 'अ' के साथ हुआ एकादेश भी *एकादेश उदात्तेनोदात्तः* (८।२।५) से उदात्त ही रहेगा एवं ति *उदात्तादनुदा०* (८।४।६५) से स्वरित हो गया। कर्त्तव्यम् में तव्य *तित् स्वरितम्* (६।१।१८) से अन्तस्वरित है। स्वरसिद्धियाँ भाग १ परि० १।२।२८-३६, एवं अन्यत्र भी कई स्थलों में बहुत स्पष्ट रूप से की हैं, अतः पाठक स्वरसिद्धि की मूलभूत प्रक्रियायें वहीं देख लें, यहाँ विस्तार भय से पुनः पुनः नहीं लिखी जावेंगी। इन सिद्धियों में '*सति शिष्टस्वरो बलीयान्*' इस भाष्यवचन को जो कि इसी सूत्र में कहा है, सर्वत्र ध्यान में रखना चाहिये। सति शिष्टः स्वरः = अर्थात् पीछे आने वाला स्वर बलवान् होता है, जैसे कि किसी स्थल में धातुस्वर हो जाने के पश्चात् कोई प्रत्यय आया तो धातु का अन्तोदात्त स्वर न होकर प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर रहेगा, क्योंकि वह पीछे आया है। इसकी विवेचना पूर्व स्वरसिद्धि स्थलों में भी हो चुकी है, देख लें॥

कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ॥६।१।१५३॥

कर्षात्वतः ६।१॥ घञः ६।१॥ अन्तः १।१॥ उदात्तः १।१॥ *स०*—आद् अस्यास्तीत्यात्वान्, कर्षश्च आत्वांश्च कर्षात्वत् तस्य······'समाहारो

द्वन्द्वः ॥ अर्थः—कर्षतेर्धातोराकारवतश्च घञन्तस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—कर्षः । आकारवतो घञन्तस्य—पाकः, त्यागः, रागः, दायः धायः ॥

भाषार्थः—[*कर्षात्वतः*] कृष विलेखने धातु (भ्वा०) तथा आकारवान् जो [*घञः*] घञन्त शब्द उनके [*अन्त उदात्तः*] अन्त को उदात्त होता है ॥ घञ् ञित् है, अतः *ञ्नित्यादि०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त प्राप्त था उसका अपवाद यह सूत्र है । कर्ष घञन्त शब्द आकारवान् नहीं है, अतः अलग से उसे पढ़ा है । अन्तोदात्त होकर अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से अन्तोदात्त शेष रह कर अनुदात्त शेष हो जायेगा । पाकः आदि की सिद्धि भाग १ पृ० ६५७ में देखें ॥ दायः धायः में *आतो युक्०* (७।३।३३) से युक् आगम हुआ है ॥

यहाँ से '*अन्तः*' की अनुवृत्ति ६।१।१९१ तक तथा '*उदात्तः*' की ६।१।२१७ तक जायेगी ॥

उञ्छादीनां च ॥६।१।१५४॥

उञ्छादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—उञ्छ आदिर्येषां त उञ्छादयस्तेषां·····बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अन्त उदात्तः ॥ *अर्थः*—उञ्छ इत्येवमादीनां शब्दानामन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—उञ्छः, म्लेच्छः, जञ्जः, जल्पः, जपः, व्यधः ॥

भाषार्थः—[*उञ्छादीनाम्*] उञ्छादि शब्दों को [*च*] भी अन्तोदात्त हो जाता है ॥ उञ्छ से लेकर जल्प तक पढ़े शब्द घञन्त हैं अतः *ञ्नित्या०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त प्राप्त था, तथा जपः व्यधः *व्यधजपोर०* (३।३।६१) से अप् प्रत्ययान्त हैं अतः धातु स्वर से आद्युदात्तत्व प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है ॥

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ॥६।१।१५५॥

अनुदात्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ यत्र अ० ॥ उदात्तलोपः १।१॥ *स०*—उदात्तस्य लोपः, उदात्तलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—उदात्तः ॥ *अर्थः*—यत्र = यस्मिन्ननुदात्ते परतः उदात्तस्य लोपो भवति तस्यानुदात्तस्यादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—कुमारी, पथः, पथा पथे, कुमुद्वान्, नड्वान्, वेतस्वान् ॥ देवीं वाचम् (ऋ० ८।१००।११) ॥

भाषार्थः—[*यत्र*] जिस (अनुदात्त) के परे रहते [*उदात्तलोपः*] उदात्त का लोप होता है, उस [*अनुदात्तस्य*] अनुदात्त को [*च*] भी आदि उदात्त हो जाता है ॥ यहाँ 'अन्तः' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं है अतः व्याख्यान से आदि को उदात्त होता है ॥ कुमार शब्द *फिषोऽन्त उदात्तः* (*फिट्०* १) से अन्तोदात्त है, आगे ङीप् आया, जो कि ३।१।४ से अनुदात्त है । अब उस ङीप् अनुदात्त के परे रहते उदात्त 'र' के उत्तरवर्ती 'अ' का लोप हो गया तो प्रकृत सूत्र से उस 'ई' अनुदात्त को उदात्त हो गया । कुमारी की सिद्धि भाग १ पृ० ७७३ में देखें, स्वर यहाँ दिखा दिया है । देवीं यहाँ भी इसी प्रकार है । पथः आदि में पथिन् शब्द अन्तोदात्त पूर्ववत् है तथा शस् टा, एवं ङे विभक्तियाँ पूर्ववत अनुदात्त है, सो *भस्य टेर्लोपः* (७।१।८८) से टि भाग 'इन्' का अनुदात्त परे लोप हुआ, अतः प्रकृत सूत्र से अनुदात्त विभक्तियाँ उदात्त हो गई । *कुमुदनडवे०* (४।२।८६) से कुमुद, नड तथा वेतस शब्दों से ड्मतुप् प्रत्यय हुआ है, पूर्ववत् प्रातिपदिक अन्तोदात्त एवं प्रत्यय अनुदात्त है । पुनः डित् प्रत्यय मानकर टि भाग (जो कि उदात्त था) का लोप हुआ तो प्रकृत सूत्र से अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप होने से मतुप् के मकारोत्तरवर्ती अकार को उदात्त हो गया ॥ सूत्रार्थ में आदि कहने से मा हि धुक्षाताम्, मा हि धुक्षाथाम् में क्स के उदात्त अकार का लोप (७।३।७२) से होने पर आताम् आथाम् के आदि को होता है अन्यथा अन्त को होता ॥

धातोः ॥६।१।१५६॥

धातोः ६।१॥ *अनु०*—अन्त उदात्तः ॥ *अर्थः*—धातोरन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—पचति, पठति, ऊर्णोति, गोपायतं नः (ऋ० ६।७४।४), असि सत्यः (ऋ० १।८७।४) ॥

भाषार्थः—[*धातोः*] धातु को अन्त उदात्त होता है ॥ पच् पठ् धातु में एक ही अच् है, अतः आदि या अन्त एक ही होने से प का अ उदात्त है । शप् एवं तिप् पित् होने से अनुदात्त हैं, पश्चात् शप् के अ को स्वरित हो जाता है । ऊर्णुञ् में दो अच् होने से अन्त का उदात्त है । अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक् होकर ऊर्णोति में 'ओ' उदात्त है । गोपायतं (लोट्) में तम् (३।४।१०१) परे रहते 'गोपाय'

धातु का य उदात्त है। पश्चात् *तास्यनुदात्तेन्ङि०* (६।१।१८०) से 'तम्' को अनुदात्त होकर *उदात्तादनुदा०* (८।४।६५) से स्वरित हो जाता है। असि में अस् का अकार सिप् परे रहते उदात्त है। *तासस्त्यो०* (७।४।५०) से अस् के सकार का लोप हुआ है॥

चितः ॥६।१।१५७॥

चितः षष्ठ्यर्थे प्रथमा॥ *स०*—चकार इत् यस्य स चित्, बहुव्रीहिः। ततश्चिद् अस्यास्तीति चितः मत्वर्थीयोऽच्॥ *अनु०*—अन्त उदात्तः॥ *अर्थः*—चितोऽन्तोदात्तो भवति॥ *उदा०*—भङ्गुरम्, भासुरम्, कुण्डिनाः॥

भाषार्थः—[*चितः*] चित् है जिस समुदित शब्द में उस शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ चित् यहाँ मत्वर्थीय अकार प्रत्यय मानकर 'चकार इत् वाला जो समुदित शब्द' ऐसा अर्थ किया गया है॥ भङ्गुरम् आदि में *भञ्जभासमिदो घुरच्* (३।२।१६१) से घुरच् चित् प्रत्यय हुआ है। कुण्डिनाः की सिद्धि भाग १ पृ० ८५७ में देखें। कुण्डिन् को कुण्डिनच् आदेश होता है, अतः चित् होने से कुण्डिनाः प्रकृत सूत्र से अन्तोदात्त है, अन्यथा मध्योदात्त कुण्डिनी को हुआ कुण्डिनच् आदेश भी मध्योदात्त होता॥

यहाँ से '*चितः*' की अनुवृत्ति ६।१।१५८ तक जायेगी॥

तद्धितस्य ॥६।१।१५८॥

तद्धितस्य ६।१॥ *अनु०*—चितः, अन्त उदात्तः॥ *अर्थः*—चितस्तद्धितस्यान्त उदात्तो भवति॥ *उदा०*—कौञ्जायनाः, मौञ्जायनाः॥

भाषार्थः—[*तद्धितस्य*] तद्धित जो चित् प्रत्यय उसको अन्तोदात्त हो जाता है॥ *गोत्रे कुञ्जादि०* (४।१।९८) से च्फञ् चित् तद्धित प्रत्यय हुआ है। कौञ्जायन्यः की सिद्धि भाग १ पृ० ८०२ में देखें॥

च्फञ् में परत्वात् ञित् स्वर को बाधने के लिए यह पृथक् सूत्र है। बहुपटवः में 'बहुच्' प्रत्यय के पूर्व होने पर भी पूर्व सूत्र में *चितः* मत्वर्थीय अच् प्रत्यय मानने से यहाँ भी अन्तोदात्त होता है।

यहाँ से '*तद्धितस्य*' की अनुवृत्ति ६।१।१५९ तक जायेगी॥

कितः ॥६।१।१५९॥

कितः ६।१॥ स०—ककार इत् यस्य स कित्, तस्य कितः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तद्धितस्य, अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—कितस्तद्धितस्यान्त उदात्तो भवति ॥ प्रत्ययस्वरापवादोऽयम् ॥ उदा०—नाडायनः चारायणः आक्षिकः, शालाकिकः ॥

भावार्थः—तद्धित संज्ञक जो [कितः] कित् प्रत्यय उसको अन्तोदात्त होता है ॥ नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) से नाडायनः चारायणः में फक् कित् प्रत्यय हुआ है, 'फ' को आयन होकर उसे अन्तोदात्त होता है। आक्षिकः आदि में तेन दीव्यति० (४।४।२) से ठक् प्रत्यय हुआ है। ठ् को को इक् आदेश करके अन्तोदात्त हो जायेगा ॥

तिसृभ्यो जसः ॥६।१।१६०॥

तिसृभ्यः ५।३॥ जसः ६।१॥ अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—तिसृभ्य उत्तरस्य जसोऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—तिस्रस्तिष्ठन्ति, तिस्रो द्यावः सवितुः (ऋ० १।३५।६) ॥

भावार्थः—[तिसृभ्यः] तिसृ शब्द से उत्तर [जसः] जस् को अन्तोदात्त होता है ॥ त्रिचतुरोः स्त्रियां० (७।२।९९) से स्त्रीलिङ्ग में त्रि को तिसृ आदेश होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है ॥ त्रि शब्द प्रातिपदिक (फिट्० १) स्वर से अन्तोदात्त है, अतः उसका आदेश तिसृ भी अन्तोदात्त हुआ, अब तिसृ जस् यहाँ उदात्त के स्थान में यणादेश हुआ, अतः उदात्तस्वरितयो० (८।२।४) से अनुदात्त (३।१।३) जस् के अ को स्वरित प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है ॥

चतुरः शसि ॥६।१।१६१॥

चतुरः ६।१॥ शसि ७।१॥ अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—चतुरः शसि परतोऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—चतुरः पश्य ॥

भावार्थः—[चतुरः] चतुर् शब्द को अन्तोदात्त होता है [शसि] शस् परे रहते ॥ चतुर् शब्द चतेरुरन् (उणा० ५।५९) से उरन् प्रत्ययान्त होने से ञ्नित्यादि० (६।१।१९१) से आद्युदात्त था, उसको शस् परे रहते अन्तोदात्त विधान कर दिया है ॥

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः ॥६।१।१६२॥

सौ ७।१॥ एकाचः ५।१॥ तृतीयादिः १।१॥ विभक्तिः १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् तस्मात्…बहुव्रीहिः। तृतीया आदिर्यस्याः सा तृतीयादिः बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ *अर्थः*—साविति सप्तमी-बहुवचनस्य ग्रहणम्। सौ य एकाच् शब्दस्तस्मात् परा तृतीयादि-र्विभक्तिरुदात्ता भवति ॥ उदा०—वाचा, वाग्भ्याम्, वाग्भिः, वाग्भ्यः। याता, याद्भ्याम्, याद्भिः। वाचा विरूपनित्यया (ऋ० ८।७५।६) ॥

भाषार्थः—'सु' से यहाँ सप्तमीबहुवचन के सुप् का ग्रहण है न कि प्रथमा एकवचन का ॥ [*सौ*] सु के परे रहते जो [*एकाचः*] एक अच् वाला शब्द उससे परे जो [*तृतीयादिः*] तृतीया विभक्ति से लेकर आगे की [*विभक्तिः*] विभक्तियाँ उनको उदात्त होता है ॥ वाच् शब्द का सप्तमी बहुवचन में वाक्षु तथा यात् का यात्सु बनता है, इस प्रकार सु परे रहते ये एकाच् शब्द हैं, अतः तृतीयादि विभक्तियाँ टा, भ्याम् भिस्, भ्यस् आदि उदात्त हो गईं ॥

यहाँ से '*एकाचः तृतीयादिः*' की अनुवृत्ति ६।१।१६३ तक तथा '*विभक्तिः*' की ६।१।१७८ तक जायेगी ॥

अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे ॥६।१।१६३॥

अन्तोदात्तात् ५।१॥ उत्तरपदात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनित्यसमासे ७।१॥ स०—नित्यः समासः नित्यसमासः, कर्मधारयस्त-त्पुरुषः ॥ *अनु०*—एकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नित्याधि-कारे यः समासो विहितस्तस्मादन्यत्रानित्यसमासे यदुत्तरपदमन्तोदात्त-मेकाच् ततः परा तृतीयादिर्विभक्तिर्विकल्पेनोदात्ता भवति ॥ *उदा०*—परमवाचा, परमवाचे। परमत्वचा, परमत्वचे ॥ पक्षे समासस्यान्तो-दात्तत्वमेव ॥

भाषार्थः—[*अनित्यसमासे*] नित्य अधिकार में कहे हुये समास से अन्यत्र जो अनित्यसमास उसमें जो [*अन्तोदात्तात्*] अन्तोदात्त-एकाच् [*उत्तरपदात्*] उत्तरपद उससे उत्तर तृतीयादि विभक्ति [*अन्यतर-स्याम्*] विकल्प से उदात्त होती है ॥ नित्य अधिकार का अभिप्राय है कि "नित्यम्" पद के अधिकार में कहे, तद्यथा *कुगतिप्रादयः*, (२।२।

१९) आदि। जिसका स्वपद विग्रह न हो वह भी नित्य समास कह जाता है, परन्तु वह यहाँ नहीं लिया गया। अतः नित्य अधिकार अन्यत्र जो भी समास हो चाहे उसका स्वपद विग्रह हो या न हो सब विभक्ति को विकल्प से उदात्त होगा। त्वच्, वाच् शब्द एकाच् अन्ते दात्त उत्तरपद उदाहरण में हैं ही। परमवाचा इत्यादि में सन्महत्पर मोत्त० (२।१।६०) से समास हुआ है, जो कि नित्याधिकार में नह है॥ उदाहरणों में जब विभक्ति को उदात्त नहीं होगा तो समास अन्ते दात्त (६।१।२१७) होगा॥

यहाँ से 'अन्तोदात्तात्' की अनुवृत्ति ६।१।१७१ तक जायेगी॥

अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् ॥६।१।१६४॥

अञ्चेः ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ असर्वनामस्थानम् १।१॥ स०—असर्व इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—अञ्चेः पराऽ सर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति छन्दसि विषये॥ *उदा०*—इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (ऋ० १।८४।१३)॥

भाषार्थः—[*अञ्चेः*] अञ्चु धातु से उत्तर [*छन्दसि*] वेद विषय मे [*असर्वनामस्थानम्*] सर्वनामस्थानभिन्न विभक्ति को उदात्त होता है। दध्यञ्चतीति तस्य दधीचः, यहाँ *ऋत्विग्दधृक्०* (३।२।५९) से दधि उप पद रहते अञ्चु धातु से क्विन् प्रत्यय हुआ है। अनुनासिक लोप तथा ङस् परे रहते *अचः* (६।४।१३८) से अकार लोप *चौ* (६।३।१३८) से दीर्घ होकर दधीच् अस् = दधीचः बना है॥

यहाँ से '*असर्वनामस्थानम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१६९ तक जायेगी॥

ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः ॥६।१।१६५॥

ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः ५।३॥ स०—ऊठ् च इदञ्च पदादयश्च अप् च पुम् च रै च द्यौश्च ऊडि...दिवस्तेभ्यः...इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—असर्वनामस्थानम्, अन्तोदात्तात्, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—ऊठ् इदम् पदादि, अप्, पुम्, रै, दिव् इत्येतेभ्य उत्तरासर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति॥ *उदा०*—ऊठ्—प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा। इदम्—आभ्याम्। एभिर्नृभिर्नृतमः। पदादिः—निपद्श्चतुरो जहि, या दुते

धावति । पद्भ्यां भूमिः, दद्भिर्न जिह्वा, अहरहर्जायते मासिमासि (ऋ० १०।५२।३) मनश्चिन्मे हृद आ । अप्— अपः पश्य, अद्भ्यां, अद्भिः, अपां फेनेन (ऋ०८।१४।१३) पुम्—पुंसः, पुंसा, पुंसे, अभ्रातेव पुंसः (ऋ० १।१२४।७), रै—रायः पश्य, राया वयम् (ऋ० ४।४२।१०) रायो धर्त्ता (ऋ० ५।१५।१) दिव्—दिवः पश्य, उप त्वाग्ने दिवे दिवे (ऋ० १।१।७) ॥

भाषार्थः—[*ऊडि...भ्यः*] ऊठ्, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै तथा दिव् शब्दों से उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है, अर्थात् सु से लेकर औट् तक की विभक्तियों को छोड़कर शेष विभक्तियाँ उदात्त होती हैं ॥ अन्तोदात्तात् की अनुवृत्ति का यहाँ यही लाभ है कि अन्वादेश में जो कि अनुदात्त (२।४।३२) होता है वहाँ विभक्ति को उदात्तत्व न हो । पदादि से यहाँ *पद्दन्नोमास्०* (६।१।६१) वाले आदेश पद् से लेकर निश् पर्यन्त लिये जाते हैं ॥ प्रष्ठौहः (२।३) की सिद्धि ६।१।८६ सूत्र पर देखें । आभ्याम् की सिद्धि भाग१ पृ० ६६३ में देखें । एभिः यहाँ केवल *बहुवचने०* (७।३।१०३) से अ को ए हो जाता है । शेष सब स्पष्ट सिद्धियाँ हैं ॥ मासिमासि, दिवेदिवे में *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) से द्विर्वचन और पर आम्रेडितसंज्ञक को *अनुदात्तं च* (८।१।३) से सर्वानुदात्त होता है ॥

अष्टनो दीर्घात् ॥६।१।१६६॥

अष्टनः ५।१॥ दीर्घात् ५।१॥ *अनु०*—असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—दीर्घान्तादष्टनोऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति ॥ *उदा०*—अष्टाभिर्दशभिः (ऋ० २।१८।४), अष्टाभ्यः ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ अन्त वाला जो [*अष्टनः*] अष्टन् शब्द उससे उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है ॥ *अष्टन आ विभक्तौ* (७।२।८४) से अष्टन् के अन्तिम अल् (१।१।५१) न् को आत्व होकर 'अष्टा' दीर्घान्त हो जाता है, तब प्रकृत सूत्र से असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त हो गई ॥ अष्टन् शब्द *घृतादीनां च* (फिट्० २१) से अन्तोदात्त है अतः 'अन्तोदात्तात्' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगाया ॥

शतुरनुमो नद्यजादी ॥६।१।१६७॥

शतुः ५।१॥ अनुमः ५।१॥ नद्यजादी १।२॥ स०—अच् आदिर्यस्याः सा अजादिः, बहुव्रीहिः। नदी च अजादिश्च नद्यजादी, इतरेतरद्वन्द्वः। अनुम इत्यत्र बहुव्रीहिः॥ अनु०—असर्वनामस्थानम्, अन्तोदात्तात्, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—अनुम् यः शतृप्रत्ययस्तदन्तादन्तोदात्तात् परा नदी, अजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिश्चोदात्ता भवति॥ *उदा०*—नदी—तुदती, नुदती, लुनती। पुनती, अच्छा रवं प्रथमा जानती। अजाद्य सर्वनामस्थानविभक्तिः—तुदता, नुदता, लुनता, पुनता, तुदते, तुदतः॥

भाषार्थः—[*अनुमः*] नुम् (आगम) रहित जो अन्तोदात्त [*शतुः*] शतृ प्रत्ययान्त शब्द तदन्त से परे [*नद्यजादी*] नदी संज्ञक प्रत्यय, तथा अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है॥ तुदती, नुदती आदि में *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् प्रत्यय तथा उस ङीप् की *यू स्त्र्याख्यौ०* (१।४।३) से नदी संज्ञा होती है। तुदती, नुदती, में *तुदादिभ्यः शः* (३।१।७७) से श (विकरण) प्रत्यय तथा अन्यों में श्ना (३।१।८१) प्रत्यय हुआ है। श्ना के 'आ' का लोप *श्नाभ्यस्तयो०* (६।४।११२) से होता है। शतृप्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धि का प्रकार भाग १ पृ० ९०० में देखें। तुदता तुदते आदि में अजादि टा, ङे आदि विभक्तियों को उदात्त हुआ है॥

यहाँ से '*नद्यजादी*' की अनुवृत्ति ६।१।१६९ तक जायेगी॥

उदात्तयणो हल्पूर्वात् ॥६।१।१६८॥

उदात्तयणः ५।१॥ हल्पूर्वात् ५।१॥ स०—उदात्तस्य यण् उदात्तयण्, तस्मात्...षष्ठीतत्पुरुषः। हल् पूर्वो यस्य स हल्पूर्वस्तस्मात्...बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—नद्यजादी, असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—उदात्तस्थाने यो यण् हल्पूर्वस्तस्मात् परा नदी अजादिरसर्वनामस्थान-विभक्तिश्चोदात्ता भवति॥ *उदा०*—कर्त्री, हर्त्री, चोदयित्री सूनृतानाम् (ऋ० १।३।११) एषा नेत्री (ऋ० ७।७६।७), कर्त्रा, हर्त्रा, प्रलवित्रे॥

भाषार्थः—[*हल्पूर्वात्*] हल् पूर्व में है जिसके ऐसा जो [*उदात्तयणः*] उदात्त के स्थान में यण् उससे परे नदी संज्ञक प्रत्यय को तथा अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है॥ कर्त्री,

चोदयित्री आदि सब शब्द तृच् प्रत्ययान्त हैं, अतः *चितः* (६।१।१५७) से अन्तोदात्त हैं। उस तृजन्त से परे *ऋन्नेभ्यो ङीप्* (४।१।५) से नदीसंज्ञक ङीप् प्रत्यय हुआ, अब यहाँ उदात्त ऋकार के स्थान में यण् हुआ है, तथा उदात्त यण् से पूर्व हल् है ही सो ङीप् को उदात्त हो गया। इसी प्रकार अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति के उदाहरण कर्त्रा हर्त्रा आदि समझें। *उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य* (८।२।४) से स्वरित की प्राप्ति में यह सूत्र है॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१६८ तक जायेगी॥

नोङ्धात्वोः ॥६।१।१६९॥

न अ०॥ ऊङ्धात्वोः ६।२॥ *स०*—ऊङ् च धातुश्च ऊङ्धातू, तयोः.....इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—उदात्तयणो हल्पूर्वात्, अजादी, असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—ऊङो धातोश्च य उदात्तस्थाने यण् हल्पूर्वस्तस्मात् पराऽजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिर्नोदात्ता भवति॥ *उदा०*—ऊङ्—ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वे', वीरबन्ध्वा, वीरबन्ध्वे'। धातुयणः—सकुल्ल्वा, सकुल्ल्वे', सेत्पृश्निः सुभ्वे३[1] (ऋ०६।६६।३)॥

भाषार्थः—[*ऊङ्धात्वोः*] ऊङ् तथा धातु का जो उदात्त के स्थान में हुआ यण्, हल् पूर्व वाला हो तो उससे उत्तर अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त [*न*] नहीं होता॥

पूर्व सूत्र से प्राप्त था निषेध कर दिया॥ यहाँ ऊङ् तथा धातु से परे 'नदी' सम्भव नहीं, अतः केवल 'अजादी' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध

---

१ जात्य (स्वभाव से) *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) से, क्षैप्र (यण् सन्धि होने पर) *उदात्तस्वरितयो०* (८।२।४) से, प्रश्लेष (सवर्ण दीर्घ) और अभिनिहित (एङ् से परे अकार को पूर्वरूप) सन्धि के कारण *स्वरितो वानुदात्ते०* (८।२।६) से जो स्वरित होता है उससे परे यदि संहिता में उदात्त अक्षर होता है तो स्वरित का कम्प से उच्चारण होता है। स्वरित की पूर्व आधी मात्रा उदात्त होती है (अष्टा० १।२।६२), अतः ह्रस्व में आधा भाग और दीर्घ में तीन भाग अनुदात्त होते हैं। उसे व्यक्त करने के लिए ऐसे स्वरितों से परे १ और ३ संख्या का लेखन किया जाता है। अतः वेद में ऐसे स्थलों पर ३ का अंक देखकर प्लुत का भ्रम नहीं करना चाहिए।

लगाया है ॥ ब्रह्मा बन्धुरस्याः ऐसा विग्रह करके ब्रह्मबन्धु में बहुव्रीहि समास हुआ। आगे ऊङुतः (४।१।६६) से ऊङ् प्रत्यय हुआ जो कि प्रत्ययस्वर से उदात्त है, अब अनुदात्त उकार के साथ उदात्त ऊङ् का दीर्घ एकादेश हुआ जो कि *एकादेश उदात्तेनोदात्तः* (८।२।५) से उदात्त ही हुआ। तत्पश्चात् अनुदात्त 'टा' एवं ङे विभक्ति के परे रहते उदात्त ऊकार को यणादेश हुआ, अतः पूर्व सूत्र से विभक्ति को उदात्त प्राप्त हुआ, पर ऊङ् का यण् होने से प्रकृत सूत्र से निषेध होकर *उदात्तस्वरितयो०* (८।२।४) से विभक्ति को स्वरित हो गया, शेष को अनुदात्त (६।१।१५२) हो ही जायेगा। सकुल्लू शब्द क्विबन्त है, यहाँ सकुत् उपपद रहते लूञ् धातु है, जो कि धातु स्वर से उदात्त है, तत्पश्चात् विभक्ति परे रहते पूर्ववत् 'लू' के उदात्त ऊकार के स्थान में यण् हो गया, शेष पूर्ववत् जानें। यह धातु के उदात्त यण् का उदाहरण है ॥

ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् ॥६।१।१७०॥

ह्रस्वनुड्भ्याम् ५।२॥ मतुप् १।१॥ *स०*—ह्रस्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्तोदात्तात्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—ह्रस्वान्तादन्तोदात्तान्नुटश्च परो मतुब् उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अग्निमान्, वायुमान्, कर्तृमान्, हर्तृमान्। नुटः—अक्षण्वता, शीर्षण्वता, अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः (ऋ० १०।७१।७) ॥

भाषार्थः—अन्तोदात्त [*ह्रस्वनुड्भ्याम्*] ह्रस्वान्त तथा नुट् से उत्तर [*मतुप्*] मतुप् को उदात्त होता है ॥ *तदस्यास्त्य०* (५।२।९४) से मतुप् प्रत्यय होता है, तथा 'अक्षण्वता' आदि में *अनो नुट्* (८।२।१६) से नुट् आगम होता है। अग्नि आदि शब्द प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त हैं। अक्षि शब्द से मतुप् तथा *छन्दस्यपि दृश्यते* (७।१।७६) से अनङ् होकर अक्षनङ् मत् = अक्षन् मत् रहा। पश्चात् नुट् आगम तथा पूर्व नकार का *नलोपः०* (८।२।७) से लोप होकर अक्षण्वता तृतीया एकवचन में बना। इसी प्रकार *शीर्षंश्छन्दसि* (६।१।५९) से शीर्षन् निपातन करके पूर्ववत् शीर्षण्वता बनेगा। णत्व *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से हो जायेगा ॥

यहाँ से '*ह्रस्वः*' तथा '*मतुप्*' की अनुवृत्ति ६।१।१७१ तक जायेगी ॥

नामन्यतरस्याम् ॥६।१।१७१॥

नाम् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—ह्रस्वः, मतुप्, अन्तोदात्तात् विभक्तिः, उदात्तः ॥ 'अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणाम' इति न्यायेन प्रथमान्तो मतुप् सप्तम्यन्तेन विपरिणम्यते ॥ *अर्थः*—मतुपि यो ह्रस्वस्तदन्तादन्तोदात्तात् विकल्पेन नाम् उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अग्नीनाम् । पक्षे—अग्नीनाम् । वायूनाम्, वायूनाम् । चेतन्ती सुमतीनाम् (ऋ० १।३।११)॥

भाषार्थः—अर्थानुरोध से अनुवर्त्यमान प्रथमान्त मतुप् सप्तमी में बदल जाता है ॥ मतुप् प्रत्यय के परे रहते जो ह्रस्वान्त अन्तोदात्त शब्द उससे उत्तर [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*नाम्*] नाम् को उदात्त हो जाता है ॥ यहाँ मतुप् प्रत्यय को ह्रस्व का विशेषण इसलिये बनाया है कि मतुप् के परे रहते जो ह्रस्व रहा हो, नाम् परे रहते चाहे दीर्घ भी हो जावे तो भी नाम् को विकल्प से उदात्तत्व हो जावे ॥ इस प्रकार प्रकृत उदाहरणों में मतुप् परे रहते अग्नि, वायु आदि शब्द ह्रस्वान्त हैं, किन्तु नाम् परे रहते ये दीर्घान्त (६।४।३) हो गये हैं तो भी उदात्तत्व प्रकृत सूत्र से हो जाता है । पक्ष में प्रातिपदिक स्वर से ईकार ऊकार उदात्त होते हैं ॥

यहाँ से '*नाम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१७२ तक जायेगी ।

ङ्याश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१७२॥

ङ्याः ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—नाम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ङ्यन्तात् परो नाम् उदात्तो भवति बहुलम् ॥ *उदा०*—देवसेनानामभिभञ्जतीनाम् (ऋ० १०।१०३।८) बह्वीनां पिता (ऋ० ६।७५।५) । न च भवति बहुलवचनात्—सङ्गमे च नदीनाम् (यजु० २६।१५) ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*ङ्याः*] ङ्यन्त शब्द से उत्तर [*बहुलम्*] बहुल करके नाम् (विभक्ति) को उदात्त होता है ॥ भञ्जती बह्वी आदि ङ्यन्त शब्द हैं । बहुल कहने से कहीं नहीं भी होता ॥

षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः ॥६।१।१७३॥

षट्त्रिचतुर्भ्यः ५।३॥ हलादिः १।१॥ *स०*—षट् च त्रयश्च चत्वारश्च षट्त्रिचत्वारस्तेभ्यः 'इतरेतरद्वन्द्वः । हल् आदिर्यस्याः सा हलादिः, बहु-

व्रीहिः ॥ अनु०—विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्संज्ञकेभ्यस्त्रि चतुर् इत्येताभ्यां च परा हलादिर्विभक्तिरुदात्ता भवति ॥ उदा०—षट्संज्ञकेभ्यः—षड्भिः, षड्भ्यः, षण्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्, आषड्भिर्हूयमानः (ऋ० २।१८।४)। त्रि—त्रिभिः, त्रिभ्यः, त्रयाणाम्, त्रिभिष्ट्वं देव (ऋ० ६।६७।२६)। चतुर्—चतुर्णाम् ॥

भाषार्थः—[*षट्त्रिचतुर्भ्यः*] षट्संज्ञक शब्दों से उत्तर तथा त्रि चतुर् शब्दों से उत्तर [*हलादिः*] हलादि विभक्ति को उदात्त होता है ॥ *ष्णान्ता षट्* (१।१।२३) से षट् संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'षट्त्रिचतुर्भ्यः' की अनुवृत्ति ६।१।१७५ तक जायेगी ॥

झल्युपोत्तमम् ॥६।१।१७४॥

झलि ७।१॥ उपोत्तमम् १।१॥ अनु०—षट्त्रिचतुर्भ्यः, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्त्रिचतुर्भ्यं उत्पन्ना या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पद उपोत्तममुदात्तं भवति ॥ उदा०—पञ्चभिस्तपस्तपति। सप्तभिः परान् जयति। तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता। अध्वर्युभिः पञ्चभिः ॥

भाषार्थः—षट्संज्ञक, त्रि तथा चतुर् शब्द से उत्पन्न जो [*झलि*] झलादि विभक्ति तदन्त शब्द में [*उपोत्तमम्*] उपोत्तम को उदात्त होता है ॥ उपोत्तम क्या है इसके परिज्ञान के लिये भाग २ पृ० ४० सूत्र ४।१।७८ देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१७५ तक जायेगी ॥

विभाषा भाषायाम् ॥६।१।१७५॥

विभाषा १।१॥ भाषायाम् ७।१॥ अनु०—झल्युपोत्तमम्, षट्त्रिचतुर्भ्यः, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्त्रिचतुर्भ्यो या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पद उपोत्तममुदात्तं भवति विकल्पेन भाषायां विषये ॥ उदा०—पञ्चभिः पञ्चभिः। सप्तभिः, सप्तभिः। तिसृभिः, तिसृभिः। चतसृभिः, चतसृभिः ॥

भाषार्थः—षट्संज्ञक, त्रि तथा चतुर् शब्द से उत्पन्न जो झलादि विभक्ति तदन्त शब्द का उपोत्तम [*विभाषा*] विकल्प से [*भाषायाम्*] भाषा विषय में उदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्ति में विकल्पार्थ

यह वचन है, पक्ष में *षट्त्रिच०* (६।१।१७३) से विभक्ति उदात्त होती है ॥

विशेष:—इस सूत्र से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में संस्कृत लोक-भाषा (=बोल चाल की भाषा) थी और उसमें स्वरों का भी प्रयोग होता था। इस विषय में अ० ४।२।७३ से लोक व्यवहृत दात्त गौप्त आदि प्रयोगों में स्वरभेद के लिए प्रत्ययान्तर (=अञ्) का विधान करना भी ज्ञापक है ॥

न गोश्वन्त्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः ॥६।१।१७६॥

न *अ०* ॥ गोश्व ''द्भ्यः ५।३॥ *स०*—सौ अवर्णम्, साववर्णम्, सप्तमी-तत्पुरुषः। गौश्च श्वा च साववर्णञ्च राट् च अङ् च क्रुङ् च कृत् च गोश्व''' कृतस्तेभ्यः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थ:*—गो, श्वन्, साववर्ण=सौ प्रथमैकवचने यदवर्णान्तं, राड्, अङ्, क्रुङ्, कृद् इत्येतेभ्यो यदुक्तं तन्न भवति ॥ *उदा०*—गवा, गवे, गोभ्याम्, गवां शता (ऋ० १।१२६।३), सुगुना, सुगवे, सुगुभ्याम्। श्वन्—शुना, शुने, श्वभ्याम्, शुनश्चिच्छेपम् (ऋ० ५।२।७) परमशुना, परमशुने। साववर्णः—येभ्यः, तेभ्यः, केभ्यः, तेभ्यो द्युम्नम् (ऋ० ५।७६।७) तेषां पाहि श्रुधी हवम् (ऋ० १।२।१)। राट् (क्विबन्त)—राजा, परमराजे। अङ्—प्राङ्क्षा, प्राङ्भ्याम्। क्रुङ्—क्रुञ्चा, परमक्रुञ्चा। कृत्—कृता, परमकृता ॥

भाषार्थ:—[*गो'''कृद्भ्यः*] गो, श्वन्, साववर्ण=सु प्रथमा के एकवचन के परे रहते जो अवर्णान्त शब्द, अङ्, क्रुङ् तथा कृत् से जो कुछ भी ऊपर (स्वरविधान) कह आये हैं, वह [*न*] नहीं होता ॥ 'राट्' यह राज् धातु के क्विबन्त का रूप है। अङ् भी अञ्चु के क्विबन्त का रूप है। क्रुङ् क्विन्नन्त (३।२।५९) है। कृत् भी डुकृञ् अथवा कृती छेदने धातु के क्विबन्त का रूप सूत्र में निर्दिष्ट है ॥ गवा, गवे आदि में *सावेकाचस्तृतीया०* (६।१।१६२) से विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त था उसका निषेध हो गया, प्रातिपदिकस्वर से गो उदात्त रहा। शोभना गावोऽस्येति तेन सुगुना इत्यादि में *अन्तोदात्तादुत्तर०* (६।१।१६३) की प्राप्ति थी, प्रकृत सूत्र से निषेध होकर *नञ्सुभ्याम्* (६।२।१७१) से उत्तरपद को प्राप्त अन्तोदात्तत्व स्वर ही रह गया। शुना परमशुना आदि में भी इसी प्रकार प्राप्ति एवं निषेध समझें। श्वयुव-

मघोना० (६।४।१३३) से यहाँ सम्प्रसारण होता है। यद्, तद् आदि शब्द सु परे रहते अवर्णान्त हैं, यहाँ सावेकाच० (६।१।१६२) से प्राप्ति थी॥ राजा, परमराजे में पूर्ववत् जानें। परमक्रुञ्चा, परमकृता शब्द समास स्वर से अन्तोदात्त हैं॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।१।१७८ तक जायेगी॥

दिवो झल् ॥६।१।१७७॥

दिवः ५।१॥ झल् १।१॥ *अनु०*—न, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—दिवः परा झलादिर्विभक्तिर्नोदात्ता भवति॥ *उदा०*—द्युभ्याम्, द्युभिः, द्युभिरक्तुभिः (ऋ० १।३४।८)॥

भाषार्थः—[*दिवः*] दिव् शब्द से परे [*झलि*] झलादि विभक्ति उदात्त नहीं होती॥ *सावेकाचस्तृ०* (६।१।१६२) तथा *ऊडिदम्पदाद्यप्पु०* (६।१।१६५) से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया, तो प्रातिपदिक स्वर से आद्युदात्त ही हुआ॥

यहाँ से '*झल्*' की अनुवृत्ति ६।१।१७८ तक जायेगी॥

नृ चान्यतरस्याम् ॥६।१।१७८॥

नृ लुप्तपञ्चम्यन्तनिर्देशः॥ च अ०॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—झल्, न, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—नृ इत्येतस्मात् परा झलादिर्विभक्तिर्विकल्पेन नोदात्ता भवति॥ *उदा०*—नृभिः। पक्षे—नृभिः। नृभ्यः, नृभ्यः। नृभ्याम्, नृभ्याम्, नृभिर्येमानः॥

भाषार्थः—[*नृ*] नृ से परे [*च*] भी झलादि विभक्ति को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से उदात्त नहीं होता, अर्थात् होता है॥ *सावेकाचस्तृ०* (६।१।१६२) से विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त हुआ, अतः विकल्पार्थ यह वचन है। एक पक्ष में प्रातिपदिक स्वर एवं पक्ष में विभक्ति को उदात्तत्व होगा॥

तित्स्वरितम् ॥६।१।१७९॥

तित् १।१॥ स्वरितम् १।१॥ *स०*—तकार इत् यस्येति तित्, बहुव्रीहिः॥ *अर्थः*—तित्स्वरितं भवति॥ *उदा०*—चिकीर्ष्यम्, जिहीर्ष्यम्, कार्यम्, हार्यम्॥

भाषार्थः—[*तित्*] तकार इत् संज्ञक है जिसका उसको [*स्वरितम्*] स्वरित होता है ॥ चिकीर्ष जिहीर्ष सन्नन्त धातु से *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् प्रत्यय तथा *अतो लोपः* (६।४।४८) से ष के अ का लोप हुआ है। यत् तित् है, अतः स्वरित होकर शेष को अनुदात्त (६।१।१५२) हो जाता है। कार्य॑म् हार्य॑म् में *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय हुआ है ॥ प्रत्यय आद्युदात्तत्व का यह अपवाद है ॥

तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्त-महन्विङोः ॥६।१।१८०॥

तास्य…शात् ५।१॥ लसार्वधातुकम् १।१॥ अनुदात्तम् १।१॥ अहन्विङोः ६।२॥ स०—अनुदात्त इत् यस्य स अनुदात्तेत्, बहुव्रीहिः। ङकार इत् यस्य स ङित् बहुव्रीहिः। अत् चासौ उपदेशश्च अदुपदेशः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः। तासिश्च अनुदात्तेत् च ङित् च अदुपदेशश्च तास्य…देशम् तस्मात्… समाहारो द्वन्द्वः। लस्य सार्वधातुकम्, लसार्वधातुकम्, षष्ठीतत्पुरुषः। ह्नुश्च इङ् च ह्न्विङौ, इतरेतर-द्वन्द्वः। न ह्न्विङौ अह्न्विङौ, तयोः,…नञ्तत्पुरुषः॥ *अर्थः*—तासेरनु-दात्तेतो ङितोऽकारान्तोपदेशाच्च परं लसार्वधातुकमनुदात्तं भवति, ह्नुङ्, इङ् इत्येताभ्यां परं वर्जयित्वा ॥ उदा०—तासेः—क॒र्त्ता, क॒र्त्तारौ॑ क॒र्त्तार॑ः। अनुदात्तेतः—आस—आस्ते॑, वस—वस्ते॑। ङितः—षूङ्—सूते॑, शीङ्—शेते॑। अदुपदेशात्—तु॒दत॑ः, नु॒दत॑ः, पच॑तः, पठ॑तः॥

भाषार्थः—[*तास्य…शात्*] तासि प्रत्यय, अनुदात्तेत् धातु, ङित् धातु तथा उपदेश में जो अवर्णान्त इन से उत्तर [*लसार्व-धातुकम्*] लकार के स्थान में जो सार्वधातुक संज्ञक तिप् इत्यादि प्रत्यय वे [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त होते हैं, [*अह्न्विङोः*] ह्नुङ् तथा इङ् धातु को छोड़कर। इनके ङित् होने से प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥ प्रत्यय स्वर *आद्युदात्तश्च* (३।१।३) का यह अपवाद सूत्र है ॥ कर्त्तारौ कर्त्तारः में कृ को धातु स्वर के पश्चात् तस् झि प्रत्यय स्वर से उदात्त हुए, पुनः तास् विकरण प्रत्यय स्वर से उदात्त प्राप्त हुआ तब '*सति शिष्टोऽपि विकरण-स्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते*' (पीछे होने वाला विकरणस्वर लसार्व-धातुक स्वर को नहीं बाधता) न्याय से रौ रः उदात्त प्राप्त हुए। तब इस सूत्र (तास्यनुदात्ते०) ने लसार्वधातुक को अनुदात्त का विधान किया।

रौ र: के अनुदात्त होने पर तास् प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ। 'कर्त्ता' आत्मनेपद एकवचन में प्रकृत सूत्र से 'ते' अनुदात्त हुआ, तदादेश 'डा' भी अनुदात्त है 'डा' के डित् होने से तास् का टिलोप होने पर उदात्तनिवृत्तिस्वर से 'डा' उदात्त हो जाता है। आस, वस धातु अनुदात्तेत् हैं, सो पूर्ववत् लसार्वधातुकानुदात्तत्व तथा धातुस्वर से उदात्त होकर पश्चात् अनुदात्त को स्वरित हो गया। तुद, नुद धातुस्वर से उदात्त हैं। तस् प्रत्ययस्वर से उदात्त हुआ। पश्चात् *तुदादिभ्यः शः* (३।१।६६) से श विकरण हुआ वह उपदेशावस्था में अकारान्त है। पूर्ववत् सतिशिष्ट विकरण स्वर से 'तस्' स्वर की बाधा न होने पर अदुपदेश श को मानकर उसे इस सूत्र से अनुदात्त हो गया। इस प्रकार सतिशिष्ट स्वर के नियम से 'श' को विकरण स्वर होने पर 'तु' और 'तः' अनुदात्त हुए। पश्चात् 'तः' स्वरित हो गया। पचतः पठतः में शप् को अदुपदेश मानकर 'तस्' अनुदात्त हुआ। शप् स्वयं पित् होने से अनुदात्त है अतः यह पद धातुस्वर से आद्युदात्त हुआ॥

यहाँ से '*लसार्वधातुकम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१८६ तक जायेगी।

आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् ॥६।१।१८१॥

आदिः १।१॥ सिचः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—उदात्तः॥ *अर्थः*—सिजन्तस्य विकल्पेनादिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—मा हि कार्ष्टाम्, मा हि कार्ष्टाम्। मा हि लाविष्टाम्, मा हि लाविष्टाम्॥

भाषार्थः—[*सिचः*] सिच् अन्त वाले को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*आदिः*] आद्युदात्त होता है॥ कार्ष्टाम् एक पक्ष में प्रकृत सूत्र से आद्युदात्त तथा पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है, इसी प्रकार लाविष्टाम् पक्ष में आद्युदात्त एवं पक्ष में सिच् को हुआ इट् आगम सिच् का भाग माना जाने से सिच् के चित् होने से चित् स्वर से उदात्त होता है। उदाहरणों में *हि च* (८।१।३४) से निघात का प्रतिषेध हो जाता है॥

यहाँ से '*आदिः अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१८२ तक जायेगी॥

स्वपादिहिंसामच्यनिटि ॥६।१।१८२॥

स्वपादिहिंसाम् ६।३॥ अचि ७।१॥ अनिटि ७।१॥ *स०*—स्वप आदिर्येषां ते स्वपादयः, बहुव्रीहिः। स्वपादयश्च हिंश्च स्वपादिहिंसस्तेषां...इतरेतरद्वन्द्वः। अनिटि इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—आदिः, अन्यतरस्याम्, लसार्वधातुकम्, उदात्तः॥ *अर्थः*—स्वपादीनां हिंसेश्च अजादावनिटि लसार्वधातुके परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—स्वपन्ति, स्वपन्ति। श्वसन्ति, श्वसन्ति। हिंसन्ति, हिंसन्ति॥

भाषार्थः—[*स्वपादिहिंसाम्*] स्वपादि धातुओं के तथा हिंस धातु के [*अचि*] अजादि [*अनिटि*] अनिट् लसार्वधातुक परे हो तो विकल्प से आदि को उदात्त हो जाता है॥ लसार्वधातुकम् प्रथमान्त पद जो यहाँ आ रहा था, वह 'अचि अनिटि' के सम्बन्ध से सप्तमी में बदल जाता है॥ झि को अन्ति आदेश करने पर अजादि लसार्वधातुक हो जाता है, अतः स्वपन्ति आदि में पक्ष में आद्युदात्त एवं पक्ष में प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त होता है। हिंसन्ति की सिद्धि भाग १ पृ० ८०६ में देखें॥

यहाँ से '*अच्यनिटि*' की अनुवृत्ति ६।१।१८३ तक जायेगी॥

अभ्यस्तानामादिः ॥६।१।१८३॥

अभ्यस्तानाम् ६।३॥ आदिः १।१॥ *अनु०*—अच्यनिटि, लसार्वधातुकम्, उदात्तः॥ *अर्थः*—अभ्यस्तानामनिट्यजादौ लसार्वधातुके परत आदिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—दधति, दधति, जक्षति, जक्षतु, जाग्रति, जाग्रतु। ये दधति प्रिया वसु (ऋ० ७।३२।१५)॥

भाषार्थः—अजादि अनिट् लसार्वधातुक परे हो तो [*अभ्यस्तानाम्*] अभ्यस्त संज्ञक के [*आदिः*] आदि को उदात्त होता है॥ जक्षति की सिद्धि परि० ६।१।६ में देखें॥ सर्वत्र इसी प्रकार 'अति' अजादि प्रत्यय परे है॥

यहाँ से '*अभ्यस्तानाम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१८६ तक तथा '*आदिः*' की ६।१।१८५ तक जायेगी॥

अनुदात्ते च ॥६।१।१८४॥

अनुदात्ते ७।१॥ च अ०॥ *स०*—अविद्यमानमुदात्तमस्मिन् इत्यनुदात्तम्, तस्मिन्...बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अभ्यस्तानाम्, आदिः, लसार्वधातुकम्,

उदात्तः ॥ *अर्थः*—अविद्यमानोदात्ते च लसार्वधातुके परतोऽभ्यस्तसंज्ञकानामादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—दर्दाति, जहाति, दधाति, जिहीते, मिमीते । दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषे (ऋ० १।९४।१४) ॥

भाषार्थः—[*अनुदात्ते*] जिसमें उदात्त अविद्यमान है, ऐसे लसार्वधातुक के परे रहते [*च*] भी अभ्यस्तसंज्ञक के आदि को उदात्त होता है ॥ डुदाञ् आदि धातुएँ जुहोत्यादि गण में पठित हैं, अतः द्वित्व होकर *उभे अभ्यस्तम्* (६।१।५) से अभ्यस्त संज्ञा हो जायेगी । भाग १ पृ० ७५५ में प्रदर्शित जुहोति की सिद्धि के समान ही सिद्धि प्रकार जानें । ओहाक् त्यागे का 'हा' शेष रहकर जहाति, माङ् से *भृञामित्* (७।४।७६) से अभ्यास को इत्व होकर मिमीते, एवं इसी प्रकार ओहाङ् से जिहीते की सिद्धि जानें । सर्वत्र अविद्यमान उदात्त वाला सार्वधातुक परे है ही ॥ अनुदात्त में बहुव्रीहि समास इस लिए माना गया है कि 'मा हि स्म दधात्' में तिप् के इकार के लोप होने पर भी हो जावे, क्योंकि यहाँ भी 'त्' उदात्त रहित है ।

सर्वस्य सुपि ॥६।१।१८५॥

सर्वस्य ६।१॥ सुपि ७।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—सुपि परतः सर्वशब्दस्यादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—सर्वः, सर्वौ, सर्वे । सर्वे नन्दन्ति यशसा ॥

भाषार्थः—[*सुपि*] सुप् परे रहते [*सर्वस्य*] सर्व शब्द के आदि को उदात्त होता है ॥ उणादि १।१५३ से सर्व शब्द अन्तोदात्त निपातित है, उसे सुप् परे रहते आद्युदात्त कह दिया ॥

भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति ॥६।१।१८६॥

भीह्री......गराम् ६।३॥ प्रत्ययात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ पिति ७।१॥ *स०*—भीह्री० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । पकार इत् यस्य स पित्, तस्मिन् पिति बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अभ्यस्तानाम्, लसार्वधातुकम्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा, जागृ इत्येतेषामभ्यस्तानां पिति लसार्वधातुके परतः प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—बिभेति । जिह्रेति । बिभर्ति । जुहोति, योऽग्निहोत्रं जुहोति । ममत्तु नः

परिज्मा (ऋ० १।१२२।३)। जजनंदिन्द्रम्। दधनंत् (ऋ० १०।७३।१)। दरिद्राति। जागर्त्ति॥

भाषार्थः—[*भीह्री.....गराम्*] भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा तथा जागृ धातु के अभ्यस्त को [*पिति*] पित् लसार्वधातुक परे रहते [*प्रत्ययात्*] प्रत्यय से [*पूर्वम्*] पूर्व को उदात्त होता है॥ *अनुदात्ते च* (६।१।१८४) से अभ्यस्त को आद्युदात्त प्राप्त था, यहाँ प्रत्यय से पूर्व उदात्त कह दिया, अतः 'तिप्' पित् लसार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते उससे पूर्व को उदात्त हुआ है॥ बिभर्त्ति में अभ्यास को *भृञामित्* से इत्व हुआ है। शेष में पूर्ववत् द्वित्व एवं अभ्यास कार्य जानें। ममत्तु मदी हर्षे धातु के लोट् का रूप है, दिवादि गण की होने से श्यन् विकरण होना चाहिये, किन्तु *बहुलं छन्दसि* (२।४।७६) से श्लु होकर द्वित्वादि कार्य हुये हैं। जन, धन धातु से जजनत्, दधनत् लेट् के रूप हैं। लेट् की सिद्धि का प्रकार भाग १ परि० ३।१।३४ में देखें। शेष द्वित्वादि कार्य यहाँ होंगे ही॥

यहाँ से '*प्रत्ययात् पूर्वम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१८७ तक जायेगी॥

लिति ॥६।१।१८७॥

लिति ७।१॥ *स०*—ल् इत् यस्य स लित् तस्मिन् लिति, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—प्रत्ययात् पूर्वम्, उदात्तः॥ *अर्थः*—लिति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति॥ *उदा०*—चिकीर्षकः, जिहीर्षकः॥

भाषार्थः—[*लिति*] ल् जिसका (प्रत्यय का) इत् संज्ञक हो, ऐसे प्रत्यय से पूर्व को उदात्त होता है॥ सिद्धि भाग १ पृ० ७४३ परि० १।१।५७ में देखें॥

आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम् ॥६।१।१८८॥

आदिः १।१॥ णमुलि ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—उदात्तः॥ *अर्थः*—णमुलि परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—लोलूयंलोलूयम्, पक्षे—लोलूयंलोलूयम्॥

भाषार्थः—[*णमुलि*] णमुल् परे रहते (पूर्व धातु को) [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*आदिः*] आदि को उदात्त होता है॥ लोलूय यङन्त धातु से णमुल् प्रत्यय करके 'लोलूयम्' को प्रकृत सूत्र से एक

बार आद्युदात्त एवं एक बार *लिति* (६।१।१८७) सूत्र से प्रत्यय (णमुल्) से पूर्व को उदात्त होकर मध्योदात्त स्वर रहा। तत्पश्चात् णमुलन्त को *आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः* (वा० ८।१।१२) इस वार्त्तिक से द्वित्व हो गया पश्चात् *तस्य परमाम्रेडितम्* (८।१।२) से द्वित्व किये हुये द्वितीय लोलूय की आम्रेडित संज्ञा हो गई, और उसको *अनुदात्तं च* (८।१।३) से अनुदात्त भी हो गया। पश्चात् पूर्वपदस्थ स्वरित को मानकर समस्त अनुदात्तों को एक श्रुति स्वर हो गया।

यहाँ से '*आदिः, अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१९० तक जायेगी॥

अचः कर्त्तृयकि ॥६।१।१८९॥

अचः ६।१॥ कर्त्तृयकि ७।१॥ *स०*—कर्त्तरि विहितो यक् कर्त्तृयक्, तस्मिन्......सप्तमीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—आदिः, अन्यतरस्याम्, उदात्तः, 'अदुपदेशात्' (६।१।१८०) इत्यत्र यत् समस्तमुपदेशग्रहणं तस्यैकदेशमात्रमनुवर्त्तते[1] मण्डूकप्लुतगत्या॥ *अर्थः*—कर्त्तृवाचिनि सार्वधातुके विहितो यो यक् तस्मिन् परत उपदेशे अजन्ता ये धातवस्तेषां विकल्पेनादिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—लूयते केदारः स्वयमेव। लूयते केदारः स्वयमेव। स्तीर्यते केदारः स्वयमेव, स्तीर्यते केदारः स्वयमेव॥

भाषार्थः—[*कर्त्तृयकि*] कर्त्तृवाची सार्वधातुक के परे रहते विहित जो यक् प्रत्यय उस यक् के परे रहते उपदेश में [*अचः*] अजन्त जो धातुएँ उनके आदि को विकल्प से उदात्त हो जाता है॥ कर्मकर्त्ता (जहाँ कर्म कर्त्ता बन जाता है) स्थल में कर्त्तृवाची सार्वधातुक के परे रहते कर्मवद्भाव से यक् विधान *सार्वधातुके यक्* (३।१।६७) से होता है, अतः कर्मकर्त्ता में ही प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होगी॥ जब पक्ष में लूयते आदि को आद्युदात्त नहीं हुआ, तब *तास्यनुदात्ते०* (६।१।१८०) से लसार्वधातुक को निघात करके प्रत्यय स्वर से यक् को ही उदात्तत्व होता है॥

थलि च सेटीडन्तो वा ॥६।१।१९०॥

थलि ७।१॥ च अ०॥ सेटि ७।१॥ इट् १।१॥ अन्तः १।१॥ वा

---

१. द्रष्टव्या-क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तत इति परिभाषा।

अ० ।। अनु०—आदिः, अन्यतरस्याम्, उदात्तः ।। अर्थः—सेटि थलि इट् वा उदात्तो भवति, अन्तो वाऽऽदिर्वाऽन्यतरस्याम् ।। उदा०—लुलविथ, लुलविथ, लुलविथ, लुलविथ, पर्यायेण चत्वारः स्वराः ।।

भाषार्थः—[सेटि थलि] सेट् थल् परे रहते [इट्] इट् को अन्यतरस्याम्=विकल्प से उदात्त होता है एवं [च] चकार से आदि को, [अन्तः] अन्त को [वा] विकल्प से होता है ।।

यहाँ चकार भिन्न क्रम (=अस्थान में) है। इसका सम्बन्ध होगा—थलि सेटि इट् च अन्तो वा। इस प्रकार सेट् थल् परे रहते अनुवर्त्तमान अन्यतरस्याम् जुड़कर इट् को उदात्त करेगा, पक्ष में च से समुच्चीयमान आदि को, तत्पश्चात् 'अन्तो वा' से अन्त को उदात्त विकल्प से होगा, पक्ष में यथाप्राप्त लित् स्वर होगा। इस प्रकार चार स्वर पर्याय से होंगे ।।

ञ्नित्यादिर्नित्यम् ।।६।१।१९१।।

ञ्निति ७।१।। आदिः १।१।। नित्यम् १।१।। स०—ञ्श्च नश्चेति ञ्नौ, ञ्नावितावस्य ञ्नित् तस्मिन् ञ्निति, बहुव्रीहिः ।। अनु०—उदात्तः ।। अर्थः—ञिति निति च नित्यमादिरुदात्तो भवति ।। उदा०—गार्ग्यः, वात्स्यः। नित्—वासुदेवकः, अर्जुनकः, यस्मिन्विश्वानि पौंस्या, सुते दधिष्व नश्चनः ।।

भाषार्थः—[ञ्निति] ञकार और नकार इत् संज्ञक है जिनका ऐसे प्रत्ययों के परे रहते [नित्यम्] नित्य ही [आदिः] आदि को उदात्त होता है ।। गार्ग्यः वात्स्यः में गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय हुआ है, जो कि ञित् है। पौंस्या में पुंस् शब्द से गुणवचनब्राह्म० (५।१।१२३) से ष्यञ् हुआ है। वासुदेवकः, अर्जुनकः में वासुदेवार्जुना० (४।३।९८) से वुन् प्रत्यय हुआ है। चनः में चायृ धातु से नुट् आगम एवं असुन् प्रत्यय हुआ है ।। प्रत्यय स्वर का अपवाद यह सूत्र है ।।

यहाँ से 'आदिः' की अनुवृत्ति ६।१।२१० तक जायेगी ।।

आमन्त्रितस्य च ।।६।१।१९२।।

आमन्त्रितस्य ६।१।। च अ० ।। अनु०—आदिः, उदात्तः ।। अर्थः—आमन्त्रितस्यादिरुदात्तो भवति ।। उदा०—देवदत्त ! देवदत्तौ ! देवदत्ताः !

भाषार्थः—[*आमन्त्रितस्य*] आमन्त्रितसंज्ञक के [च] भी आदि को उदात्त होता है ॥ सम्बोधन की *सामन्त्रितम्* (२।३।४८) से आमन्त्रित संज्ञा होती है ॥

पथिमथोः सर्वनामस्थाने ॥६।१।१९३॥

पथिमथोः ६।२॥ सर्वनामस्थाने ७।१॥ *स०*—पन्थाश्च मन्थाश्च पथिमन्थानौ तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—पथिमथोः सर्वनामस्थाने परत आदिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, अयं पन्थाः (ऋ० ४।१८।१) मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः ॥

भाषार्थः—[*पथिमथोः*] पथिन् तथा मथिन् शब्द को [*सर्वनामस्थाने*] सर्वनामस्थान परे रहते आदि उदात्त हो जाता है ॥ *मन्थः* (उणा० ४।११) से इनि प्रत्ययान्त मथिन् शब्द तथा *पतः स्थ च* (उणा० ४।१२) से इनि प्रत्ययान्त पथिन् शब्द सिद्ध होते हैं। अब ये शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त थे, अतः इन्हें सर्वनामस्थान परे रहते आद्युदात्त कह दिया है ॥ पन्थाः की सिद्धि भाग १ पृ० ७७३ में देखें। इसी प्रकार मन्थाः भी समझें ॥

अन्तश्च तवै युगपत् ॥६।१।१९४॥

अन्तः १।१॥ च अ० ॥ तवै लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ युगपत् अ० ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तवैप्रत्ययान्तस्य शब्दस्यान्तश्चादिश्च युगपद् उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—कर्त्तवै, हर्त्तवै ॥

भाषार्थः—[*तवै*] तवै प्रत्ययान्त शब्द का [*अन्तः*] अन्त [च] और आदि को [*युगपत्*] एक साथ उदात्त होता है ॥ *कृत्यार्थे तवैकेन्केन्य०* (३।४।१४) से कृ हृ धातुओं से तवै प्रत्यय हुआ है ॥ युगपत् इसलिये कहा है कि *अनुदात्तं पद०* (६।१।१५२) से पद में एक को छोड़कर शेष अनुदात्त हो जाते हैं, सो एक ही पद में एक साथ दो उदात्त रह ही नहीं सकते अतः युगपत् कहकर दो के उदात्तत्व का विधान कर दिया। मध्य के अनुदात्त को *नोदात्तस्व०* (८।४।६६) से स्वरित का निषेध हो जाने से *उदात्तादनु०* (८।४।६५) से स्वरित नहीं होता ॥

क्षयो निवासे ॥६।१।१९५॥

क्षयः १।१॥ निवासे ७।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—क्षयशब्द आद्युदात्तो भवति निवासेऽभिधेये ॥ *उदा०*—क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन् = क्षयः, स्वे क्षये शुचिव्रतः ॥

भाषार्थः—[*क्षयः*] क्षय शब्द आद्युदात्त होता है, [*निवासे*] निवास अभिधेय होने पर ॥ क्षय शब्द *पुंसि संज्ञायाम्०* (३।३।११८) से घप्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त प्राप्त था, आद्युदात्त विधान कर दिया ॥ निवास = घर अर्थ से अन्यत्र क्षयः (= नाश) होगा ।

जयः करणम् ॥६।१।१९६॥

जयः १।१॥ करणम् १।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—करणवाची जयशब्द आद्युदात्तो भवति ॥ *उदा०*—जयन्ति तेनेति जयः = अश्वादिः ॥

भाषार्थः—[*करणम्*] करणवाची [*जयः*] जय शब्द आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् ही जय शब्द में करण कारक में घ प्रत्यय होने से अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, आद्युदात्त कह दिया ॥ अन्यत्र जयः (= जीतना) अन्तोदात्त होगा ॥

वृषादीनां च ॥६।१।१९७॥

वृषादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—वृष आदिर्येषां ते वृषादयस्तेषां ···बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—वृषादीनां शब्दानामादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—वृषः, जनः, ज्वरः, ग्रहः, हयः गयः । वाजेभिर्वाजिनीवती (ऋ० १।३।१०) ॥

भाषार्थः—[*वृषादीनाम्*] वृषादि शब्दों के [*च*] भी आदि को उदात्त होता है ॥ वृषादि गण आकृतिगण है । इनमें वृष शब्द *इगुपध०* (३।१।१३५) से कप्रत्ययान्त तथा अन्य सब शब्द पचाद्यच् (३।१।१३४) प्रत्ययान्त हैं, अतः अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था । वाज शब्द घञन्त है, उसे *कर्षात्वतो०* (६।१।१५३) से अन्तोदात्त प्राप्त था, आद्युदात्त कह दिया, आगे भिस् विभक्ति आकर वाजेभिः बना ॥

संज्ञायामुपमानम् ॥६।१।१९८॥

संज्ञायाम् ७।१॥ उपमानम् १।१॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—उपमानशब्दः संज्ञायामाद्युदात्तो भवति ॥ उदा०—चञ्चा, वद्‌ध्रिका, खरकुटी, दासी ॥

भाषार्थः—[उपमानम्] उपमानवाची शब्द को [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में आद्युदात्त होता है ॥ संज्ञायाम् (५।२।९७) से चञ्चा आदि शब्दों में कन् प्रत्यय होकर लुम्मनुष्ये (५।३।९८) से लुप् होता है। ये सभी उपमानवाची शब्द हैं। इन सब में अपना मूल स्वर अन्तोदात्त है। जब ये शब्द उपमानवाचक होते हुए किसी के लिये संज्ञा रूप से प्रवृत्त होते हैं, तब इस सूत्र का विषय होता है ॥

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ६।१।१९९ तक जायेगी ॥

निष्ठा च द्व्यजनात् ॥६।१।१९९॥

निष्ठा १।१॥ च अ० ॥ द्व्यच् १।१॥ अनात् १।१॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् तत् द्व्यच्, बहुव्रीहिः। न आत् अनात्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—संज्ञायाम्, आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—निष्ठान्तं च द्व्यच् संज्ञायां विषये आद्युदात्तं भवति, न त्वाकारः ॥ उदा०—दत्तः, गुप्तः, बुद्धः ॥

भाषार्थः—[निष्ठा] निष्ठान्त शब्द जो [द्व्यच्] दो अचों वाला उसे [च] भी आदि को उदात्त होता है, [अनात्] आकार को छोड़कर, अर्थात् उदात्तभावी आकार न हो ॥ दत्तः की सिद्धि भाग १ पृ० ९१२ में देखें। गुप्तः गुपू रक्षणे धातु से तथा बुद्धः बुध अवगमने धातु से बना है। दत्त आदि शब्द निष्ठान्त द्व्यच् हैं, अतः आद्युदात्त हो गया है ॥ प्रत्यय स्वर (३।१।३) का अपवाद यह सूत्र है ॥

शुष्कधृष्टौ ॥६।१।२००॥

शुष्कधृष्टौ १।२॥ स०—शुष्क० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—शुष्क धृष्ट इत्येतावाद्युदात्तौ भवतः ॥ उदा०—शुष्कः। अतसं न शुष्कम् (ऋ० ४।४।४), धृष्टः ॥

भाषार्थः—[शुष्कधृष्टौ] शुष्क तथा धृष्ट शब्द को आद्युदात्त होता है। पूर्व सूत्र से ही सिद्ध था, पुनः असंज्ञा विषय में भी हो जाये इसलिये यह सूत्र है ॥ शुष शोषणे धातु से शुषः कः (८।२।५१) से निष्ठा

'क' आदेश करके शुष्कः शब्द बनता है। धृष्टः में ञिधृषा धातु है, निष्ठा को ष्टुत्व करके धृष्टः बन जायेगा ॥

आशितः कर्त्ता ॥६।१।२०१॥

आशितः १।१॥ कर्त्ता १।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—आशितशब्दः कर्त्तृवाची आद्युदात्तो भवति ॥ *उदा०*—आशितो देवदत्तः ॥ कृषन्नित्फाल आशितम् (ऋ० १०।११७।७) ॥

भाषार्थः—[*कर्त्ता*] कर्त्तृवाची [*आशितः*] आशित शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ 'आङ् पूर्वक अश भोजने धातु से कर्त्ता कारक में क्त निपातन से हो' ऐसा भाष्य में कथित होने से यहाँ कर्त्ता में क्त हुआ है ॥ 'अश' धातु सकर्मक है कर्म की अविवक्षा होने पर धातु अकर्मक हो जाती है अतः कर्त्ता में क्त हुआ ॥ *थाथघञ्क्ता०* (६।२।१४३) से अन्तोदात्त की प्राप्ति थी, आद्युदात्त कह दिया ॥

रिक्ते विभाषा ॥६।१।२०२॥

रिक्ते ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—रिक्तशब्दे विभाषा आदिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—रिक्तः, रिक्तः ॥

भाषार्थः—[*रिक्ते*] रिक्त शब्द में [*विभाषा*] विकल्प से आद्युदात्तत्व होता है ॥ रिचिर् विरेचने धातु से क्त में रिक्तः बना है ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।१।२०३ तक जायेगी ॥

जुष्टार्पिते च च्छन्दसि ॥६।१।२०३॥

जुष्टार्पिते १।२॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—जुष्टा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा, आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—जुष्ट अर्पित इत्येते शब्दरूपे विकल्पेन छन्दसि विषये आद्युदात्ते भवतः ॥ *उदा०*—जुष्टः, जुष्टः । अर्पितः, अर्पितः ॥

भाषार्थः—[*जुष्टार्पिते*] जुष्ट तथा अर्पित इन शब्दों को [*च*] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में विकल्प से आद्युदात्त होता है ॥ प्रत्यय स्वर का अपवाद यह सूत्र है, अतः पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त ही होता है ॥

यहाँ से '*जुष्टार्पिते*' की अनुवृत्ति ६।१।२०४ तक जायेगी ॥

नित्यं मन्त्रे ॥६।१।२०४॥

नित्यम् १।१॥ मन्त्रे ७।१॥ *अनु०*—जुष्टार्पिते, आदिः, उदात्तः । *अर्थः*—जुष्ट अर्पित इत्येते शब्दरूपे मन्त्रविषये नित्यमाद्युदात्ते भवतः । *उदा०*—जुष्टं देवानाम्, अर्पितं पितॄणाम् ॥

भाषार्थः—जुष्ट अर्पित इन शब्दों को [*मन्त्रे*] मन्त्र विषय में [*नित्यम्*] नित्य ही आद्युदात्त होता है ॥ छन्द से वेद ब्राह्मण आदि का ग्रहण होता है तथा मन्त्र से केवल मन्त्रों का ही । परन्तु गौणी वृत्ति से मन्त्र शब्द से ब्राह्मण और उपनिषद् में आये विशिष्ट वचनों का भी ग्रहण होता है ॥

युष्मदस्मदोर्ङसि ॥६।१।२०५॥

युष्मदस्मदोः ६।२॥ ङसि ७।१॥ *स०*—युष्मद् च अस्मद् च युष्मदस्मदौ, तयो''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—युष्मद् अस्मद् इत्येतयोः शब्दयोः ङसि परत आदिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—तवं स्वम्, ममं स्वम् । महिषस्तवंनो ममं ॥

भाषार्थः—[*युष्मदस्मदोः*] युष्मद् अस्मद् शब्दों के आदि को [*ङसि*] ङस् परे रहते उदात्त होता है ॥ *युष्यसिभ्यां मदिक्* (उणा० १।१३९) इस उणादि से युष्मद् अस्मद् शब्द मदिक् प्रत्ययान्त हैं, अतः प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त हैं, उन्हें ङस् परे आद्युदात्त कह दिया ॥ तव मम की सिद्धि भाग१ पृ० ८४३ में देखें ॥

यहाँ से '*युष्मदस्मदोः*' की अनुवृत्ति ६।१।२०६ तक जायेगी ॥

ङयि च ॥६।१।२०६॥

ङयि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः, आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—ङयि च परतो युष्मदस्मदोरादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—तुभ्यम्, मह्यम् । तुभ्यं हिन्वानः (ऋ० २।३६।१), मह्यं वातः पवताम् ॥

भाषार्थः—[*ङयि*] ङे विभक्ति परे रहते [*च*] भी युष्मद् अस्मद् को आद्युदात्त होता है ॥ *तुभ्यमह्यौ ङयि* (७।२।९५) से ङे परे रहते युष्मद् अस्मद् को क्रमशः तुभ्य मह्य आदेश होकर तथा 'ङे' को *ङे प्रथमयोरम्* (७।१।२८) से अम् आदेश होकर तुभ्यम् मह्यम् बनते हैं ॥

यतोऽनावः ॥६।१।२०७॥

यतः ६।१॥ अनावः ५।१॥ स०—न नौः, अनौः तस्मात्, ...नञ्तत्पुरुषः ॥। अनु०—आदिः, उदात्तः। *निष्ठा च द्व्य०* (६।१।१९९) इत्यतः 'द्व्यच्' अनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—यत्प्रत्ययान्तस्य द्व्यच आदिरुदात्तो भवति, न चेत् नौशब्दात् परो भवति ॥ *उदा०*—चेयम्, जेयम् युञ्जन्त्यस्य काम्या (ऋ० १।६।२) ॥

भाषार्थः—[*यतः*] यत् प्रत्ययान्त जो दो अचों वाले शब्द उनको आद्युदात्त होता है, [*अनावः*] नौ शब्द को छोड़कर, अर्थात् यत् प्रत्ययान्त जो दो अचों वाला 'नाव्यम्' शब्द है उसे आद्युदात्त न हो ॥ काम्या में *कमेर्णिङ्* (३।१।३०) से णिङ् प्रत्यय होकर 'कामि' धातु बन गई, तब *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् प्रत्यय हुआ है। *णेरनिटि* (६।४।५१) से णिङ् के 'इ' का लोप हो ही जायेगा ॥ यह सूत्र *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) का अपवाद है ॥

ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः ॥६।१।२०८॥

ईडवन्दवृशंसदुहाम् ६।३॥ ण्यतः ६।१॥ स०—ईडवन्द० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह इत्येतेषां यो ण्यत् तदन्तस्यादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—ईड्यम्। ईड्यो नूतनैरुत (ऋ० १।१।२) । वन्द्यम् । आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्च (ऋ० १०।११०।३) । वार्यम् । श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम् (ऋ० १०।२४।२) । शंस्यम्, उक्थमिन्द्राय शंस्यम् (ऋ० १।१०।५) । दोह्या धेनुः ॥

भाषार्थः—[*ईड...दुहाम्*] ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह इन धातुओं का जो [*ण्यतः*] ण्यत्, तदन्त शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय सर्वत्र हुआ है। *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) की प्राप्ति थी, तदपवाद है ॥

विभाषा वेण्विन्धानयोः ॥६।१।२०९॥

विभाषा १।१॥ वेण्विन्धानयोः ६।२॥ स०—वेण्वि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—वेणु इन्धान इत्येतयोर्विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—वेणुः, वेणुः । इन्धानः, इन्धानः, इन्धानः । इन्धानो अग्निम् (ऋ० २।२५।१) ॥

भाषार्थः—[*वेण्विन्धानयोः*] वेणु, इन्धान इन शब्दों के आदि को [*विभाषा*] विकल्प से उदात्त होता है ॥ वेणु शब्द *अजिवृरीभ्यो नित्* (उणा० ३।३८) से णु प्रत्ययान्त है। नित्वत् होने से *ञ्नित्यादिर्नि०* (६।१।१९१) से पक्ष में आद्युदात्त भी होता है। ञिइन्धी धातु से इन्धान शब्द भी *ताच्छील्यवयो०* (३।२।१२९) से चानश् प्रत्ययान्त है, अतः पक्ष में *चितः* (६।१।१५७) से अन्तोदात्त होगा। यदि इन्धान शब्द को शानच् प्रत्ययान्त मानें तो शानच् के परे रहते श्नम् विकरण होगा तो इ न न्ध् आन इस अवस्था में *श्नान्नलोपः* (६।४।२३) से 'न्' का लोप होगा। '*सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते*' से शानच् को चित् होने से अन्तोदात्त प्राप्त होगा, किन्तु '*तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते*' (किसी धातु या प्रातिपदिक के मध्य में पड़ा शब्द जिसके मध्य में पड़ा है उसके ग्रहण से गृहीत होता है) न्याय से धात्वन्तर्गत मानकर इन्ध के अनुदात्तेत् होने से *तास्यनुदात्तेत्०* (६।१।१८०) से लसार्वधातुक अनुदात्त होगा और श्नम् विकरण प्रत्यय स्वर से उदात्त होगा। पुनः श्नम् विकरण के अकार का लोप *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से अनुदात्त 'आन' के परे रहते हो जाता है, अतः *अनुदात्तस्य च यत्रो०* (६।१।१५५) द्वारा उदात्त निवृत्ति स्वर से मध्योदात्त स्वर होगा। दोनों प्रकार के चिह्न उपर्युक्त उदाहरणों में दिखा दिये हैं। चानश् शानच् दोनों में इसी प्रकार सिद्धि होगी, केवल स्वर में उपर्युक्त भेद रहेगा ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।१।२१० तक जायेगी ॥

त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम् ॥६।१।२१०॥

त्याग' 'नाम् ६।३॥ *स०*—त्याग० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा, आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ इत्येतेषामादिरुदात्तो भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*—त्यागः, त्यागः। रागः, रागः। हासः, हासः, कुहः, कुहः। श्वठः, श्वठः। क्रथः, क्रथः ॥

भाषार्थः—[*त्याग' 'नाम्*] त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ इन शब्दों के आदि को विकल्प से उदात्त होता है ॥ त्याग, राग, हास घञन्त शब्द हैं, अतः *कर्षात्वतो घञो०* (६।१।१५३) से अन्तोदात्त प्राप्त था जो कि पक्ष में हो गया। कुह, श्वठ, क्रथ भी *पचाद्यच्* (३।१।१३४) प्रत्ययान्त हैं, अतः पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता है ॥

उपोत्तमं रिति ॥६।१।२११॥

उपोत्तमम् १।१॥ रिति ७।१॥ *स०*—रेफ इत् यस्य स रित् तस्मिन् रिति, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—उदात्तः ॥ सौत्रः सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यो भवन्तीति नियमात् रिदन्तस्य इत्यर्थो भवति ॥ *अर्थः*—रिदन्तस्य उपोत्तमसुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—करणीयम्, हरणीयम्, पटुजातीयः, मृदुजातीयः ॥

भाषार्थः—[*रिति*] रेफ इत् वाले शब्द के [*उपोत्तमम्*] उपोत्तम को उदात्त होता है ॥ करणीयं हरणीयं में *अनीयर्* (३।१।९६) रित् प्रत्यय हुआ है, अतः तदन्त शब्द का उपोत्तम उदात्त हुआ है। पटुजातीयः आदि में *प्रकारवचने जातीयर्* (५।३।६९) से जातीयर् रित् प्रत्यय हुआ है ॥ तीन या तीन से अधिक स्वरों वाले शब्दों का अन्त्य अक्षर उत्तम कहाता है, उसके समीप वाला पूर्व वर्ण उपोत्तम होता है। देखें भाग २ सूत्र ४।१।७८ ॥

यहाँ से '*उपोत्तमम्*' की अनुवृत्ति ६।१।२१२ तक जायेगी ॥

चङ्यन्यतरस्याम् ॥६।१।२१२॥

चङि ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—उपोत्तमम्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—चङन्तस्याऽन्यतरस्यामुपोत्तमसुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—मा हि चीकरताम्, मा हि चीकरताम् ॥

भाषार्थः—[*चङि*] चङन्त शब्द के उपोत्तम को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके उदात्त होता है ॥ अचीकरत् की सिद्धि भाग १ पृ० ८२३ में की है। ठीक उसी प्रकार यहाँ द्विवचन तस् को *तस्थस्थ०*(३।४।१०१) से ताम् आदेश होकर तथा *न माङ्योगे* (६।४।७४) से अट् का निषेध होकर 'चीकरताम्' बना है। चीकरताम् के 'हि' से उत्तरवर्ती तिङन्त होने से, *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से प्राप्त निघात का *हि च* (८।१।३४) से प्रतिषेध होता है। ताम् लसार्वधातुक को चङ् को अदुपदेश मानकर *तास्यनुदात्ते०* (६।१।१८०) से अनुदात्त हो गया, तब प्रत्यय स्वर से चङ् का अ जो 'र्' में मिला है, उसको ही उदात्त प्राप्त था, प्रकृत सूत्र ने चङन्त अर्थात् 'चीकर' इतने शब्द के उपोत्तम को उदात्त कह दिया अतः 'क' का 'अ' उदात्त हो गया; पक्ष में र प्रत्यय स्वर से उदात्त होगा ही ॥

मतोः पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम् ॥६।१।२१३॥

मतोः ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ आत् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ *अनु०*—उदात्तः ॥ *अर्थः*—मतोः पूर्वो य आकार स उदात्तो भवति, तच्चेत् मत्वन्तं शब्दरूपं स्त्रीलिङ्गे संज्ञा स्यात् ॥ *उदा०*—उदुम्बरावती, पुष्करावती, वीरणावती, शरावती ॥

भाषार्थः—[*मतोः*] मतुप् से [*पूर्वम्*] पूर्व [*आत्*] आकार को उदात्त होता है, यदि वह मत्वन्त शब्द [*स्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग में [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषयक हो तो ॥ उदुम्बरावती आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में हैं, तथा किन्हीं नदियों की ये संज्ञायें हैं, अतः मतुप् से पूर्व आकार को उदात्त हो गया है। मतुप् के म् को व् *संज्ञायाम्* (८।२।११) से हुआ है ॥ चातुरर्थिक *नद्यां मतुप्* (४।२।८४) से मतुप् हुआ है। मतुप् परे रहते पूर्व को *मतौ बह्वचो०* (६।३।११७) से दीर्घ हुआ है। शरावती में *शरादीनां च* (६।३।११८) से होता है ॥ ङीप् (४।१।६) के पित् होने से अनुदात्तत्व है ॥

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ६।१।२१५ तक जायेगी ॥

अन्तोऽवत्याः ॥६।१।२१४॥

अन्तः १।१॥ अवत्याः ६।१॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अवतीशब्दान्तस्य संज्ञायां विषयेऽन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अजिरवती, खदिरवती, हंसवती, कारण्डवती ॥

भाषार्थः—[*अवत्याः*] अवती शब्दान्त को संज्ञा विषय में [*अन्तः*] अन्त उदात्त होता है ॥ उपर्युक्त उदाहरण संज्ञा विषय में हैं, तथा अवती शब्द अन्त में है ही ॥ ङीप् प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्तत्व प्राप्त था उसे इस सूत्र से उदात्त कह दिया ॥

यहाँ से '*अन्तः*' की अनुवृत्ति ६।१।२१७ तक जायेगी ॥

ईवत्याः ॥६।१।२१५॥

ईवत्याः ६।१॥ *अनु०*—अन्तः, संज्ञायाम्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—ईवतीशब्दान्तस्यान्त उदात्तो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—अहीवती, कृषीवती, मुनीवती ॥

भाषार्थः—[*ईवत्याः*] ईवती शब्दान्त शब्द को संज्ञा विषय में अन्त

उदात्त होता है ॥ पूर्ववत् म को व तथा *शरादीनां च* (६।३।११८) से दीर्घत्व जानें ॥ पूर्ववत् अनुदात्तत्व की प्राप्ति थी, उदात्त कह दिया ॥

चौ ॥६।१।२१६॥

चौ ७।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अञ्चतेः नकाराकारलोपं कृत्वा 'चौ' इति निर्देशः ॥ चौ परतः पूर्वस्यान्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—दधीचः पश्य, दधीचा, दधीचे । मधूचः, मधूचा, मधूचे ॥

भाषार्थः—अञ्चु धातु के अकार नकार का लोप करके जो 'चु' रूप रहता है, उसका यहाँ सप्तमी से निर्देश है ॥ [चौ] चु परे रहते पूर्व को अन्त उदात्त होता है ॥ दध्यञ्चन्तीति तान् दधीचः । यहाँ दधि उपपद रहते अञ्चु धातु से क्विन् (३।२।५९) हुआ है । *गतिकारकोपपदात्०* (६।२।१३२) से उत्तरपद प्रकृति स्वर होने पर अञ्चु का अ धातुस्वर से उदात्त है, *अनिदितां०* (६।४।२४) से नकार लोप हो गया, तथा क्विन् का सर्वापहारी लोप होकर अजादि असर्वनामस्थान शस्, टा आदि विभक्ति परे रहते अञ्चु के उदात्त अकार का *अचः* (६।४।१३८) से लोप हो गया । *अनुदात्तौ०* (३।१।४) से विभक्ति अनुदात्त थी, अतः अनुदात्त विभक्ति परे रहते उदात्त 'अ' का लोप होने से *अनुदात्तस्य०* (६।१।१५५) से उदात्त निवृत्ति स्वर अर्थात् विभक्ति को उदात्त प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है । इसी प्रकार मधूचः आदि में समझें ॥ चु से पूर्व दधि एवं मधु हैं, सो उसके अन्त इकार उकार को उदात्त तथा चौ (६।३।१३६) से दीर्घ हो गया ॥

समासस्य ॥६।१।२१७॥

समासस्य ६।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—समासस्यान्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—राजपुरुषः, ब्राह्मणकम्बलः, कन्यास्वनः, पटहशब्दः, नदीघोषः, राजपृषत्, ब्राह्मणसमित् ॥

भाषार्थः—[*समासस्य*] समास का अन्त उदात्त होता है ॥ समास के भिन्न भिन्न पदों को पृथक् २ स्वर प्राप्त होते हैं, इस सूत्र से समास का एक ही स्वर अन्तोदात्त विधान कर दिया, अन्यथा राजपुरुषः आदि में यथाप्राप्त 'राजन्' पद का अलग स्वर एवं 'पुरुष' का अलग स्वर होता, अब सब हटकर अन्तोदात्त ही होगा ॥ उदात्तादि स्वर अचों का ही धर्म है, अतः जो अच् अन्त में होगा उसे ही स्वर होगा, अन्त में हल् होने

पर उसे नहीं होगा, जैसा कि 'ब्राह्मणसमित्' आदि में है। यहाँ त् के अन्त में होने पर भी त् के हल् होने से मि के 'इ' को उदात्त होगा, त् को नहीं हो सकता ॥

विशेषः—आगे छठे अध्याय का सम्पूर्ण द्वितीय पाद इस 'समासस्य' सूत्र का ही अपवादरूप कहेंगे ॥

॥ इति प्रथमः पादः ॥

—:०:—

द्वितीयः पादः

[प्रकृतिस्वरप्रकरणम्]

बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥६।२।१॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ प्रकृत्या ३।१॥ पूर्वपदम् १।१॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदस्य यः स्वरः स प्रकृत्या भवति, न विकारमनुदात्तत्वमापद्यत इत्यर्थः ॥ *उदा०*—कार्ष्णोत्तरासङ्गाः, यूपवलजः, ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः, स्नातकपुत्रः, अध्यापकपुत्रः, श्रोत्रियपुत्रः, मनुष्यनाथः, सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ॥

भाषार्थः—[*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में [*पूर्वपदम्*] पूर्वपद को [*प्रकृत्या*] प्रकृति स्वर होता है॥ 'समासस्य' से समास को अन्तोदात्त होकर शेष पद अनुदात्त (६।१।१५२) होने से पूर्वपद को अनुदात्तत्व ही होता, अब प्रकृतिस्वर विधान करने से, पूर्वपद का समास करने से पूर्व जो स्वर था वही हो जावेगा, अन्तोदात्तत्व (६।१।२१७) नहीं होगा ॥

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक तथा '*पूर्वपदम्*' की ६।२।१०९ तक जायेगी ॥

उदाहरणों में पूर्वपद के स्वरों की सिद्धि परिशिष्ट में देखें।

तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीया-कृत्याः ॥६।२।२॥

तत्पुरुषे ७।१॥ तुल्यार्थ०……कृत्याः १।३॥ *स०*—तुल्योऽर्थो यस्य तत् तुल्यार्थम्, बहुव्रीहिः। तुल्यार्थश्च तृतीया च सप्तमी च उपमानञ्च

अव्ययञ्च द्वितीया च कृत्याश्च तुल्या०·····कृत्याः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समासे तुल्यार्थं, तृतीयान्तं, सप्तम्यन्तम्, उपमानवाचि, अव्ययं, द्वितीयान्तं, कृत्यान्तं च यत् पूर्वपदं तत् प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—तुल्यार्थ—तुल्यश्वेतः, तुल्यलोहितः, तुल्यमहान्, सदृक्श्वेतः, सदृक्लोहितः, सदृक्महान्, सदृशश्वेतः, सदृशलोहितः सदृशमहान्। तृतीया—शङ्कुलाखण्डः, किरिकाणः। सप्तमी—अक्षशौण्डः पानशौण्डः। उपमानवाची—शस्त्रीश्यामा, कुमुदश्येनी, हंसगद्गदा, न्यग्रोधपरिमण्डला, दूर्वाकाण्डश्यामा, शरकाण्डगौरी। अव्यय—अब्राह्मणः, अवृषलः, कुब्राह्मणः, कुवृषलः, निर्वाराणसिः, निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वः, अतिमालः। द्वितीया—मुहूर्त्तसुखम्, मुहूर्त्तरमणीयम्, सर्वरात्रकल्याणी सर्वरात्रशोभना। कृत्य—भोज्योष्णम्, भोज्यलवणम्, पानीयशीतम्, हरणीयचूर्णम् ॥

भाषार्थः—[*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में [*तुल्यार्थ*·····*कृत्याः*] तुल्य अर्थ वाले, तृतीयान्त सप्तम्यन्त उपमानवाची अव्यय द्वितीयान्त तथा कृत् प्रत्ययान्त जो पूर्वपद में स्थित शब्द हैं, उन्हें प्रकृति स्वर होता है॥ अव्यय से यहाँ नञ् कु और निपातों का ही ग्रहण होता है, अव्यय सामान्य का नहीं। पूर्वपद का स्वर परिशिष्ट में देखें।

यहाँ से '*तत्पुरुषे*' की अनुवृत्ति ६।२।२४ तक जायेगी॥

वर्णो वर्णेष्वनेते ॥६।२।३॥

वर्णः १।१॥ वर्णेषु ७।३॥ अनेते ७।१॥ *स०*—न एतोऽनेतस्तस्मिन्,····नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—वर्णवाचिनि उत्तरपदे एतशब्दवर्जिते तत्पुरुषे समासे वर्णवाचि पूर्वपदं प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—कृष्णसारङ्गः, लोहितसारङ्गः, कृष्णकल्माषः, लोहितकल्माषः ॥

भाषार्थः—[*वर्णेषु*] वर्णवाची शब्द के उत्तरपद में रहते [*वर्णः*] वर्णवाची पूर्वपद को तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर हो जाता है, [*अनेते*] एत शब्द यदि उत्तरपद में न हो तो॥ एत शब्द भी वर्णवाची है, अतः उसका निषेध कर दिया॥ *कृषेर्वर्णे* (*उणा० ३।४*) इस उणादि सूत्र से कृष्ण शब्द नक् प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय स्वर से उदाहरणों में पूर्वपद स्थित कृष्ण शब्द अन्तोदात्त रहा। *रुहे रश्च लो वा* (*उणा० ३।९४*)

से लोहित शब्द तन् प्रत्ययान्त है, अतः *ञ्नित्या०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। उदाहरणों में *वर्णो वर्णेन* (२।१।६८) से समास हुआ है ॥

गाधलवणयोः प्रमाणे ॥६।२।४॥

गाधलवणयोः ७।२॥ प्रमाणे ७।१॥ *स०*—गाधश्च लवणञ्च गाधलवणे तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे गाध लवण इत्येतयोः उत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—शम्बगाधमुदकम्, अरित्रगाधमुदकम्, गोलवणम्, अश्वलवणम् ॥

भाषार्थः—[*प्रमाणे*] प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में [*गाधलवणयोः*] गाध लवण इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है ॥ *शमेर्बन्* (*उणा०* ४।९४) से शम्ब शब्द बन् प्रत्ययान्त है, अतः नित् स्वर से आद्युदात्त है। अरित्र शब्द *अर्तिलूधू०* (३।२।१८४) से इत्र प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है। गो शब्द *गमेर्डोः* (*उणा०* २।६७) से डो प्रत्ययान्त प्रत्ययस्वर से उदात्त है। अश्व शब्द *अशुप्रुषिलटि०* (*उणा०* १।१५१) से क्वन् प्रत्ययान्त होने से (६।१।१९१) आद्युदात्त है। पूर्वपद के सारे स्वर दर्शा दिये हैं, प्रकृति स्वर होने से यही स्वर होंगे ॥ *उदा०*—शम्बगाधमुदकम्, अरित्रगाधमुदकम् (नौका के डाँडे भर गहरा जल), गोलवणम् (जितना नमक गाय को दिया जाता है उतना नमक)। अश्वलवणम् (जितना नमक घोड़े को दिया जाता है उतना नमक) सर्वत्र उदाहरणों में प्रमाण की प्रतीति हो रही है, षष्ठी समासवाले ये शब्द हैं ॥

दायाद्यं दायादे ॥६।२।५॥

दायाद्यम् १।१॥ दायादे ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ दातव्यो दायः, भागो अंश इत्यर्थः। दायमादत्ते इति दायादः, मूलविभुजादित्वात् (वा० ३।२।५) कप्रत्ययः। दायादस्य भावो दायाद्यम् ॥ *अर्थः*—दायाद शब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे दायाद्यवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—विद्यादायादः, धनदायादः ॥

भाषार्थः—[*दायादे*] दायाद शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में

[*दायाद्यम्*] दायाद्य वाची पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है ॥ *संज्ञायां समजनिषद०* (३।३।९९) से विद्या शब्द क्यप् प्रत्ययान्त है । उस सूत्र में उदात्त की अनुवृत्ति आने से क्यप् उदात्त है, अतः विद्या शब्द अन्तोदात्त रहा । *कृपॄवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः* (*उणा०* २।८१) इससे उणादि कार्य बहुल से होने से केवल धाञ् धातु से भी क्यु प्रत्यय होकर धन शब्द बनता है, अतः प्रत्ययस्वर से धन शब्द आद्युदात्त है । क्यु परे रहते 'धा' के आ का *आतो लोप इटि च* (६।४।६४) से लोप तथा यु को अन (७।१।१) हो ही जायेगा ॥ पूर्वजों से प्राप्त करने योग्य वस्तु दायाद्य कहाती है । उदा०—विद्यादायादः (विद्या रूपी भाग का लेने वाला), धनदायादः (धन रूपी भाग का लेने वाला) ॥

प्रतिबन्धि चिरकृच्छ्रयोः ॥६।२।६॥

प्रतिबन्धि १।१॥ चिरकृच्छ्रयोः ७।२॥ *स०*—चिर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—चिरकृच्छ्रयोरुत्तरपदयोः प्रतिबन्धिवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति, तत्पुरुषे समासे ॥ *उदा०*—गमनचिरम्, गमनकृच्छ्रम् । व्याहरणचिरम्, व्याहरणकृच्छ्रम् ॥

भाषार्थः—[*चिरकृच्छ्रयोः*] चिर तथा कृच्छ्र शब्द उत्तरपद परे रहते तत्पुरुष समास में [*प्रतिबन्धि*] प्रतिबन्धिवाची पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है ॥ जो कार्य की सिद्धि को बाँध देता है अर्थात् रोकता है उसे प्रतिबन्धी कहते हैं । प्रतिपूर्वक बन्ध से *आवश्यकाध०* (३।३।१७०) से आवश्यक अर्थ में णिनि हुआ है । गमनचिरम् आदि उदाहरणों में चिरकाल एवं कष्ट से गमन तथा व्याहरण (बोलना) होने से कार्यसिद्धि नहीं हो रही है, शीघ्र गमन तथा व्याहरण से हो सकती थी, अतः चिरकालभावी गमन और व्याहरण कार्यप्रतिबन्धी हैं । इस प्रकार प्रतिबन्धिवाची पूर्वपद है ही ॥ गमनञ्च यच्चिरं च यहाँ सर्वत्र कर्मधारय समास है ॥ गमन व्याहरण शब्द ल्युडन्त हैं, अतः *लिति* (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को उदात्त हुआ है ॥

पदेऽपदेशे ॥६।२।७॥

पदे ७।१॥ अपदेशे ७।१॥ *स०*—अपदेश इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अपदेशवाचिनि तत्पुरुषे

समासे पदशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—मूत्रपदेन प्रस्थितः, उच्चारपदेन प्रस्थितः ॥

भाषार्थः—[*अपदेशे*] अपदेशवाची तत्पुरुष समास में [*पदे*] पद शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ अपदेश व्याज बहाने को कहते हैं ॥ मूत्र शब्द *सिविमुच्योष्टेरू च* (उणा० ४।१६३) से ष्ट्रन प्रत्ययान्त है अतः नित् (६।१।१६१) स्वर से आद्युदात्त है। उच्चार शब्द घञन्त है, अतः *थाथघञ्क्ता०* (६।२।१४४) से अन्तोदात्त है ॥ *उदा०*—मूत्रपदेन प्रस्थितः (लघुशंका करने के बहाने चला गया)। उच्चारपदेन प्रस्थितः (शौच करने के बहाने चला गया) ॥

निवाते वातत्राणे ॥६।२।८॥

निवाते ७।१॥ वातत्राणे ७।१॥ *स०*—वातस्य त्राणं वातत्राणं तस्मिन् ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—वातत्राणवाचिनि तत्पुरुषे समासे निवातशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—कुट्येव निवातं कुटीनिवातं, शमीनिवातं, कुड्यनिवातम् ॥

भाषार्थः—[*वातत्राणे*] वातत्राणवाची तत्पुरुष समास में [*निवाते*] निवात शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है ॥ कुटी शमी शब्द गौरादिगण पठित होने से ङीषन्त (४।१।४१) हैं, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त हुये। कुड्य शब्द *कवतेर्ड्यक्* से ड्यक् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त है अथवा *कवतेर्यत् डक्चि*[1] (उणा० ८।२०) से यत् प्रत्ययान्त होने से *यतोऽनावः* (६।१।२०७) से आद्युदात्त भी कोई कोई मानते हैं। *उदा०*—कुटीनिवातम् (कुटी की आड़)। शमीनिवातम् (शमी की आड़) कुड्यनिवातम् (दीवार की आड़)। सर्वत्र दीवार या कुटी की आड़ होने से वातत्राण अर्थात् हवा से बचाव होता है, अतः कुड्य आदि से होने

१. दशपादी उणादिवृत्ति में 'कवतेर्यत् डुक् च' पाठ है उसी की सङ्ख्या यह दी गई है। काशिका में उपर्युक्त दोनों कवतेर्यत् डक्चि एवं *कवतेर्ड्यक्* पा इत्येके, अपरे करके कहे हैं। न्यास में यहाँ पर 'ड्यक् प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्त इत्यप इति। ते कवतेर्ड्यगिति सूत्रमधीयते' कहा है ॥

वाले निवात अर्थ में लक्षणा से वर्तमान कुड्य आदि शब्दों का निवात शब्द के साथ समानाधिकरण तत्पुरुष समास होता है ॥

शारदेऽनार्तवे ॥६।२।९॥

शारदे ७।१॥ अनार्तवे ७।१॥ *स०*—अनार्तव इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ ऋतौ भवम्, आर्तवम् ॥ *अर्थः*—अनार्तववाचिनि शारदशब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—रज्जुंशारदमुदकम्, दृषत्शारदाः सक्तवः ॥ शारदशब्दः प्रत्यग्रवाची ॥

भाषार्थः—[*अनार्तवे*] अनार्तववाची [*शारदे*] शारद शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ ऋतु में जो होने वाला उसे आर्तव कहते हैं, यहाँ आर्तववाची शारद शब्द परे रहते निषेध कर दिया है। उदाहरणों में प्रत्यग्र = नवीनवाची शारद शब्द है। रज्जु शब्द में *सृजेरसुम् च* (उणा० १।१५) से सृज् धातु को असुम् आगम तथा सृज् के आदि सकार का लोप, एवं उ प्रत्यय होता है। असुम् आगम अन्त्य अच् से परे होकर 'सृ असुम् ज् उ = ऋ अस् ज् उ रहा। यणादेश एवं *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से स् को जश्त्व दकार होकर तथा *स्तोः श्चुना श्चुः* से श्चुत्व होकर रज्जु बन गया। *सृजेरसुम् च* सूत्र में नित् की अनुवृत्ति आने से रज्जु शब्द *ञ्नित्या०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त हो गया। दृषद् शब्द *दृणातेः षुक्०* (उणा० १।१३१) से अदिक् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। द् को त् *खरि च* (८।४।५४) से होगा ॥ *उदा०*—रज्जुंशारदमुदकम् (रस्सी से खींचकर तत्काल निकाला गया जल), दृषत्शारदाः सक्तवः (शिला पर या चक्की में पीसकर तत्क्षण बनाया हुआ सत्तू) ॥

अध्वर्युकषाययोर्जातौ ॥६।२।१०॥

अध्वर्युकषाययोः ७।२॥ जातौ ७।१॥ *स०*—अध्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अध्वर्यु कषाय इत्येतयोरुत्तरपदयोः जातिवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं

भवति ॥ उदा०—प्राच्याध्वर्युः, कठाध्वर्युः, कालापाध्वर्युः, सर्पिर्मण्ड कषायम्, उमापुष्पकषायम्, दौवारिककषायम् ॥

भाषार्थः—[*अध्वर्युकषाययोः*] अध्वर्यु तथा कषाय शब्द उत्तरपद र [*जातौ*] जातिवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो ज है ॥ प्राच्य शब्द *द्युप्रागपागु०* (४।२।१००) से यत् प्रत्ययान्त होने *यतोऽनावः* (६।१।२०७) से आद्युदात्त है। कठ शब्द पचाद्यच् प्रत्यय होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। पश्चात् णिनि प्रत्यय एवं होता है, पूरी सिद्धि भाग २ पृ० ५४७ में देखें। कालाप शब्द भी प्रत्ययान्त प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। पूरी सिद्धि भाग २ ४।३।१०८ पर देखें। ये तीनों समानाधिकरण समास हैं। सर्पिर्म उमापुष्प शब्द षष्ठीसमास हैं, अतः *समासस्य* (६।१।२१७) अन्तोदात्त हुआ है, पुनः इनका कषाय के साथ समास हुअ प्रकृतिस्वर होने पर क्रमशः अन्तिम अक्षर 'ड' 'प' ही पूर्ववत् उ रहे। दौवारिक शब्द भी *तत्र नियुक्तः* (४।४।६९) से ठक् प्रत्ययान्त से *कितः* (६।१।१५९) से अन्तोदात्त है ॥

सदृशप्रतिरूपयोः सादृश्ये ॥६।२।११॥

सदृशप्रतिरूपयोः ७।२॥ सादृश्ये ७।१॥ *स०*—सदृश० इत्यत्रेतरे द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—सदृश प्रति इत्येतयोरुत्तरपदयोः सादृश्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृति भवति ॥ *उदा०*—मातृसदृशः, पितृसदृशः। पितृप्रतिरूपः, मातृप्रतिरूप

भाषार्थः—[*सदृशप्रतिरूपयोः*] सदृश प्रतिरूप ये शब्द उत्तरप हों तो [*सादृश्ये*] सादृश्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रकृति होता है ॥ पितृ मातृ शब्द *नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०* (*उणा०* २।९५) इस उण सूत्र से अन्तोदात्त निपातित हैं। *पूर्वसदृश०* (२।१।३०) से मातृस पितृसदृशः में समास हुआ है। *तुल्यार्थैरतु०* (२।३।७२) से समास षष्ठी तथा तृतीया विभक्ति होंगी जिनका लुक् (२।४।७१) होगा ॥

द्विगौ प्रमाणे ॥६।२।१२॥

द्विगौ ७।१॥ प्रमाणे ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपद *अर्थः*—प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे द्विगावुत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृति

भवति ॥ उदा०—सप्तसमाः प्रमाणमस्येति विग्रहे मात्रच् (५।२।३७) प्रत्ययः, तस्य *प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्* (वा०५।२।३७) इत्यनेन लुक्, ततः प्राच्यश्चासौ सप्तसमश्च इति = प्राच्यसप्तसमः कर्मधारयः । गान्धारिसप्तसमः ॥

भाषार्थः—[*प्रमाणे*] प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में [*द्विगौ*] द्विगु उत्तरपद रहते पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है ॥ सप्तसम *संख्यापूर्वो द्विगुः* (२।१।५१) से द्विगु संज्ञक है, अतः द्विगु उत्तरपद में है । प्राच्य शब्द *अध्वर्युकषाय०* (६।२।१०) में कहे अनुसार आद्युदात्त है । गान्धारि शब्द *कर्दमादीनां च* (फिट्० ५९) से आद्युदात्त तथा पक्ष में मध्योदात्त भी है ॥

गन्तव्यपण्यं वाणिजे ॥६।२।१३॥

गन्तव्यपण्यम् १।१॥ वाणिजे ७।१॥ *स०*—गन्तव्य० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—वाणिजशब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे गन्तव्यवाचि पण्यवाचि च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—मद्रवाणिजः, काश्मीरवाणिजः, गान्धारिवाणिजः । पण्य–गोवाणिजः, अश्ववाणिजः ॥

भाषार्थः—[*वाणिजे*] वाणिजशब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में [*गन्तव्यपण्यम्*] गन्तव्यवाची (जाने योग्य स्थान) तथा पण्यवाची (क्रयविक्रय योग्य वस्तु) जो पूर्वपद स्थित शब्द उन्हें प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ मद्र शब्द *स्फायितञ्चि०* (उणा० २।१३) से रक् प्रत्ययान्त होने से प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है । गान्धारि शब्द का स्वर पूर्व कह आये हैं । काश्मीर शब्द *पृषोदरादीनि०* (६।३।१०७) से मध्योदात्त है । गो और अश्व शब्द की सिद्धि सूत्र ६।२।४ में देखें । *उदा०*—मद्रवाणिजः (मद्र जनपद का व्यापारी) । पण्य–गोवाणिजः (गाय का व्यापारी) वणिक् के लिए मद्र देश गन्तव्य है एवं गौ भी पण्य = क्रयविक्रय योग्य है, अतः गन्तव्य एवं पण्यवाची पूर्वपद शब्द हुए ॥

मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये नपुंसके ॥६।२।१४॥

मात्रो...छाये ७।१॥ नपुंसके ७।१॥ *स०*—मात्रो० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—मात्रा, उपज्ञा,

उपक्रम, छाया इत्येतेषूत्तरपदेषु नपुंसकवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—भिक्षामात्रम् न ददाति याचितः, समुद्रमात्रं न सरोऽस्ति किञ्चन । उपज्ञा—पाणिनोपज्ञमकालकं[1] व्याकरणम्, व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्, आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् । उपक्रम—आढ्योपक्रमं प्रासादः, दर्शनीयोपक्रमम्, सुकुमारोपक्रमम्, नन्दोपक्रमाणि मानानि[2] । छाया—इषुच्छायम्, धनुश्छायम् ॥

भाषार्थः—[*नपुंसके*] नपुंसकवाची तत्पुरुष समास में [*मात्रो-*···*छाये*] मात्रा, उपज्ञा उपक्रम तथा छाया शब्द उत्तरपद हों तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥

आढ्य आदि शब्दों का स्वर परिशिष्ट में देखें ॥

सुखप्रिययोर्हिते ॥६।२।१५॥

सुखप्रिययोः ७।२॥ हिते ७।१॥ *स०*—सुख० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—हितवाचिनि तत्पुरुषे समासे सुख प्रिय इत्येतयोरुत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—गमनसुखम्, वचनसुखम्, व्याहरणसुखम् । प्रिय—गमनप्रियम्, वचनप्रियम्, व्याहरणप्रियम् ॥

भाषार्थः—[*हिते*] हितवाची तत्पुरुष समास में [*सुखप्रिययोः*] सुख तथा प्रिय शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ उदाहरणों में कर्मधारय तत्पुरुष समास है । गमन वचन आदि शब्द ल्युडन्त हैं, अतः *लिति* (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को उदात्तत्व इन शब्दों में है । गमनसुखम् आदि परिणाम में हितकारी हैं, अतः हितवाची तत्पुरुष समास कहाया ॥

यहाँ से '*सुखप्रिययोः*' की अनुवृत्ति ६।२।१६ तक जायेगी ॥

---

१. पाणिन शब्द भी पाणिनि का पर्याय है यथा दाशरथ और दाशरथि, काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि ॥

२. इस उदाहरण का यह भाव नहीं कि नन्द से पूर्व मान = तौल का व्यवहार होता ही नहीं था, अपितु इसका अभिप्राय नन्द द्वारा प्रारब्ध किसी विशिष्ट मान = तौल से है । आयुर्वेद के ग्रन्थों में कलिङ्गमान और मागधमान प्रसिद्ध हैं । इनमें मागधमान नन्दोपक्रम है ॥

प्रीतौ च ॥६।२।१६॥

प्रीतौ ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सुखप्रिययोः, तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—प्रीतौ गम्यमानायां सुख प्रिय इत्येतयोरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—ब्राह्मणसुखं पायसम्, छात्रप्रियोऽनध्यायः, कन्याप्रियो मृदङ्गः ॥

भाषार्थः—[*प्रीतौ*] प्रीति गम्यमान हो रही हो तो सुख तथा प्रिय उत्तरपद रहते [च] भी तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ ब्रह्मणोऽपत्यं ऐसा विग्रह करके ब्रह्मन् शब्द से अण् प्रत्यय (४।१।६२) हुआ है। इसी प्रकार छात्र शब्द भी *छत्रादिभ्यो णः* (४।४।६२) से ण प्रत्ययान्त है, अतः ये दोनों शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हैं। कन्या शब्द *तिल्यशिक्य०* (*फिट्०* ७६) से स्वरितान्त है ॥ *उदा०*—ब्राह्मणसुखं पायसम् (ब्राह्मणों को खीर प्रिय होती है)। छात्रप्रियोऽनध्यायः (छात्र को अवकाश प्रिय होता है)। कन्याप्रियो मृदङ्गः (कन्या को मृदङ्ग बजाना प्रिय है) ॥

स्वं स्वामिनि ॥६।२।१७॥

स्वम् १।१॥ स्वामिनि ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—स्वामिन्शब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे स्ववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—गोस्वामी, अश्वस्वामी, धनस्वामी ॥

भाषार्थः—[*स्वामिनि*] स्वामिन् शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में [स्वम्] स्ववाचि पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ गो अश्व शब्द की सिद्धि सूत्र ६।२।४ तथा धन की ६।२।५ में देखें। जिसके कारण स्वामित्व बना हो वह स्व है। गोस्वामी (गायों का स्वामी) आदि उदाहरणों में गौ इत्यादि स्व हैं ॥

पत्यावैश्वर्ये ॥६।२।१८॥

पत्यौ ७।१॥ ऐश्वर्ये ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—सेनापतिः, नरपतिः, धान्यपतिः। दमूना गृहपतिर्दमे' (ऋ० १।६०।४) ॥

भाषार्थः—[*ऐश्वर्ये*] ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में [*पत्यौ*] प शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ सेनापति (सेना का पति = स्वामी) यहाँ सेना शब्द 'सह इनेन वर्त्तते' ऐसा विग्र करके बहुव्रीहि समासवाला है, अतः *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) पूर्वपद प्रकृति स्वर होने से *निपाता आद्युदात्ताः* (फिट् ८०) से आद्यु दात्त है। नरपतिः यहाँ नर शब्द में नॄ धातु से ऋदोरप् (३।३।५७) से अ प्रत्यय हुआ है, अप् को पित् स्वर से अनुदात्त (३।१।४) तथा धातु नॄ उदात्त होने से यह आद्युदात्त शब्द है ॥ धान्य शब्द ण्यत् प्रत्ययान्त हो से *तित् स्वरितम्* (६।१।१७९) से स्वरितान्त है। गृहपतिः में गृह शब्द गेहे कः (३।१।१४४) से क प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदा है। सर्वत्र षष्ठी तत्पुरुष समास है ॥

यहाँ से '*पत्यावैश्वर्ये*' की अनुवृत्ति ६।२।२० तक जायेगी ॥

न भूवाक्चिद्दिधिषु ॥६।२।१९॥

न अ० ॥ भूवाक्चिद्दिधिषु १।१॥ *स०*—भूश्च वाक् च चित् दिधिषू च भूवा···षु, समाहारो द्वन्द्वः। *ह्रस्वो नपुंसके०* (१।२।४७) इत्य नेन ह्रस्वः ॥ *अनु०*—पत्यावैश्वर्ये, तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*— ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे भू, वाक्, चित् दिधिषू इत्येतानि पूर्वपदानि प्रकृतिस्वराणि न भवन्ति। पूर्वेण प्राप्त प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—भूपतिः, वाक्पतिः, चित्पतिः, दिधिषूपतिः

भाषार्थः—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद रह पूर्वपद [*भूवाक्चिद्दिधिषु*] भू, वाक्, चित् तथा दिधिषू शब्दों व प्रकृतिस्वर [न] नहीं होता ॥ पूर्वसूत्र से प्रकृतिस्वर प्राप्त होने पर य निषेध है। पूर्व सूत्र भी *समासस्य* (६।१।२१७) का अपवाद है, अत प्रकृतिस्वर का निषेध होने पर सर्वत्र उदाहरणों में समासस्य से अन्त दात्त ही हुआ। सर्वत्र षष्ठीतत्पुरुष समास है ॥ *उदा०*—भूपतिः (पृथ्व का स्वामी, राजा)। वाक्पतिः (वाणी का स्वामी)। चित्पतिः (ज्ञान क स्वामी)। दिधिषूपतिः (पुनर्विवाहिता स्त्री का पति) ॥

वा भुवनम् ॥६।२।२०॥

वा अ० ॥ भुवनम् १।१॥ *अनु०*—पत्यावैश्वर्ये, तत्पुरुषे, प्रकृत्य

पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे भुवनशब्दः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—भुवनपतिः, भुवनपतिः ॥

भाषार्थः—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद रहते [*भुवनम्*] भुवन शब्द पूर्वपद को [*वा*] विकल्प से प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ भुवन शब्द *भूसूधूभ्रस्जि०* (*उणा०* २।८०) इस उणादि से क्युन् प्रत्ययान्त है। यहाँ पूर्वसूत्र से क्युन् की अनुवृत्ति है, अतः नित्स्वर से भुवन शब्द आद्युदात्त है। जब पक्ष में प्रकृति स्वर नहीं होगा तो *समासस्य* (६।१।२१७) से अन्तोदात्त होगा ॥ *उदा०*—भुवनपतिः (लोकों का स्वामी) ॥

आशङ्काबाधनेदीयस्सु संभावने ॥६।२।२१॥

आशङ्काबाधनेदीयस्सु ७।३॥ संभावने ७।१॥ स०—आशङ्का० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—आशङ्क, अबाध, नेदीयस् इत्येतेषूत्तरपदेषु संभावनवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—आशङ्क–गमनाशङ्कं वर्त्तते, वचनाशङ्कम्, व्याहरणशङ्कम्। अबाध—गमनाबाधम्, वचनाबाधम्, व्याहरणाबाधम्। नेदीयस्—गमननेदीयः, वचननेदीयः, व्याहरणनेदीयः ॥

भाषार्थः—[*आशङ्काबाधनेदीयस्सु*] आशङ्क, आबाध, नेदीयस् इन शब्दों के उत्तरपद रहते [*संभावने*] संभावनवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ आङ् पूर्वक शङ्क धातु से घञन्त होकर आशङ्क शब्द बनता है अथवा *गुरोश्च हलः* (३।३।१०३) से शकि धातु से अकार प्रत्यय होकर जानें ॥ गमन वचन शब्द ल्युडन्त हैं अतः लित्स्वर होगा ॥ *उदा०*—आशङ्क–गमनाशङ्कं वर्तते (जाने में आशङ्का है)। वचनाशङ्कम् (बोलने में आशंका है)। गमनाबाधम् (जाने में रुकावट की संभावना है)। गमननेदीयः (जाना अति निकट है, ऐसी संभावना है)॥

पूर्वे भूतपूर्वे ॥६।२।२२॥

पूर्वे ७।१॥ भूतपूर्वे ७।१॥ स०—भूतः पूर्वम् भूतपूर्वस्तस्मिन्... सुप्सुपेति समासः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—पूर्वशब्द उत्तरपदे भूतपूर्ववाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यपूर्वः, दर्शनीयपूर्वः, सुकुमारपूर्वः ॥

भाषार्थः—[*पूर्वे*] पूर्व शब्द उत्तरपद रहते [*भूतपूर्वे*] भूतपूर्ववाची

तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ।। आढ्य, दर्शनीः सुकुमार की सिद्धि परि० ६।२।१४ में देखें । *विशेषणं विशेष्येण* (२।१।५६) से समास हुआ है ।।

सविधसनीडसमर्यादसवेशसदेशेषु सामीप्ये ।।६।२।२३।।

सविध०···शेषु ७।३।। सामीप्ये ७।१।। *स०*—सविध० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—सविध, सनीड समर्याद, सवेश, सदेश इत्येतेषूत्तरपदेषु सामीप्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। *उदा०*—सविध-मद्रसंविधम् गान्धारिसविधम्, काश्मीरसविधम् । सनीड-मद्रसनीडम्, गान्धारि सनीडम् काश्मीरसनीडम् । समर्याद-मद्रसमर्यादम्, गान्धारि समर्यादम्, काश्मीरसमर्यादम् । सवेश-मद्रसवेशम् गान्धारिसवेशम् काश्मीरसवेशम् । सदेश-मद्रसदेशम्, गान्धारिसदेशम्, काश्मीरसदेशम् ।

भाषार्थः—[*सविध···शेषु*] सविध, सनीड, समर्याद, सवेश, सदेश इन शब्दों के उत्तरपद रहते [*सामीप्ये*] सामीप्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।। मद्र, गान्धारि, काश्मीर शब्दों का स्वर ६।२।१२ सूत्र पर देखें ।। *उदा०*—मद्रसंविधम् (मद्र जनपद के समीप) । गान्धारिसनीडम् (कन्दहार जनपद के समीप) । काश्मीर-समर्यादम् (काश्मीर की सीमा से मिला हुआ) । मद्रसवेशम् (मद्र के समान वेश वाला, समान वेश समीपवर्ती देशों में ही होता है) । मद्र-संदेशम् (मद्र से सटा हुआ) । सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठी समास है और सामीप्य अर्थ जाना जाता है ।।

विस्पष्टादीनि गुणवचनेषु ।।६।२।२४।।

विस्पष्टादीनि १।३।। गुणवचनेषु ७।३।। *स०*—विस्पष्ट आदिर्येषां तानि विस्पष्टादीनि··बहुव्रीहिः ।। गुणमुक्तवान् गुणवचनस्तेषु···उपपदतत्पुरुष-समासः ।। *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—गुणवचनेषूत्तर-पदेषु तत्पुरुषे समासे विस्पष्टादीनि पूर्वपदानि प्रकृतिस्वराणि भवन्ति ।। *उदा०*—विस्पष्टं कटुकमिति विस्पष्टकटुकम्, विचित्रकटुकम्, व्यक्तक-टुकम् । विस्पष्टलवणम्, विचित्रलवणम्, व्यक्तलवणम् ।।

भाषार्थः—[*गुणवचनेषु*] गुण को कहने वाले शब्दों के उत्तरपद रहते [*विस्पष्टादीनि*] विस्पष्टादि पूर्वपद स्थित शब्दों को तत्पुरुष समास में

प्रकृति स्वर होता है ॥ उदाहरणों में योगविभाग करके सुप् सुपा से समास हुआ है। या विस्पष्ट शब्द *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) से आद्युदात्त है। विचित्र शब्द में *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है, अतः *निपाता आद्युदात्ताः* (फिट्० ८०) से 'वि' उदात्त है। व्यक्त शब्द विपूर्वक अञ्जू धातु से निष्ठा में बना है, अतः *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) से आद्युदात्त है। 'वि अक्त' यहाँ वि उदात्त तथा 'अ' अनुदात्त है। इस प्रकार यणादेश करने पर *उदात्तस्वरितयो०* (८।२।४) से 'व्य' का अ स्वरित हो गया शेष अनुदात्त रहा। कटुक शब्द तीखे चरपरे अर्थ का वाचक है ॥

श्रज्यावमकन्पापवत्सु भावे कर्मधारये ॥६।२।२५॥

श्रज्या०···त्सु ७।३॥ भावे ७।१॥ कर्मधारये ७।१॥ *स०*—श्रश्च ज्यश्च अवमश्च कन् च पापवांश्च, श्रज्या···वन्तस्तेषु··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—श्र, ज्य, अवम, कन् इत्येतेषु पापशब्दवति चोत्तरपदे कर्मधारये समासे भाववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—श्र-गमनश्रेष्ठम्, गमनश्रेयः। ज्य-वचनज्येष्ठम्, वचनज्यायः। अवम-गमनावमम्, वचनावमम् कन्-गमनकनिष्ठम्, गमनकनीयः। पापवत्—गमनपापिष्ठम्, गमनपापीयः ॥

भाषार्थ :—[*श्रज्या···त्सु*] श्र, ज्य, अवम, कन् तथा पापवान् शब्द के उत्तरपद रहते [*कर्मधारये*] कर्मधारय समास में [*भावे*] भाववाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ गमनादि शब्द ल्युडन्त हैं, अतः *लिति* (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को सर्वत्र उदात्त हुआ ॥ प्रशस्य को श्र आदेश *प्रशस्यस्य श्रः* (५।३।६०) से तथा *ज्य च* (५।३।६१) से ज्य आदेश भी होता है। *युवाल्पयोः०* (५।३।६४) से कन् आदेश होता है। पापीयः पापिष्ठः में पापवत् से *विन्मतोर्लुक्* (५।३।६५) से मतुप् का लुक् होता है। उसी का यहाँ ग्रहण है ॥

यहाँ से '*कर्मधारये*' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ॥

कुमारश्च ॥६।२।२६॥

कुमारः १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥

अर्थः—कुमारशब्दः पूर्वपदं कर्मधारये समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—कुमारश्रमणा[1], कुमारकुलटा, कुमारतापसी ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*कुमारः*] कुमार शब्द को [च] भी कर्मधारय समास में प्रकृतिस्वर होता है ॥ कुमार शब्द में कुमार क्रीडायाम् धातु से पचाद्यच् हुआ है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है ॥

यहाँ से '*कुमारः*' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ॥

आदिः प्रत्येनसि ॥६।२।२७॥

आदिः १।१॥ प्रत्येनसि ७।१॥ *स०*—प्रतिगतमेनः यस्य स प्रत्येनाः, तस्मिन्...... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—कुमारः, कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् । *अर्थः*—प्रत्येनसि उत्तरपदे कर्मधारये समासे कुमारशब्दस्यादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—कुमारप्रत्येनाः ॥

भाषार्थः—[*प्रत्येनसि*] प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में कुमार शब्द को [*आदिः*] आदि उदात्त होता है ॥ यहाँ सामर्थ्य से "उदात्त" का ग्रहण समझना चाहिये । वस्तुतः सूत्र का आशय इस प्रकार है—'कुमार शब्द को पूर्व सूत्र से प्रकृति स्वर होकर जो स्वर प्राप्त था, वही स्वर इस सूत्र में आदि को विधान किया जाता है । इस प्रकार अन्त के उदात्तत्व का आदि में विधान किया है । *उदा०*—कुमारप्रत्येनाः (पाप रहित कुमार) ॥

यहाँ से '*आदिः*' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ॥

---

१. यहाँ *कुमारः श्रमणादिभिः* (२।१।६९) से कर्मधारय समास होता है पाश्चात्य विद्वान् इस सूत्र में श्रमण शब्द का प्रयोग देखकर कहते हैं कि पाणिनि बुद्ध के पीछे का है क्योंकि श्रमण शब्द बौद्ध संन्यासी के लिए प्रयुक्त होता है वस्तुतः यह कथन अयुक्त है । पाश्चात्यों के मतानुसार भी बुद्ध के जन्म से पूर्व प्रोक्त शतपथ ब्राह्मण में संन्यासी के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग मिलता है यह दूसरी बात है कि संन्यासी श्रमण परिव्राट् आदि समानार्थक पूर्वप्रसिद्ध शब्दों में से बौद्धों ने 'श्रमण' शब्द को अपना लिया । यही बात निर्वाण शब्द के संबन्ध में भी समझनी चाहिये ।

पूगेष्वन्यतरस्याम् ॥६।२।२८॥

पूगेषु ७।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—आदिः, कुमारः, कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—पूगवाचिनि उत्तरपदे कर्मधारये समासे कुमार-शब्दस्य विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—कुमारचातकाः, कुमार-चातकाः, कुमारलोहध्वजाः, कुमारलोहध्वजाः ॥

भाषार्थः—[*पूगेषु*] पूगवाची शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में कुमार शब्द को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से आदि को उदात्त होता है ॥ जब आद्युदात्त नहीं होगा तो पूर्ववत् अन्तोदात्त होगा । 'पूग' शब्द का अर्थ ५।३।११२ में देखें । चातकादि शब्द *पूगाञ्ञ्योऽग्रामणी०* (५।३।११२) से ञ्य प्रत्ययान्त हैं, जिसका *तद्राजस्य बहुषु०* (२।४।६२) से लुक् हो गया है ॥

इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ ॥६।२।२९॥

इगन्त·····वेषु ७।३॥ द्विगौ ७।१॥ *स०*—इक् अन्ते यस्य स इगन्तः, बहुव्रीहिः । इगन्तश्च कालश्च कपालश्च भगालश्च शरावश्च, इगन्त·····रावास्तेषु·····इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—द्विगौ समासे इगन्ते कालवाचिनि चोत्तरपदे कपाल, भगाल, शराव इत्येतेषु चोत्तरपदेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—इगन्तस्य—पञ्चारत्निः, दशारत्निः । काल—पञ्चमास्यः, दशमास्यः, पञ्चवर्षः, दशवर्षः । कपाल—पञ्चकपालः, दशकपालः । भगाल—पञ्चभगालः, दशभगालः । शराव—पञ्चशरावः, दशशरावः ॥

भाषार्थः—[*द्विगौ*] द्विगु समास में [*इगन्त·····वेषु*] इगन्त उत्तरपद रहते, तथा कालवाची, एवं कपाल भगाल शराव इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ पञ्चकपालः की सिद्धि भाग १ पृ० ८४० में देखें । इसी प्रकार और उदाहरणों में भी तद्धितार्थ में समास और द्विगु संज्ञा हुई है ऐसा जानें । पञ्चशरावः, पञ्चभगालः आदि की सिद्धि ठीक उसी प्रकार होगी । पञ्चारत्निः यहाँ पञ्चारत्नयः प्रमाणमस्य, ऐसा विग्रह करके पूर्ववत् समास होकर *प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्* (वा० ५।२।३७) से मात्रच् का लुक् हुआ है । पञ्चमास्यः आदि में *द्विगोर्यप्* (५।१।८१) से यप् हुआ है । पञ्चवर्षः यहाँ

प्राग्वतेष्ठञ् (५।१।१८) से उत्पन्न ठञ् का *वर्षाल्लुक् च* (५।१।८८) से लुक् हुआ है। सर्वत्र पूर्वपद स्थित पञ्च, दश शब्द *ञ्र संख्याया* (फिट्० २८) से आद्युदात्त हैं।

यहाँ से "*इगन्तकालकपालभगालशरावेषु*" की अनुवृत्ति ६।२।३० तक तथा '*द्विगौ*' की ६।२।३१ तक जायेगी ॥

बह्वन्यतरस्याम् ॥६।२।३०॥

बहु १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—द्विगौ समासे इगन्तादिषूत्तरपदेषु बहुशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते ॥ *उदा०*—बह्वरत्निः, बह्वरत्निः, बहुमास्यः, बहुमास्यः, बहुकपालः, बहुकपालः, बहुभगालः, बहुभगालः, बहुशरावः, बहुशरावः ॥

भाषार्थः—द्विगु समास में इगन्तादि उत्तरपद रहते पूर्वपद में स्थित [बहु] बहु शब्द को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके प्रकृतिस्वर होता है ॥ बहु शब्द *लंघिबंह्योर्नलोपश्च* (उणा० १।२९) से कु प्रत्ययान्त है अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है, बह्वरत्निः में यणादेश होकर प्रकृति स्वर पक्ष में *उदात्तस्वरितयोर्यणः०* (८।४।६५) से 'ह्व' को स्वरित होगा। पक्ष में *समासस्य* (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्तत्व होगा ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।२।३१ तक जायेगी ॥

दिष्टिवितस्त्योश्च ॥६।२।३१॥

दिष्टिवितस्त्योः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—दिष्टि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, द्विगौ, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—द्विगौ समासे दिष्टि वितस्ति इत्येतयोरुत्तरपदयोर्विकल्पेन पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—पञ्चदिष्टिः, पञ्चदिष्टिः पञ्चवितस्तिः, पञ्चवितस्तिः ॥

भाषार्थः—द्विगु समास में [*दिष्टिवितस्त्योः*] दिष्टि, वितस्ति शब्दों के उत्तरपद रहते [च] भी विकल्प करके पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ पञ्च की सिद्धि ६।२।२९ सूत्र में देखें। पक्ष में *समासस्य* से अन्तोदात्त होगा ॥

सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धेष्वकालात् ॥६।२।३२॥

सप्तमी १।१॥ सिद्धशुष्कपक्वबन्धेषु ७।३॥ अकालात् ५।१॥ *स०*—

सिद्ध० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अकालादित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध इत्येतेषूत्तरपदेष्वकालवाचि सप्तम्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। *उदा०*—सांकाश्यसिद्धः-काम्पिल्यसिद्धः । शुष्क-ऊकशुष्कः, निधनंशुष्कः । पक्व-कुम्भीपक्वः, कलशीपक्वः, भ्राष्ट्रपक्वः । बन्ध-चक्रबन्धः, चारकबन्धः ।।

भाषार्थः—[*सिद्ध*···*न्धेषु*] सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध ये शब्द उत्तरपद परे रहते [*अकालात्*] अकालवाची पूर्व पद स्थित [*सप्तमी*] सप्तम्यन्त को प्रकृतिस्वर होता है ।। सांकाश्य, काम्पिल्य शब्द *वुञ्छण्०* (४।२।७९) से ण्य प्रत्ययान्त हैं, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त हैं । फिट् सूत्र में *सांकाश्यकाम्पिल्य०* (*फिट्०* ६५) से पक्ष में मध्योदात्त भी कहा है, अतः यह स्वर भी होगा । *सृवृभूशुषि०* (*उणा०* ३।४०) सूत्र में कहा कक् प्रत्यय बहुल से अव धातु से भी होकर ऊक शब्द बनेगा । *ज्वरत्वर०* (६।४।२०) से ऊठ् हो जायेगा । इस प्रकार ऊक शब्द प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है । निधन शब्द *कृपॄवृजिमन्दि०* (*उणा०* २।८१) से क्यु प्रत्ययान्त होने से प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त है । धा के आ का *आतो लोप०* (६।४।६४) से लोप तथा यु को अन हो ही जायेगा । कुम्भी कलशी शब्द ङीषन्त (४।१।४१) होने से अन्तोदात्त हैं । भ्राष्ट्र शब्द *असिञ्जगमि०* (*उणा०* ४।१६०) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त आद्युदात्त (६।१।१९१) है । चक्र शब्द *कृञादीनां के द्वे भवत०* (*वा०* ६।१।१२) से क प्रत्ययान्त सिद्ध किया है, अतः अन्तोदात्त है । चारक शब्द ण्वुल् प्रत्ययान्त है अतः लित् स्वर से आद्युदात्त है ।।

परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ।।६।२।३३।।

परिप्रत्युपापाः १।३।। वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ७।३।। *स०*—परि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रौ, अहोरात्रयोरवयवाः अहोरात्रावयवाः, पूर्वं द्वन्द्वः, ततः षष्ठीतत्पुरुषः । वर्ज्यमानश्च अहोरात्रावयवाश्च, वर्ज्यमानाहोरात्रावयवाः, तेषु,···इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—परि, प्रति, उप, अप इत्येते पूर्वपदभूता वर्ज्यमानवाचिनि अहोरात्रावयववाचिनि चोत्तरपदे प्रकृतिस्वरा भवन्ति ।। *उदा०*—परित्रिगर्तं वृष्टो देवः, परिसौवीरम्, परिसार्वसेनि । प्रति-प्रतिपूर्वाह्णम्, प्रत्यपराह्णम्, प्रतिपूर्वरात्रम्, प्रत्यपररात्रम् । उप-उपपूर्वाह्णम्,

उपापराह्णम्, उपपूर्वरात्रम्, उपापररात्रम्। अप-अपत्रिगर्त्तं वृष्टो देवः, अपसौवीरम्, अपसार्वसेनि ॥

भाषार्थः— पूर्वपद स्थित [*परिप्रत्युपापाः*] परि, प्रति, उप, अप इन शब्दों को [*वर्ज्य''''वेषु*] वर्ज्यमान तथा दिन एवं रात्रि के अवयववाची शब्दों के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ सर्वत्र पूर्वपद स्थित परि प्रति आदि *निपाता आद्युदात्ताः, उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* (फिट्० ८०,८१) से आद्युदात्त हैं ॥ उदा०—परित्रिगर्तं वृष्टो देवः (कांगड़ा देश को छोड़ कर चारों ओर वर्षा हुई)। प्रतिपूर्वाह्णम् (हर दोपहर के पहले)। प्रत्यपर-रात्रम् (हर रात के पिछले पहर)। उपपूर्वरात्रम् (रात के पहिले पहर के लगभग)। अपत्रिगर्त्तम् (कांगड़ा को छोड़ कर)। *अपपरी वर्जने* (१।४।८७) से अप परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। *विभाषाऽपपरि-बहिरञ्चवः०* (२।१।११) से अव्ययीभाव समास होता है ॥ परि प्रति उप अप में परि और अप वर्जनार्थक होने से इनका ही वर्ज्यमान उत्तर-पद के साथ समास होता है ॥

राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु ॥६।२।३४॥

राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे ७।१॥ अन्धकवृष्णिषु ७।३॥ *स०*—राजन्याश्चै-तानि बहुवचनानि राजन्यबहुवचनानि, तेषां द्वन्द्वः, राजन्यबहुवचनद्वन्द्वः तस्मिन्''''कर्मधारयगर्भषष्ठीतत्पुरुषः। अन्धकाश्च वृष्णयश्च अन्धक-वृष्णयस्तेषु''''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—राजन्यवाचिनां बहुवचनान्तानां यो द्वन्द्वोऽन्धकवृष्णिषु वर्त्तते तत्र पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—श्वाफल्कचैत्रकाः, चैत्रकरोधकाः, शिनिवासुदेवाः ॥

भाषार्थः—[*राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे*] राजन्य = क्षत्रियवाची जो बहुवच-नान्त शब्द हैं, उनका द्वन्द्व [*अन्धकवृष्णिषु*] अन्धक तथा वृष्णि वंश को को कहने में वर्त्तमान हो तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ श्वाफल्क तथा चैत्रक शब्द *ऋष्यन्धक०* (४।१।११४) से अणन्त हैं, अतः अन्तोदात्त हैं। *वहिश्रिश्रुयु०* (*उणा०* ४।५१) सूत्र में कहा 'नि' प्रत्यय बहुल से शीङ् धातु से भी होता है एवं धातु को ह्रस्व और प्रत्यय को नित्वत् होकर शिनिः बनता है। नित् होने से यह शब्द आद्युदात्त है। श्वा-फल्कचैत्रकाः आदि अन्धकवंशवाची बहुवचनान्त शब्द हैं, तथा

शिनिवासुदेव वृष्णिवाची हैं ।। उदा०—श्वाफल्कचैत्रकाः (श्वफल्क तथा चैत्रक की सन्तान), शिनिवासुदेवाः (शिनि तथा वसुदेव की सन्तान) ।

यहाँ से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति ६।२।३७ तक जायेगी ।।

सङ्ख्या ।।६।२।३५।।

सङ्ख्या १।१।। *अनु*०—द्वन्द्वे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—द्वन्द्वसमासे सङ्ख्यावाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। एकश्च दश च एका॑दश, द्वा॑दश, त्रयो॑दश ।।

भाषार्थः—द्वन्द्वसमास में [*सङ्ख्या*] सङ्ख्यावाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।। *आन्महतः स*० (६।३।४४) सूत्र के योगविभाग से एकादश में आत्व, एवं द्वादश में *द्व्यष्टनः सङ्ख्यायाम*० (६।३।४५) से आत्व होता है । *त्रेस्त्रयः* (६।३।४६) से त्रि को त्रयस् आदेश अन्तोदात्त होता है । एक शब्द *इण्भीकापाशल्य*० (*उणा*० ३।४३) से कन् प्रत्ययान्त है, तथा नित् स्वर से आद्युदात्त है । द्वि शब्द प्रातिपदिक स्वर से उदात्त है ही ।।

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी ।।६।२।३६।।

आचार्योपसर्जनः १।१।। च अ० ।। अन्तेवासी १।१।। *स*०—आचार्य उपसर्जनम् अप्रधानं यस्मिन् स आचार्योपसर्जनः, बहुव्रीहिः ।। अन्ते वसतीति अन्तेवासी ।। *अनु*०—द्वन्द्वे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—आचार्योपसर्जनान्तेवासिनां यो द्वन्द्वस्तत्र पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। *उदा*०—आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः ।।

भाषार्थः—[*आचार्योपसर्जनः*] आचार्य है अप्रधान जिसमें ऐसे [*अन्तेवासी*] शिष्यवाची शब्दों का जो द्वन्द्व उनके पूर्वपद को [*च*] भी प्रकृति स्वर होता है ।। आपिशलस्यापत्यम् आपिशलिः *अत इञ्* (४।१।९५) से यहाँ इञ् प्रत्यय हुआ । आपिशलिना प्रोक्तमापिशलम्, यहाँ आपिशलि शब्द से *इञश्च* (४।२।१११) से अण् हुआ । तदधीयते ये अन्तेवासिनः तेप्यापिशलाः । उस आपिशल नाम के ग्रन्थ को जो छात्र पढ़ते हैं वे छात्र भी आपिशल कहायेंगे, क्योंकि *तदधीते तद्वेद* (४।२।५८) से उत्पन्न अण् का *प्रोक्ताल्लुक्* (४।२।६३) से लुक् हो जाता है । पाणिनीयः की सिद्धि भी भाग २ सूत्र ४।२।६३ में देखें । इस प्रकार इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति करके आपिशलाश्च पाणिनीयाश्च आपिशलपाणिनीयाः

यहाँ द्वन्द्व समास किया तो प्रकृत सूत्र से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्रत्ययस्वर से (अण् को) अन्तोदात्त हुआ। 'पाणिनीयरौढीयाः' यहाँ पाणिनीय शब्द प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त है। रोढस्यापत्यं रौढिः यहाँ *अत इञ्* से इञ् हुआ। पश्चात् रौढेराचार्यस्य छात्राः रौढीयाः यहाँ *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ प्रत्यय हुआ है। ततः पूर्ववत् द्वन्द्व समास हुआ। रौढीयकाशकृत्स्नाः में भी पूर्ववत् रौढीय शब्द प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है। काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नं यहाँ अण् (४।३।१०१) प्रत्यय हुआ है। तदधीयते काशकृत्स्नाः यहाँ पूर्ववत् अण् (४।२।५८) का लुक् (४।२।६३) हुआ है। शेष पूर्ववत् है। सर्वत्र आपिशलपाणिनीयाः आदि उदाहरणों में आपिशलि आदि प्रोक्त ग्रन्थ के अध्ययन करने वाले छात्रों के वाचक हैं, आपिशलि आदि आचार्य का अर्थ इनमें अप्रधान रूप से द्योतित होता है॥ उदा०—आपिशलपाणिनीयाः (आचार्य आपिशल तथा पाणिनि के छात्र)॥

कार्त्तकौजपादयश्च ॥६।२।३७॥

कार्त्तकौजपादयः १।३॥ च अ०॥ स०—कार्त्तकौजप आदिर्येषां ते कार्त्तकौजपादयः, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—द्वन्द्वे, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—कार्त्तकौजपादयो ये द्वन्द्वास्तेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—कार्त्तकौजपौ, सावर्णिमाण्डूकेयौ, अवन्त्यश्मकाः, पैलश्यापर्णेयाः॥

भाषार्थः—[*कार्त्तकौजपादयः*] कार्त्तकौजपादि जो द्वन्द्व समास वाले शब्द उनके पूर्वपद को [च] भी प्रकृतिस्वर हो जाता है॥ कृतस्यापत्यं कार्त्तः कुजपस्यापत्यं कौजपः, यहाँ अण् प्रत्यय होकर दोनों का द्वन्द्व समास हुआ है। प्रकृतिस्वर होकर कार्त्त शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। सावर्णि शब्द भी इञन्त होने से (६।१।१९१) आद्युदात्त है। माण्डूकेयः मण्डूकस्यापत्यं विग्रह करके *ढक् च मण्डूकात्* (४।१।१२०) सूत्र से ढक् प्रत्ययान्त है। अवन्त्यश्मकाः यहाँ अवन्ति शब्द से अवन्तेरपत्यानि बहूनि ऐसा विग्रह करके ञ्यङ् (४।१।१६९) प्रत्यय हुआ, उसका *तद्राजस्य०* (२।४।६२) से लुक् हो गया। पुनः अवन्तीनां निवासो जनपदः अवन्तयः यहाँ चातुरर्थिक (४।२।६९) अण् हुआ है। उसका *जनपदे लुप्* (४।२।८०) से लुप् हो गया है। इसी प्रकार अश्मकाः में समझें। अब दोनों का द्वन्द्व समास हो गया, तब प्रकृतिस्वर होकर *घृतादीनां च*

(फिट्० २१) से अवन्ति शब्द अन्तोदात्त हुआ, यणादेश करने पर *उदात्त-स्वरितयोर्यणः०* (८।२।४) से 'य' स्वरित हो गया। पैल शब्द में पीलाया अपत्यं पैलः (४।१।११८) अण् हुआ है। ततः युवापत्य में *अणो द्व्यचः* (४।१।१५६) से उत्पन्न फिञ् का *पैलादिभ्यश्च* (२।४।५९) से लुक् हुआ है। श्यापर्ण शब्द से भी बिदादिगण पठित होने से अण् हुआ, स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (४।२।७३) होकर श्यापर्णी हुआ। उससे युवा अर्थ में *स्त्रीभ्यो ढक्* (४।१।१२०) से ढक् प्रत्यय होकर यह युवप्रत्ययान्त है। इस प्रकार द्वन्द्व करने पर पैल शब्द प्रकृत सूत्र से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त रहा॥

महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु ॥६।२।३८॥

महान् १।१॥ व्रीह्य···द्धेषु ७।३॥ स०—व्रीह्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—व्रीहि, अपराह्ण, गृष्टि, इष्वास, जाबाल भार, भारत, हैलिहिल, रौरव, प्रवृद्ध इत्येतेषूत्तरपदेषु महानित्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—महाव्री॑हिः, महाप॑राह्णः, महागृ॑ष्टिः, महेष्वा॑सः, महाजा॑बालः, महाभा॑रः, महाभा॑रतः, महाहै॑लिहिलः, महारौ॑रवः, महाप्रवृद्धः॥

भाषार्थः—[*व्रीह्य···द्धेषु*] व्रीहि, अपराह्ण, गृष्टि, इष्वास, जाबाल, भार, भारत, हैलिहिल, रौरव, प्रवृद्ध इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद स्थित [*महान्*] महान् शब्द को प्रकृतिस्वर होता है॥ महत् शब्द *वर्तमाने पृषद्बृहन्०* (*उणा०* २।८४) में निपातन से अन्तोदात्त है। *सन्महत्०* (२।१।६०) से सर्वत्र समास हुआ जानें॥ *उदा०*—महाव्रीहिः (धान्य विशेष का नाम)। महापराह्णः (अपराह्ण का अन्तिम भाग)। महागृष्टिः (डीलडौल में बड़ी एक बार ब्यायी हुई गाय)। महेष्वासः (बहुत बड़ा धनुर्धर)। महाजाबालः (ऋषि विशेष की संज्ञा)। महाभारः (बहुत बोझ)। महाभारतः (इस नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ)। महाहैलिहिलः (बहुत खिलाड़ी)। महारौरवः (नरक विशेष की संज्ञा)। महाप्रवृद्धः (बहुत वृद्ध)॥

यहाँ से '*महान्*' की अनुवृत्ति ६।२।३९ तक जायेगी॥

क्षुल्लकश्च वैश्वदेवे ॥६।२।३९॥

क्षुल्लकः १।१॥ च अ०॥ वैश्वदेवे ७।१॥ *अनु०*—महान्, प्रकृत्या

पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—वैश्वदेव उत्तरपदे क्षुल्लक इत्येतत्पूर्वपदं महांश्च प्रकृ
स्वरं भवति ॥ *उदा०*—क्षुल्लकवैश्वदेवम्, महावैश्वदेवम् ॥ क्षुधं लाती
क्षुल्लः; तस्मात् कः (३।२।२) । क्षुल्लशब्दः क्षुद्रपर्यायः[1] ॥

भाषार्थः—[वैश्वदेवे] वैश्वदेव शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद स्थि
[क्षुल्लकः] क्षुल्लक [च] तथा महान् शब्द को प्रकृतिस्वर होता है ॥ क्षु
शब्द से ह्रस्व (५।३।८६) अर्थ में क प्रत्यय होकर क्षुल्लक शब्द बना
अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है । महान् शब्द में पूर्ववत् स्वर जा
ये दोनों यज्ञविशेषों की संज्ञाएं हैं ॥

उष्ट्रः सादिवाम्योः ॥६।२।४०॥

उष्ट्रः १।१॥ सादिवाम्योः ७।२॥ *स०*—सादि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः
अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—सादि, वामि इत्येतयोरुत्तरपद
उष्ट्र इत्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—उष्ट्रसादि, उष्ट्रवामि
उष्ट्रसादी, उष्ट्रवामी ॥

भाषार्थः—[*सादिवाम्योः*] सादि तथा वामि शब्द उत्तरपद र
पूर्वपद स्थित [उष्ट्रः] उष्ट्र शब्द को प्रकृतिस्वर होता है ॥ उष्ट्र श
उषिखनिभ्यां कित् (*उणा०* ४।१६२) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त है, अ
नित्स्वर से आद्युदात्त है । यहाँ सद वम धातु से (उणा० ४।१२५) इ
प्रत्ययान्त का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग है । उष्ट्र उपपद होने पर सद वम धा
से णिनि होकर उष्ट्रसादी उष्ट्रवामी प्रयोग होते हैं । सूत्र में सामा
निर्देश होने से दोनों का ग्रहण इष्ट है । पूर्व में षष्ठी समास होने से
समासान्त स्वर का अपवाद है, उत्तर में कृत् स्वर का ॥

गौः सादसादिसारथिषु ॥६।२।४१॥

गौः १।१॥ सादसादिसारथिषु ७।३॥ *स०*—साद० इत्यत्रेतरेत
द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—साद सादि सारथि इत्येते

---

१. पाश्चात्त्य विद्वान् क्षुद्रपर्याय क्षुल्लक शब्द को क्षुद्रक का अपभ्रंश मा
हैं और उस अपभ्रंश का संस्कृत में प्रवेश हो गया है ऐसा स्वीकार करते है
परन्तु उनका यह कथन अज्ञानमूलक है क्योंकि जिस समय अपभ्रंशों की उत्प
भी नहीं हुई थी उस काल में प्रोक्त वैदिकग्रन्थों में क्षुल्लक शब्द का प्रयोग उपल
होता है ।

त्तरपदेषु गो इत्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—गोः सादः गोसादः, गोः सादिः गोसादिः, गाः सादयतीति गोसादी, गोसारथिः ।।

भाषार्थः—[*सादसादिसारथिषु*] साद, सादि, सारथि, इन शब्दों के उत्तरपद रहते, पूर्वपद स्थित [*गोः*] गो शब्द को प्रकृति स्वर हो जाता है ।। गौ की सिद्धि सूत्र ६।२।१७ में देखें ।। उदा०—गोसादः (बैल को संताप देने वाला), गोसादिः (बैल का सवार), गाः सादयतीति गोसादी (गोघातक), गोसारथिः (बैलों का सारथि) ।।

कुरुगार्हपत रिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपा पारेवडवा तैतिलकद्रूः पण्यकम्बलो दासीभाराणां च ।।६।२।४२।।

कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु इत्येतौ लुप्तप्रथमान्तनिर्दिष्टौ ।। असूतजरती १।१।। अश्लीलदृढरूपा १।१।। पारेवडवा १।१।। तैतिलकद्रूः १।१।। पण्यकम्बलः १।१।। सर्वत्र सुब्व्यत्ययेन षष्ठीस्थाने प्रथमा वेदितव्या ।। दासीभाराणाम् ६।३।। च अ० ।। *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अश्लीलदृढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू, पण्यकम्बल इत्येतेषां सप्तानां समासानां दासीभारादीनाञ्च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। *उदा०*—कुरूणां गार्हपतं कुरुगार्हपतम् । रिक्तो गुरुः रिक्तंगुरुः, रिक्तगुरुः, असूता जरती असूतजरती । अश्लीला दृढरूपा अश्लीलदृढरूपा । पारेवडवा इव पारेवडवा । तैतिलानां कद्रूः तैतिलकद्रूः । पण्यकम्बलः । दासीभारादीनां—दास्याः भारः दासीभारः देवहूतिः, देवजूतिः, देवसूतिः, देवनीतिः ।।

भाषार्थः—[*कुरुगार्हपत···पण्यकम्बलः*] कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अश्लीलदृढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू, पण्यकम्बल इन सात समास किये हुये शब्दों के [च] तथा [*दासीभाराणाम्*] दासीभारादि शब्दों के पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।। दासीभाराणाम् में बहुवचन दासीभारादि गण के द्योतन के लिये है । कुरुगार्हपतम् यहाँ कुरु शब्द *कृग्रोरुच्च* (*उणा०* १।२४) से कुप्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है । रिक्त शब्द *रिक्ते विभाषा* (६।१।२०२) से विकल्प से से आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त है । असूत अश्लील शब्द में *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने पर *निपाता आद्युदात्ताः* (*फिट्०* ८०) से नञ् उदात्त है । पारेवडवा यहाँ निपातन से इवार्थ

में समास तथा विभक्ति का अलुक् जानें। *घृतादीनां च* (फिट्० २१) से पार शब्द अन्तोदात्त है। तितिलिनोऽपत्यं तैतिलः, यहाँ तैतिल शब्द अणन्त (४।१।६२) होने से अन्तोदात्त है। पण्यकम्बलः यहाँ पण्य शब्द *अवद्यपण्य०* (३।१।१०१) में यत् प्रत्ययान्त निपातन है, अतः *यतोऽनावः* (६।१।२०७) से यह शब्द आद्युदात्त है। *दंसेष्टटनौ न आ च* (उणा० ५।१०) से दंस धातु से ट प्रत्यय तथा न को आकारादेश होकर 'दास' शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। टित् होने से *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होकर दासी बनेगा। अतः उदात्तनिवृत्तिस्वर से यह अन्तोदात्त शब्द है। देवहूतिः आदि में देव शब्द पचाद्यच् प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है॥ *उदा०*—कुरुगार्हपतम् (कुरु जनपद के गृहपतियों की संस्था)। रिक्तगुरुः (खाली रहने पर भी भारी)। असूतजरती (सन्तानोत्पत्ति न होने पर भी वृद्धा)। अश्लीलदृढरूपा (श्री = कान्ति से रहित होने पर भी स्थिर रूप वाली)। पारेवडवा (उस तरफ घोड़ी के समान)। तैतिलकद्रूः। पण्यकम्बलः (बिकाऊ कम्बल)। दासीभारः (दासी के वहन करने योग्य भार)॥

चतुर्थी तदर्थे ॥६।२।४३॥

चतुर्थी १।१॥ तदर्थे ७।१॥ *स०*—तस्मै (= चतुर्थ्यन्तार्थाय) इदम्, तदर्थम्, तस्मिन् तदर्थे, चतुर्थीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं तदर्थ उत्तरपदे प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—यूपदारु, कुण्डलहिरण्यम्, रथदारु, वल्लीहिरण्यम्॥

भाषार्थः—[*चतुर्थी*] चतुर्थी पूर्वपद को [*तदर्थे*] तदर्थ = चतुर्थ्यन्तार्थ के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है॥ यूपदारु आदि शब्द में चतुर्थी तत्पुरुष समास है, अतः अर्थ होगा—'यूप के लिये जो लकड़ी'। अब यहाँ चतुर्थ्यन्त के अर्थ = यूप के लिए दारु है, सो चतुर्थ्यन्तार्थ दारु शब्द उत्तरपद में हुआ। इसी प्रकार औरों में जानें। यूप की सिद्धि परि० ६।२।१ में देखें। कुडि धातु से *वृषादिभ्यश्चित्* (उणा० १।१०६) से बाहुलक से कुण्डल शब्द कल प्रत्ययान्त एवं चित् है, अतः चित् स्वर (६।१।१५७) से अन्तोदात्त है। रथ शब्द *हनिकुषिनी०* (उणा० २।२) से क्थन् प्रत्ययान्त होने से नित् स्वर से आद्युदात्त है। वल्ली शब्द गौरादित्वात् (४।१।४१) ङीष् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त (३।१।३) है॥

यहाँ से '*चतुर्थी*' की अनुवृत्ति ६।२।४५ तक जायेगी।

स्तस्मिन्....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—गतिः, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अनिगन्तो गतिर्वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतः प्रकृतिस्वरो भवति ॥ *उदा०*—प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः, पराङ्, पराञ्चौ, पराञ्चः ॥

भाषार्थः—[*अनिगन्तः*] इक् अन्त में नहीं है जिसके, ऐसे गतिसंज्ञक को [*वप्रत्यये*] वप्रत्ययान्त [*अञ्चतौ*] अञ्चु धातु के परे रहते प्रकृतिस्वर होता है ॥ प्राङ् की सिद्धि भाग १ परि० ३।२।५९ पृ० ८६२ में देखें। इसी प्रकार पराङ् भी बनेगा। प्र परा अनिगन्त गति हैं, अञ्चु धातु क्विन् प्रत्ययान्त है। क्विन् का व् शेष रह जाता है, अतः वप्रत्ययान्त अञ्चु परे है ही। प्रकृतिस्वर कहने से पूर्ववत् आद्युदात्त हो जायेगा, *स्वरितो वानुदात्ते०* (८।२।६) से पक्ष में स्वरितत्व भी होता है।

यहाँ से '*अञ्चतौ वप्रत्यये*' की अनुवृत्ति ६।२।५३ तक जायेगी ॥

न्यधी च ॥६।२।५३॥

न्यधी १।२॥ च अ० ॥ *स०*—निश्च अधिश्च न्यधी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अञ्चतौ वप्रत्यये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—नि अधि इत्येतौ चाञ्चतौ वप्रत्यये परतः प्रकृतिस्वरौ भवतः ॥ *उदा०*—न्यङ्, न्यञ्चौ, न्यञ्चः, अध्यङ्, अध्यञ्चौ, अध्यञ्चः, अधीचः, अधीचा ॥

भाषार्थः—वप्रत्ययान्त अञ्चु के परे रहते [*न्यधी*] नि अधि को [च] भी प्रकृतिस्वर होता है ॥ नि अधि इगन्त हैं, अतः पूर्वसूत्र से प्राप्त नहीं था, यहाँ विधान कर दिया ॥ न्यङ् यहाँ नि पूर्ववत् उदात्त था, यणादेश करने पर *उदात्तस्वरितयोर्यणः०* (८।२।४) से 'य' का 'अ' स्वरित हो गया। अधि का अ पूर्ववत् उदात्त है। अधीचः अधीचा में 'चौ' (६।१।२१६) प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

ईषदन्यतरस्याम् ॥६।२।५४॥

ईषत् अ० ॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ईषदित्येतत् पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—ईषत्कडारः, ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गलः ईषत्पिङ्गलः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*ईषत्*] ईषत् को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ ईषत् शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है,

समासे अनिष्ठान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—श्रेणिकृताः, ऊककृताः, पूगकृताः, निधनकृताः ॥

भाषार्थः—क्तान्त उत्तरपद रहते [*कर्मधारये*] कर्मधारय समास में [*अनिष्ठा*] अनिष्ठान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ श्रेणि शब्द *वहिश्रिश्रुयुद्रु०* (*उणा०* ४.५१) से नि प्रत्ययान्त है, यहाँ नित् की अनुवृत्ति आने से श्रेणि शब्द नित् स्वर से आद्युदात्त है। 'ऊक' तथा 'निधन' की सिद्धि सूत्र ६।२।३२ में देखें। पूग शब्द *छापूञ्खडिभ्यो गक्* (*दशपा०* ३।६६) से गक् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है ॥

अहीने द्वितीया ॥६।२।४७॥

अहीने ७।१॥ द्वितीया १।१॥ *स०*—अहीन इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अहीनवाचिनि समासे क्तान्त उत्तरपदे द्वितीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—कष्टश्रितः, त्रिशकलपतितः, ग्रामगतः ॥

भाषार्थः—[*अहीने*] अहीनवाची समास में क्तान्त उत्तरपद रहते [*द्वितीया*] द्वितीयान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ कष्ट शब्द क्त-प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। *कृच्छ्रगहनयोः कषः* (७।२।२२) से यहाँ इट् का प्रतिषेध हुआ है। त्रीणि शकलान्यस्य त्रिशकलः यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है, अतः पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने पर प्रातिपदिक स्वर से त्रि उदात्त है, पश्चात् त्रिशकल का पतित के साथ द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ, सो प्रकृत सूत्र से प्रकृतिस्वर हो गया। ग्राम शब्द *ग्रसेरा च* (*उणा०* १।१४३) से मन् प्रत्ययान्त है, यहाँ मन् की अनुवृत्ति १।१४० से आ रही है। इस प्रकार नित् स्वर से आद्युदात्त यह शब्द है। कष्टश्रितः = कष्ट को प्राप्त हुआ २ यहाँ सर्वत्र उत्तरपदार्थ का पूर्वपदार्थ से पृथक्त्व न होने से अहीन अर्थ है ॥

तृतीया कर्मणि ॥६।२।४८॥

तृतीया १।१॥ कर्मणि ७।१॥ *अनु०*—क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—कर्मवाचिनि क्तान्त उत्तरपदे तृतीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—अहिहतः, वज्रहतः, महाराजहतः, नखनिर्भिन्ना, दात्रलूना॥

भाषार्थः—[*कर्मणि*] कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद रहते [*तृतीया*] तृतीयान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है॥ अहि शब्द *आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च* (उणा० ४।१३८) से आङ्पूर्वक हन् धातु से इण् प्रत्ययान्त है। यहाँ ४।१३४ से डित् की अनुवृत्ति भी होने से टि भाग का लोप एवं आङ् को ह्रस्वत्व होकर अहिः बना। अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त यह शब्द है[1]। वज्र शब्द *ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०* (उणा० २।२८) से रक् प्रत्ययान्त निपातन है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। महाराज शब्द भी *राजाहःसखि०* (५।४।९१) से टच् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। नास्य खमस्तीति नखः यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है अतः *नञ्सुभ्याम्* (६।२।१७१) से अन्तोदात्त यह शब्द है *नभ्राण्नपान्नवेदा०* (६।३।७३) में 'नख' के नञ् को प्रकृतिभाव होने के कारण *नलोपो नञः* (८।१।७१) से नकार का लोप नहीं होता। दात्र शब्द *दाम्नीशस०* (३।२।१८२) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त है, अतः नित् स्वर से आद्युदात्त है॥

यहाँ से '*कर्मणि*' की अनुवृत्ति ६।२।४९ तक जायेगी॥

गतिरनन्तरः॥ ६।२।४९॥

गतिः १।१॥ अनन्तरः १।१॥ *स०*—अविद्यमानम् अन्तरम् यस्य सः अनन्तरः, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—कर्मणि, क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—कर्मवाचिनि क्तान्त उत्तरपदे अनन्तरो गतिः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—प्रकृ॑तः, प्रहृ॑तः॥

भाषार्थः—कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ [*अनन्तरः*] अनन्तर अर्थात् अव्यवहित [*गतिः*] गति को प्रकृतिस्वर होता है॥ उदाहरण में कृत, हृत शब्द क्तान्त हैं, उनसे अव्यवहित पूर्व 'प्र' गति है। *गतिश्च* (१।४।५९) से 'प्र' की गति संज्ञा होती है। इस प्रकार प्रकृतिस्वर होने पर *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* (फिट्० ८०) से 'प्र' उदात्त होता है॥

यहाँ से '*गतिः*' की अनुवृत्ति ६।२।५२ तक तथा '*अनन्तरः*' की ६।२।५१ तक जायेगी॥

---

१. केचित्तु आद्युदात्तमिच्छन्ति, ते पूर्वसूत्रादुदात्तग्रहणमनुवर्तयन्ति। द्र० दशपादी उणा० १।६७॥

तादौ च निति कृत्यतौ ॥६।२।५०॥

तादौ ७।१॥ च अ० ॥ निति ७।१॥ कृति ७।१॥ अतौ ७।१॥ स०—तकार आदिर्यस्य स तादिः, तस्मिन् बहुव्रीहिः। नकार इत् यस्य स नित् तस्मिन्.......बहुव्रीहिः। न तुः, अतुस्तस्मिन्.......नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—गतिरनन्तरः, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—तुशब्दवर्जिते च तकारादौ निति कृति परतः गतिरनन्तरः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—प्रकर्त्ता, प्रकर्त्तुम्, प्रकृतिः ॥

भाषार्थः—[*अतौ*] तु शब्द को छोड़कर [*तादौ*] तकारादि एवं [*निति*] नकार इत् संज्ञक है जिसका ऐसे [*कृति*] कृत् के परे रहते [*च*] भी अनन्तर पूर्वपद गति को प्रकृतिस्वर होता है ॥ प्रकर्त्ता में तृन् प्रत्यय हुआ है, तथा प्रकर्त्तुम् में तुमुन्, एवं प्रकृतिः में क्तिन् हुआ है। तीनों प्रत्यय नित्, कृत् संज्ञक एवं तकारादि हैं। अतः प्रकृतिस्वर होकर पूर्ववत् 'प्र' उदात्त हो गया ॥

तवै चान्तश्च युगपत् ॥६।२।५१॥

तवै लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अन्तः १।१॥ च अ० ॥ युगपत् अ० ॥ *अनु०*—गतिरनन्तरः, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—तवैप्रत्ययस्य अन्त उदात्तो भवति गतिश्चानन्तरः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति युगपच्चैतदुभयं स्यात् ॥ *उदा०*—अन्वेतवै, परिस्तरितवै, परिपातवै, अभिचरितवै ॥

भाषार्थः—[*तवै*] तवै प्रत्यय को [*अन्तः*] अन्त उदात्त [*च*] भी होता है, [*च*] तथा अनन्तर पूर्वपद गति को भी प्रकृतिस्वर [*युगपत्*] एक साथ होता है ॥ *अनुदात्तं पदमेकवर्जम्* (६।१।१५२) परिभाषा के कारण पद में एक अच् को ही उदात्त प्राप्त था, अतः यहाँ युगपत् कह कर एक साथ दो उदात्त कह दिये ॥ प्रकृति स्वर में पूर्ववत् उपसर्ग को आद्युदात्त होगा। *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* (फिट्० ८०) में अभि को छोड़ कर आद्युदात्त विधान किया है, *अतः* अभिचरितवै में 'अभि' आद्युदात्त न होकर प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है ॥ 'वै' सर्वत्र उदात्त है ॥

अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये ॥६।२।५२॥

अनिगन्तः १।१॥ अञ्चतौ ७।१॥ वप्रत्यये ७।१॥ स०—न विद्यते इक् अन्ते यस्य सः अनिगन्तः, बहुव्रीहिः। वकारः प्रत्ययो यस्य स वप्रत्यय-

स्तस्मिन्‌ ... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—गतिः, प्रकृत्या पूर्वपदम्‌ ॥ *अर्थः*—अनिगन्तो गतिर्वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतः प्रकृतिस्वरो भवति ॥ *उदा०*—प्राङ्‌, प्राञ्चौ, प्राञ्चः, पराङ्‌, पराञ्चौ, पराञ्चः ॥

भाषार्थः—[*अनिगन्तः*] इक्‌ अन्त में नहीं है जिसके, ऐसे गतिसंज्ञक को [*वप्रत्यये*] वप्रत्ययान्त [*अञ्चतौ*] अञ्चु धातु के परे रहते प्रकृतिस्वर होता है ॥ प्राङ्‌ की सिद्धि भाग १ परि० ३।२।५९ पृ० ८६२ में देखें । इसी प्रकार पराङ्‌ भी बनेगा । प्र परा अनिगन्त गति हैं, अञ्चु धातु क्विन्‌ प्रत्ययान्त है । क्विन्‌ का व्‌ शेष रह जाता है, अतः वप्रत्ययान्त अञ्चु परे है ही । प्रकृतिस्वर कहने से पूर्ववत्‌ आद्युदात्त हो जायेगा, *स्वरितो वानुदात्ते०* (८।२।६) से पक्ष में स्वरितत्व भी होता है ।

यहाँ से '*अञ्चतौ वप्रत्यये*' की अनुवृत्ति ६।२।५३ तक जायेगी ॥

न्यधी च ॥६।२।५३॥

न्यधी १।२॥ च अ० ॥ *स०*—निश्च अधिश्च न्यधी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अञ्चतौ वप्रत्यये, प्रकृत्या पूर्वपदम्‌ ॥ *अर्थः*—नि अधि इत्येतौ चाञ्चतौ वप्रत्यये परतः प्रकृतिस्वरौ भवतः ॥ *उदा०*—न्यङ्‌, न्यञ्चौ, न्यञ्चः, अध्यङ्‌, अध्यञ्चौ, अध्यञ्चः, अधीचः, अधीचा ॥

भाषार्थः—वप्रत्ययान्त अञ्चु के परे रहते [*न्यधी*] नि अधि को [च] भी प्रकृतिस्वर होता है ॥ नि अधि इगन्त हैं, अतः पूर्वसूत्र से प्राप्त नहीं था, यहाँ विधान कर दिया ॥ न्यङ्‌ यहाँ नि पूर्ववत्‌ उदात्त था, यणादेश करने पर *उदात्तस्वरितयोर्यणः०* (८।२।४) से 'य' का 'अ' स्वरित हो गया । अधि का अ पूर्ववत्‌ उदात्त है । अधीचः अधीचा में 'चौ' (६।१।२१६) प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

ईषदन्यतरस्याम्‌ ॥६।२।५४॥

ईषत्‌ अ० ॥ अन्यतरस्याम्‌ ७।१॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम्‌ ॥ *अर्थः*—ईषदित्येतत्‌ पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—ईषत्कडारः, ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गलः ईषत्पिङ्गलः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*ईषत्‌*] ईषत्‌ को [*अन्यतरस्याम्‌*] विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ ईषत्‌ शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है,

पक्ष में *समासस्य* (६।१।२१७) का अपवाद होने से समास को अन्तोदात्त होगा। *ईषदकृता* (२।२।७) से यहाँ समास होता है॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक जायेगी॥

हिरण्यपरिमाणं धने ॥६।२।५५॥

हिरण्यपरिमाणम् १।१॥ धने ७।१॥ *स०*—हिरण्यञ्च तत् परिमाणञ्च हिरण्यपरिमाणम्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—हिरण्यपरिमाणवाचि पूर्वपदं धनशब्द उत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—द्वे सुवर्णे परिमाणमस्येति द्विसुवर्णम्, द्विसुवर्णमेव धनं द्विसुवर्णधनम्, द्विसुवर्णधनम्॥

भाषार्थः—[*हिरण्यपरिमाणम्*] हिरण्य और परिमाण दोनों अर्थों को कहने वाले पूर्वपद को [*धने*] धन शब्द उत्तरपद रहते विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है॥ सुवर्ण शब्द सोने का वाचक है, तथा सोने के तौल = १६ माषा के परिमाण को भी कहता है, अतः सुवर्णशब्द परिमाण और सोना दोनों का वाचक हुआ॥ *द्विसुवर्ण* यहाँ *तद्धितार्थो०* (२।१।५१) से समास होता है, अतः *समासस्य* से अन्तोदात्त होगा। *प्राग्वतेष्ठञ्* (५।१।१८) से जो ठञ् प्रत्यय होता है उसका *अध्यर्ध०* (५।१।२८) से लुक् हो जाता है पश्चात् धन शब्द के साथ कर्मधारय समास हुआ तब प्रकृतिस्वर होकर 'र्ण' ही उदात्त रहा॥ *उदा०*—द्विसुवर्णधनम् (दो सुवर्ण = ३२ माषा धन)॥

प्रथमोऽचिरोपसंपत्तौ ॥६।२।५६॥

प्रथमः १।१॥ अचिरोपसंपत्तौ ७।१॥ *स०*—न चिरा अचिरा नञ्तत्पुरुषः। अचिरा उपसंपत्तिः = उपश्लेषः, सम्बन्धः अचिरोपसंपत्तिः तस्मिन्......कर्मधारयतत्पुरुषः॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—अचिरोपसंपत्तौ गम्यमानायां प्रथमशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—प्रथमवैयाकरणः, प्रथमवैयाकरणः॥

भाषार्थः—[*अचिरोपसम्पत्तौ*] अचिरकाल उपसम्पत्ति = सम्बन्ध गम्यमान हो तो [*प्रथमः*] प्रथम पूर्वपदस्थित शब्द को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है॥ प्रथम शब्द *प्रथेरमच्* (*उणा०* ५।६८) से अमच् प्रत्य-

यान्त है, अतः चित् स्वर से अन्तोदात्त है। पक्ष में समास अन्तोदात्तत्व होगा ॥ *उदा०*---प्रथमवैयाकरणः (व्याकरण का नवीन विद्वान्) पहले पहल पढ़ने से यहाँ अचिरोपसम्पत्ति गम्यमान है ॥ *पूर्वापरप्रथम०* (२।१।५८) से उदाहरण में समास हुआ है ॥

कतरकतमौ कर्मधारये ॥६।२।५७॥

कतरकतमौ १।२॥ कर्मधारये ७।१॥ *स०*—कतर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—कतर कतम इत्येते पूर्वपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरे भवतः कर्मधारये समासे ॥ *उदा०*—कतरकठः, कतरकठः। कतमकठः, कतमकठः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*कतरकतमौ*] कतर तथा कतम शब्द को [*कर्मधारये*] कर्मधारय समास में विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ कतर शब्द *किंयत्तदो०* (५।४।९२) से डतरच् प्रत्ययान्त है, तथा कतम *वा बहूनां जाति०*(५।४।९३) से डतमच् प्रत्ययान्त है, अतः दोनों शब्द चित् स्वर से अन्तोदात्त हैं। पक्ष में समास का अन्तोदात्तत्व होगा ही ॥ यहाँ *कतरकतमौ०* (२।१।६३) से समास हुआ है ॥

यहाँ से '*कर्मधारये*' की अनुवृत्ति ६।२।५९ तक जायेगी ॥

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः ॥६।२।५८॥

आर्यः १।१॥ ब्राह्मणकुमारयोः ७।२॥ *स०*—ब्राह्मण० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कर्मधारये, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ब्राह्मणकुमारशब्दयोरुत्तरपदयोरार्यशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति कर्मधारये समासे ॥ *उदा०*—आर्यब्राह्मणः, आर्यब्राह्मणः, आर्यकुमारः, आर्यकुमारः ॥

भाषार्थः—[*ब्राह्मणकुमारयोः*] ब्राह्मण तथा कुमार शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में पूर्वपद स्थित [*आर्यः*] आर्य शब्द को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ आर्य शब्द *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्ययान्त है, अतः *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) से अन्त स्वरित है। पक्ष में पूर्ववत् स्वर होगा ॥

यहाँ से '*ब्राह्मणकुमारयोः*' की अनुवृत्ति ६।२।५९ तक जायेगी ॥

राजा च ॥६।२।५९॥

राजा १।१॥ च अ०॥ *अनु०*—ब्राह्मणकुमारयोः, कर्मधारये, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—ब्राह्मणकुमारयोरुत्तरपदयोः कर्मधारये समासे राजा च पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—राजब्राह्मणः, राजब्राह्मणः। राजकुमारः, राजकुमारः॥

भाषार्थः—ब्राह्मण तथा कुमार शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में पूर्वपद स्थित [*राजा*] राजन् शब्द को [*च*] भी विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है॥ राजन् शब्द *युवृषितक्षि०* (*उणा०* १।१५६) से कनिन् प्रत्ययान्त है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है॥

यहाँ से '*राजा*' की अनुवृत्ति ६।२।६० तक जायेगी॥

षष्ठी प्रत्येनसि ॥६।२।६०॥

षष्ठी १।१॥ प्रत्येनसि ७।१॥ *स०*—प्रतिगतमेनः पापं यस्य स प्रत्येनाः तस्मिन्'''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—राजा, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—षष्ठ्यन्तो राजशब्दः पूर्वपदं प्रत्येनस्युत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—राज्ञःप्रत्येनाः, राज्ञःप्रत्येनाः। राजप्रत्येनाः, राजप्रत्येनाः॥

भाषार्थः—[*षष्ठी*] षष्ठ्यन्त पूर्वपद स्थित राजन् शब्द को [*प्रत्येनसि*] प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद रहते विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है॥ पूर्ववत् स्वर सिद्धि जानें॥ पूर्व के दो उदाहरणों 'राज्ञःप्रत्येनाः' में *षष्ठ्या आक्रोशे* (६।३।२०) से आक्रोश में षष्ठी का अलुक् हुआ है, तथा जब आक्रोश अर्थ की विवक्षा नहीं होगी तो षष्ठी का लुक् होकर दो उदाहरण 'राजप्रत्येनाः' बनेंगे। अलुक् एवं स्वरभेद से कुल ४ उदाहरण बने हैं॥

क्ते नित्यार्थे ॥६।२।६१॥

क्ते ७।१॥ नित्यार्थे ७।१॥ *स०*—नित्यः अर्थो यस्य स नित्यार्थस्तस्मिन्'''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—क्तान्त उत्तरपदे, नित्यार्थे समासे पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—नित्यंप्रहसितः, नित्यप्रहसितः। सततप्रहसितः, सततप्रहसितः॥

भाषार्थः—[*क्ते*] क्तान्त उत्तरपद रहते [*नित्यार्थे*] नित्य अर्थ है जिसका ऐसे समास में विकल्प से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ नित्य शब्द *त्यब्नेर्ध्रुवे* (*वा०* ४।२।१०३) इस वार्त्तिक से त्यप् प्रत्ययान्त है, अतः पित् होने से 'य' अनुदात्त तथा 'नि' *उपसर्गा०* (*फिट्०* ८०) से उदात्त है। सतत शब्द में जब भाव में क्त होगा तो *थाथघञ्०* (६।२।१४३) से अन्तोदात्त होगा तथा जब कर्म में क्त होगा, तो *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा ॥ पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त स्वर है ॥ *कालाः* (२।१।२७) सूत्र से यहाँ द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ है ॥ *उदा०*—नित्यप्रहसितः (सदा हँसता हुआ)। सततप्रहसितः (पूर्ववत्) सर्वत्र यहाँ नित्यार्थ है ही ॥

ग्रामः शिल्पिनि ॥६।२।६२॥

ग्रामः १।१॥ शिल्पिनि ७।१॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—ग्रामशब्दः पूर्वपदं शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—ग्रामनापितः, ग्रामनापितः। ग्रामकुलालः, ग्रामकुलालः ॥

भाषार्थः—[*शिल्पिनि*] शिल्पिवाची उत्तरपद रहते [*ग्रामः*] ग्राम पूर्वपद को विकल्प से प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ ग्राम शब्द का स्वर ६।२।४७ सूत्र में देखें ॥ उदाहरणों में षष्ठीतत्पुरुष समास है। पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त स्वर है ॥ *उदा०*—ग्रामनापितः (गाँव का नाई), ग्रामकुलालः (गाँव का कुम्हार) ॥ यहाँ उत्तरपद नापित, कुलाल शब्द शिल्पी = कारीगरवाची हैं ही ॥

यहाँ से '*शिल्पिनि*' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक जायेगी ॥

राजा च प्रशंसायाम् ॥६।२।६३॥

राजा १।१॥ च अ० ॥ प्रशंसायाम् ७।१॥ *अनु०*—शिल्पिनि, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे राजशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति प्रशंसायां गम्यमानायाम् ॥ *उदा०*—राजनापितः, राजनापितः, राजकुलालः, राजकुलालः ॥

भाषार्थः—[*प्रशंसायाम्*] प्रशंसा गम्यमान हो तो शिल्पिवाची शब्द उत्तरपद रहते [*राजा*] राजन् पूर्वपद वाले शब्द को [*च*] भी विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ राजन् शब्द का स्वर सूत्र ६।२।५९ में देखें। पक्ष

में अन्तोदात्तत्व होगा ही। उदाहरणों में कर्मधारय समास है। राजा के गुण का अध्यारोप उत्तरपद में किया जा रहा है, अतः उत्तरपदार्थ की प्रशंसा गम्यमान होती है। षष्ठीसमास मानने पर भी राजा का नाई होने से प्रशंसा प्रतीत होती है, अतः दोनों समास हो सकते हैं॥
उदा०—राजनापितः (राजा नाई अर्थात् निपुण नाई, अथवा राजा का नाई), राजकुलालः॥

[*पूर्वपदाद्युदात्तप्रकरणम्*]

आदिरुदात्तः ॥६।२।६४॥

आदिः १।१॥ उदात्तः १।१॥ *अनु०*—पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—आदिरुदात्त इत्ययमधिकारो वेदितव्यः, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामस्तत्र पूर्वपदस्यादिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—स्तूपे॑शाणः, मुकु॑टेकार्षापणम्॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे जो कुछ कहेंगे उसके पूर्वपद के [*आदिः*] आदि को [*उदात्तः*] उदात्त होता है, ऐसा जानना चाहिये॥ उदाहरण में *सप्तमीहारिणौ०* (६।२।६५) से पूर्वपद आद्युदात्त हुआ है॥

यहाँ से '*आदिः*' की अनुवृत्ति ६।२।९१ तक तथा '*उदात्तः*' की ६।२।१९८ तक जायेगी॥

सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे ॥६।२।६५॥

सप्तमीहारिणौ १।२॥ धर्म्ये ७।१॥ अहरणे ७।१॥ *स०*—सप्तमी च हारी च सप्तमीहारिणौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अहरण इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः पूर्वपदम्॥ हारीत्यावश्यके (३।३।१७०) णिनिः॥ *अर्थः*—हरणशब्दवर्जिते धर्म्यवाचिनि उत्तरपदे सप्तम्यन्तं हारिवाचि च पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—स्तूपे॑शाणः, मुकु॑टेकार्षापणम्, हले॑द्विपदिका, हले॑त्रिपदिका, दृषदि॑माषकः। हारिणि—याज्ञि॑काश्वः, वैया॑करणहस्ती, मातु॑लाश्वः, पितृ॑व्यगवः॥

भाषार्थः—[*अहरणे*] हरण शब्द को छोड़कर [*धर्म्ये*] धर्म्यवाची शब्दों के परे रहते [*सप्तमीहारिणौ*] सप्तम्यन्त तथा हारिवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है॥ धर्मादनपेतमनुगतं धर्म्यम्, *धर्म्यपथ्यर्थ०*

(४।४।९२) से यहाँ यत् प्रत्यय होता है। कुल या देश की परम्परा के अनुसार जो किसी को देने योग्य वस्तु हो उसे धर्म्य कहते हैं। देय वस्तु को जो अवश्य स्वीकार करता है उसे 'हारी' कहते हैं॥ स्तूपेशाणः, मुकुटेकार्षापणम्, हलेद्विपदिका आदि में शाण कार्षापण और पाद शब्द प्राचीन काल के विशेष सिक्कों के वाचक हैं। स्तूपनिर्माण के समय, मुकुट = राज्यारोहण के समय, एकहल से जोतने योग्य भूमि पर लगने वाला जो धर्मानुकूल कर है वह स्तूपेशाणः आदि शब्दों से कहा जाता है। इन उदाहरणों में सप्तम्यन्त पूर्वपद में है तथा धर्म्यवाची (कुल परम्परा या देश परम्परा से देने योग्य वस्तुवाची) उत्तरपद में है। यहाँ सर्वत्र *संज्ञायाम्* (२।१।४३) से समास तथा *कारनाम्नि च०* (६।३।८) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् हुआ है। याज्ञिकाश्वः (यज्ञ कराने वाले को दक्षिणा में दिया जाने वाला घोड़ा), वैयाकरणहस्ती (वैयाकरण को उपहार में दिया जाने वाला हाथी) आदि उदाहरणों में हारिवाची याज्ञिक तथा वैयाकरण (चूँकि इनको देय वस्तु स्वीकार है, अतः ये हारिवाची हैं) पूर्वपद में हैं, धर्म्य उत्तरपद में है ही। धर्म्य तथा हारी से यहाँ स्वरूप का ग्रहण न होकर अर्थ का ग्रहण है॥ ये सब सूत्र भी *समासस्य* के अपवाद हैं॥

युक्ते च ॥६।२।६६॥

युक्ते ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—युक्तवाचिनि च समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—गोबल्लवः, अश्वबल्लवः। गोमणिन्दः, अश्वमणिन्दः। गोसङ्ख्यः, अश्वसङ्ख्यः॥

भाषार्थः—[*युक्ते*] युक्तवाची समास में [च] भी पूर्वपद को आद्युदात्त होता है। बल्लव शब्द गाय के पालक का वाचक है, इस प्रकार गाय के पालन आदि कर्म में अच्छे प्रकार तत्पर होने से यहाँ युक्तत्व अर्थ है॥

विभाषाऽध्यक्षे ॥६।२।६७॥

विभाषा १।१॥ अध्यक्षे ७।१॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—अध्यक्षशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं विकल्पेनाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—गवाध्यक्षः, गवाध्यक्षः। अश्वाध्यक्षः, अश्वाध्यक्षः॥

भाषार्थः—[*अध्यक्षे*] अध्यक्ष शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को [*विभाषा*] विकल्प से आद्युदात्त होता है ॥ *समासस्य* का अपवाद होने से पक्ष में अन्तोदात्त होगा ॥ *उदा०*—गवाध्यक्षः (गाय का निरीक्षक) ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।२।६८ तक जायेगी ॥

पापं च शिल्पिनि ॥६।२।६८॥

पापम् १।१॥ च अ० ॥ शिल्पिनि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे पापशब्दः पूर्वपदं विभाषाऽऽद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—पापनापितः, पापनापितः । पापकुलालः, पापकुलालः ॥

भाषार्थः—[*शिल्पिनि*] शिल्पिवाची शब्द उत्तरपद रहते [*पापम्*] पाप शब्द को [च] भी विकल्प से आद्युदात्त होता है ॥ पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्तत्व होगा । *पापाणके कुत्सितैः* (२।१।५३) से उदाहरणों में समानाधिकरण समास हुआ है ॥ पापनापितः का अर्थ है बुरा नाई, जो क्षौर को ठीक प्रकार से न कर सके ॥

गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे ॥६।२।६९॥

गोत्रा·····णेषु ७।३॥ क्षेपे ७।१॥ *स०*—गोत्रञ्च अन्तेवासी च माणवश्च ब्राह्मणश्च गोत्रा·····ह्मणास्तेषु·····इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—क्षेपवाचिनि समासे गोत्रवाचिनि, अन्तेवासिवाचिनि, चोत्तरपदे माणवब्राह्मणयोश्चोत्तरपदयोः पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—गोत्र—जङ्घावात्स्यः, भार्यासौश्रुतः वशाब्राह्मकृतेयः । अन्तेवासी कुमारीदाक्षाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः, कम्बलचारायणीयाः । माणव—भिक्षामाणवः । ब्राह्मण—दासीब्राह्मणः, वृषलीब्राह्मणः, भयब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—[*क्षेपे*] क्षेप = निन्दावाची समास में [*गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु*] गोत्रवाची, अन्तेवासिवाची तथा माणव एवं ब्राह्मण शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में जिस किसी हेतु से निन्दा प्रकट की जा रही है, अतः निन्दावाची समास है ॥ *उदा०*—जङ्घावात्स्यः (श्राद्ध इत्यादि में जाने पर जहाँ

वात्स्य गोत्र वाले के ही पादप्रक्षालनादि कार्य किये जाते हों, वहाँ कोई अवात्स्य जाकर कहे कि 'मैं वात्स्य हूँ' ताकि उसका भी पादप्रक्षालन हो, तो उसे जङ्घावात्स्यः कहकर पुकारेंगे, यही यहाँ निन्दा है), भार्यासौश्रुतः (भार्या की प्रधानता वाला सुश्रुत का अपत्य) भार्याप्रधानः सौश्रुतः भार्या-सौश्रुतः। यहाँ *शाकपार्थिवा०* (*वा०* २।१।५९) वार्त्तिक से समास तथा उत्तरपद (प्रधान) का लोप हुआ है। वशाब्राह्मकृतेयः (वशा वन्ध्या स्त्री को कहते हैं, अतः अर्थ होगा वन्ध्या स्त्री की प्रधानता वाला ब्रह्मकृत का अपत्य, यही यहाँ क्षेप है)। यहाँ ब्रह्मकृत शब्द शुभ्रादि गण में पठित होने से *शुभ्रादिभ्यश्च* (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय हुआ है। भार्या-सौश्रुतः के समान यहाँ भी समास जानें। कुमारीदाक्षाः (कन्या प्राप्ति की इच्छा से दाक्षि = व्याडि के प्रोक्त संग्रह ग्रन्थ को पढ़ने वाले) भिक्षामाणवः (भिक्षा प्राप्ति की आशा से ब्रह्मचर्य से रहने वाला), दासीब्राह्मणः (दासी जिसकी भार्या है ऐसा ब्राह्मण), भयब्राह्मणः (दण्ड के भय से ब्राह्मण बनने वाला)। दासीब्राह्मणः, वृषलीब्राह्मणः भयब्राह्मणः में *कर्तृकरणे०* (२।१।३१) से बहुल से (कृत् न होने पर भी) समास हुआ है, तथा अन्यों में '*सुप् सुपा*' के योगविभाग से समास जानें॥

अङ्गानि मैरेये ॥६।२।७०॥

अङ्गानि १।३॥ मैरेये ७।१॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥
अर्थः—मैरेयशब्द उत्तरपदे तदङ्गवाचीनि पूर्वपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति॥ मद्यविशेषो मैरेयः। अङ्गशब्दश्च उपादानकारणवाची॥
उदा०—गुडंमैरेयः, मधुंमैरेयः॥

भाषार्थः—[मैरेये] मैरेय शब्द उत्तरपद रहते उसके [*अङ्गानि*] अङ्ग = उपादानकारणवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है॥ मैरेय मद्य विशेष का वाचक है। अङ्ग शब्द का यहाँ उपादान कारण अर्थ है अर्थात् जिससे मैरेय बनाई जाए। उत्तरपद मैरेय होने से पूर्वपद अङ्ग शब्द से मैरेय का ही अङ्ग = उपादान कारण लिया गया है। गुडमैरेयः आदि में गुड़ की शराब, शहद की शराब अर्थ होने से गुड एवं मधु मैरेय के उपादन कारणवाची पूर्वपद स्थित शब्द हैं॥

भक्ताख्यास्तदर्थेषु ॥६।२।७१॥

भक्ताख्याः १।३॥ तदर्थेषु ७।३॥ *स०*—भक्तस्याख्या भक्ताख्याः…

षष्ठीतत्पुरुषः। तेभ्य इमानि, तदर्थानि तेषु ''चतुर्थीतत्पुरुषः।। अनु०-आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्।। अर्थः—भक्तवाचिनः शब्दास्तदर्थेषूत्तरपदेष्वाद्युदात्ता भवन्ति ।। उदा०—भिक्षाकंसः, श्राणाकंसः, भाजीकंसः ।।

भाषार्थः—भक्त अन्न को कहते हैं। आख्या ग्रहण अन्न के पर्याय एवं तद्विशेष का ग्रहण हो इसलिये है।। [*भक्ताख्याः*] अन्न की आख्य वाले शब्दों को [*तदर्थेषु*] तदर्थ (अन्न के लिये) जो (पात्रादि तद्वाची) शब्द के उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है ।। *उदा०*—भिक्षाकंसः (भिक्षा का पात्र), श्राणाकंसः (लप्सी का पात्र) भाजीकंसः (माँड का पात्र)। भिक्षा आदि शब्द अन्नविशेषवाची हैं, कंस (=कांसी का बना पात्र) तदर्थ शब्द है ही।।

गोबिडालसिंहसैन्धवेषूपमाने ।।६।२।७२।।

गोबिडालसिंहसैन्धवेषु ७।३।। उपमाने ७।१।। *स०*—गोबि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः।। *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—गो, बिडाल, सिंह, सैन्धव इत्येतेषूपमानवाचिषूत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ।। *उदा०*—धान्यं गौरिव धान्यगवः, हिरण्यगवः। भिक्षाबिडालः। तृणसिंहः, काष्ठसिंहः। सक्तुसैन्धवः, पानसैन्धवः ।।

भाषार्थः—[*गोबि''वेषु*] गो, बिडाल, सिंह, सैन्धव इन [*उपमाने*] उपमानवाची शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ।। उदाहरणों में *उपमितं व्याघ्रा०* (२।१।५५) से समास होता है[1] ।। धान्यगवः यहाँ *गोरतद्धित०* (५।४।६२) से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ है, अतः चित् स्वर प्राप्त था पूर्वपद आद्युदात्त कह दिया। अन्यत्र समास को अन्तोदात्तत्व ही प्राप्त था तदपवाद है ।। *उदा०*—धान्यगवः (गाय के समान ऊँची अन्नराशि), हिरण्यगवः (गौ के अवयव विशेष के समान स्वर्ण)। भिक्षाबिडालः (बिलार की तरह भिक्षा अर्थात् अति न्यून)। तृणसिंहः (सिंह की तरह घास का ढेर)। सक्तुसैन्धवः (नमक की तरह सफेद पिसा हुआ सत्तू) ।।

---

१. व्याघ्रादिगण में 'सिंह' शब्द साक्षात् पठित है शेष गो बिडाल सैन्धव का आकृतिगणत्व से समावेश होता है ।।

अके जीविकार्थे ॥६।२।७३॥

अके ७।१॥ जीविकार्थे ७।१॥ *स०*—जीविकाया अर्थः इदं, जीविकार्थः तस्मिन्''''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—जीविकाशब्देन तद्वान् अत्र लक्ष्यते । जीविकार्थवाचिनि समासे अकप्रत्ययान्तशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—दन्तलेखकः, नखलेखकः, अवस्करशोधकः, रमणीयकारकः ॥

भाषार्थः—[*जीविकार्थे*] जीविकार्थवाची समास में [*अके*] अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में *नित्यं क्रीडा०* (२।२।१७) से समास होता है ॥ सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें ॥ जीविका शब्द से यहाँ तद्वान् का ग्रहण है जो उदाहरणों से स्पष्ट है ॥

यहाँ से 'अके' की अनुवृत्ति ६।२।७४ तक जायेगी ॥

प्राचां क्रीडायाम् ॥६।२।७४॥

प्राचाम् ६।३॥ क्रीडायाम् ७।१॥ *अनु०*—अके, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—प्राग्देशनिवासिनां या क्रीडा तद्वाचिनि समासे अकप्रत्ययान्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—उद्दालकपुष्पभञ्जिका, वीरणपुष्पप्रचायिका, शालभञ्जिका, तालभञ्जिका ॥

भाषार्थः—[*प्राचाम्*] प्राग्देश निवासियों की जो [*क्रीडायाम्*] क्रीडा तद्वाची समास में अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ *उदा०*—उद्दालकपुष्पभञ्जिका (प्राच्य भारत की एक क्रीडा जिसमें लसौड़े के फूल तोड़े वा कुचले जाते हैं) । इसी प्रकार अन्यों का भी अर्थ समझें ॥यहाँ भी *नित्यं क्रीडा०* (२।२।१७) से ही समास हुआ है । सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें ॥

अणि नियुक्ते ॥६।२।७५॥

अणि ७।१॥ नियुक्ते ७।१॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अणन्त उत्तरपदे नियुक्तवाचिनि समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—छत्रधारः, तूणीरधारः, कमण्डलुग्राहः, भृङ्गारधारः ॥

भाषार्थः—[*अणि*] अणन्त शब्द उत्तरपद रहते [*नियुक्ते*] नियुक्त-

वाची समास में पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ *कर्मण्यण्* (३।२।१) से अण् प्रत्यय हुआ है ॥ *उदा०*—छत्रधारः (छत्र धारण करने वाला)। तूणीरधारः (बाण रखने के कोश = इषुधि को धारण करनेवाला)। कमण्डलुग्राहः (कमण्डलु लेने वाला)। भृङ्गारधारः ॥

यहाँ से '*अणि*' की अनुवृत्ति ६।२।७७ तक जायेगी ॥

शिल्पिनि चाकृञः ॥६।२।७६॥

शिल्पिनि ७।१॥ च अ० ॥ अकृञः ६।१॥ *स०*—अकृञ इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अणि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अणन्त उत्तरपदे शिल्पिवाचिनि समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, स चेदण् कृञो न भवति ॥ *उदा०*—तन्तुवायः, तुन्नवायः, बालवायः ॥

भाषार्थः—[*शिल्पिनि*] शिल्पिवाची समास में [च] भी अणन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह अण् [*अकृञः*] कृञ् का न हो, अर्थात् अणन्त शब्द कृञ् धातु से न बना हो तो ॥ *ह्वावामश्च* (३।२।२) से तन्तुवायः आदि में अण् प्रत्यय हुआ है, उसी सूत्र में सिद्धि देखें ॥ *उदा०*—तन्तुवायः (जुलाहा), तुन्नवायः (दर्जी), बालवायः (ऊनी वस्त्र बुनने वाला) ॥

यहाँ से '*अकृञः*' की अनुवृत्ति ६।२।७७ तक जायेगी ॥

संज्ञायां च ॥६।२।७७॥

संज्ञायाम् ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अकृञः, अणि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अकृञोऽणन्त उत्तरपदे संज्ञायां विषये पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—तन्तुवायो नाम कीटः, बालवायो नाम पर्वतः ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [च] भी अणन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह अण् कृञ् का न हो तो ॥ पूर्व सूत्र में शिल्पि विषय में कहा था, यहाँ संज्ञा में भी कह दिया ॥ तन्तुवाय रेशम के कीट का नाम है, तथा बालवाय पर्वत विशेष की संज्ञा है ॥

गोतन्तियवं पाले ॥६।२।७८॥

गोतन्तियवम् १।१॥ पाले ७।१॥ *स०*—गो० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥

अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—गो, तन्ति, यव इत्येतानि पूर्वपदानि पालशब्द उत्तरपद आद्युदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—गोपालः, तन्तिपालः, यवपालः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*गोतन्तियवम्*] गो, तन्ति, यव इन शब्दों को [*पाले*] पाल शब्द उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है ॥ *उदा०*—गोपालः (ग्वाला)। तन्तिपालः (राज्य की गायों के बड़े झुण्ड की देख-भाल करने वाला)। यवपालः (जौ की रखवाली करने वाला) ॥

णिनि ॥६।२।७९॥

णिनि ७।१॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—णिनन्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—फलहारी, पर्णहारी ॥

भाषार्थः—[*णिनि*] णिनन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में *व्रते* (३।२।८०) से णिनि प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*णिनि*' की अनुवृत्ति ६।२।८० तक जायेगी ॥

उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव ॥६।२।८०॥

उपमानम् १।१॥ शब्दार्थप्रकृतौ ७।१॥ एव अ० ॥ *स०*—शब्दोऽर्थः यस्य स शब्दार्थः बहुव्रीहिः। शब्दार्थः प्रकृतिर्यस्य स शब्दार्थ-प्रकृतिः, तस्मिन्··· बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—णिनि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—शब्दार्थप्रकृतावेव णिनन्त उत्तरपद उपमानवाचि पूर्वपद-माद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—उष्ट्रक्रोशी, ध्वाङ्क्षरावी, खरनादी ॥

भाषार्थः—[*शब्दार्थप्रकृतौ*] शब्दार्थवाली प्रकृति है जिन णिनन्त शब्दों की, उनके उत्तरपद रहते [*एव*] ही [*उपमानम्*] उपमानवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उष्ट्रक्रोशी में क्रुश आह्वाने धातु से *कर्त्तर्यु-पमाने* (३।२।७९) से णिनि प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार रु शब्दे से पूर्ववत् णिनि होकर ध्वाङ्क्षरावी एवं णद अव्यक्ते शब्दे से खरनादी बना ॥ *उदा०*—उष्ट्रक्रोशी (ऊँट की तरह बलबलाने वाला)। ध्वाङ्क्षरावी (कौवे की तरह काँव काँव करने वाला)। खरनादी (गधे की तरह रेंकने वाला)। सभी उदाहरणों में क्रोशी आदि णिनन्त शब्द शब्दार्थप्रकृति वाले हैं, उपमानवाची पूर्वपद हैं ही ॥

युक्तारोह्यादयश्च ॥६।२।८१॥

युक्तारोह्यादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—युक्तारोही आदिर्येषां ते युक्तारोह्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—युक्तारोह्यादयश्च समासा आद्युदात्ता भवन्ति ॥ *उदा०*—युक्तारोही, आगतरोही, आगतयोधी ॥

भाषार्थः—[*युक्तारोह्यादयः*] युक्तारोही आदि समस्त शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ सभी उदाहरण णिनि प्रत्ययान्त हैं। *णिनि* (६।२।७९) से ही आद्युदात्त सिद्ध था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है, अर्थात् जहाँ युक्त इत्यादि शब्द ही पूर्वपद में हों तथा आरोही इत्यादि ही उत्तरपद में हों वहीं आद्युदात्त हो, विपरीत होने पर समास का अन्तोदात्तत्व ही होगा ॥

दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं जे ॥६।२।८२॥

दीर्घ...वटम् १।१॥ जे ७।१॥ स०—दीर्घश्च काशश्च तुषश्च भ्राष्ट्रश्च वटश्च, दीर्घ...वटम्, समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—दीर्घान्तं पूर्वपदं काश, तुष, भ्राष्ट्र, वट इत्येतानि च पूर्वपदानि जे उत्तरपद आद्युदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—दीर्घान्तम्—कुटी॑जः, शमी॑जः। का॑शजः, तु॑षजः, भ्रा॑ष्ट्रजः, व॑टजः ॥

भाषार्थ :—[*दीर्घ.....वटम्*] दीर्घान्त पूर्वपद को तथा काश, तुष, भ्राष्ट्र वट इन पूर्वपद स्थित शब्दों को [जे] 'ज' उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में *सप्तम्यां जनेर्डः* (३।२।९७) से ड प्रत्यय हुआ है ॥ *उदा०*—कुटीजः (कुटी में उत्पन्न होने वाला), शमीजः (शमी वृक्ष में उत्पन्न होने वाला), काशजः (सरकण्डे में उत्पन्न होने वाला), तुषजः (भूसी में उत्पन्न होने वाला), भ्राष्ट्रजः (भाड़ में उत्पन्न) वटजः (बरगद में उत्पन्न) ॥ *गतिकारकोपपदात् कृत्* (६।२।१३९) का यह सूत्र अपवाद है।

यहाँ से 'जे' की अनुवृत्ति ६।२।८३ तक जायेगी ॥

अन्त्यात् पूर्वं बह्वचः ॥६।२।८३॥

अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ बह्वचः ६।१॥ स०—बहवोऽचो यस्मिन् स बह्वच् तस्य.....बहुव्रीहिः। अन्ते भवोऽन्त्यः तस्मात्..... ॥

अनु०—जे, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—जे उत्तरपदे बह्वचः पूर्वपदस्यान्त्यात् पूर्वमुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—उपसरंजः, मन्दुरंजः, आमलकींजः ॥

भाषार्थः—'ज' उत्तरपद रहते [*बह्वचः*] बहुत अच् वाले पूर्वपद के [*अन्त्यात्*] अन्त्य अक्षर से [*पूर्वम्*] पूर्व को उदात्त होता है ॥ उपसरजः यहाँ 'उपसर' पूर्वपद है, उसका अन्त्य अक्षर 'र' है अतः उससे पूर्व 'स' को उदात्त होगा । इसी प्रकार सबमें जानें । बहुत अच् वाला पूर्वपद सबमें है ही ॥ *गतिकारको०* (६।२।१३९) के ये सब भी अपवाद हैं ॥

ग्रामेऽनिवसन्तः ॥६।२।८४॥

ग्रामे ७।१॥ अनिवसन्तः १।१॥ *स०*—अनिव० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ग्रामशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, तच्चेद् पूर्वपदं निवसद्वाचि न भवति ॥ निवसन्त इत्यत्र निपूर्वात् वसेः *तॄभूवहिवसि०* (*उणा०* ३।१२८) इत्यनेनौणादिकः कर्तरि झच् प्रत्ययः ॥ *उदा०*—मल्लानां ग्रामः मल्लंग्रामः, वणिंग्ग्रामः, देवस्य ग्रामः देवंग्रामः, देवस्वामिक इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[*ग्रामे*] ग्राम शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि पूर्वपद [*अनिवसन्तः*] अनिवसन्तवाची = निवास करने वाले को न कहता हो तो ॥ निवसतीति निवसन्तः यहाँ कर्त्ता में वस धातु से औणादिक झच् प्रत्यय हुआ है । पश्चात् नञ्समास करके 'अनिवसन्तः' बना । पूर्वपदों के अनिवसन्त = निवास करने वाले न होने से मल्लग्रामः वणिग्ग्रामः में ग्राम शब्द समुदाय का वाचक है, अतः मल्लग्रामः का अर्थ होगा 'मल्लों का समूह' । देवग्रामः का अर्थ है देव है स्वामी (निवासी नहीं) जिसका, ऐसा ग्राम ॥

घोषादिषु च ॥६।२।८५॥

घोषादिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—घोष आदिर्येषां ते घोषादयस्तेषु बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—घोषादिषु चोत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—दाक्षिंघोषः, दाक्षिंकटः, दाक्षिंह्रदः ॥

भाषार्थः—[घोषादिषु] घोषादि शब्दों के उत्तरपद रहते [च] भी पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में षष्ठी समास है ॥

छात्र्यादयः शालायाम् ॥६।२।८६॥

छात्र्यादयः १।३॥ शालायाम् ७।१॥ *स०*—छात्रिः आदिर्येषां ते छात्र्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—शालायामुत्तरपदे छात्र्यादयः शब्दा आद्युदात्ता भवन्ति ॥ *उदा०*—छात्रिशाला, पैलिशाला[1], भाण्डिशाला । व्याडिशाला, आपिशलिशाला ।

भाषार्थः—[*शालायाम्*] शाला शब्द उत्तरपद रहते [*छात्र्यादयः*] छात्रि आदि शब्दों को आद्युदात्त होता है ॥ छात्रि आदि सभी शब्द अपत्यार्थक इञ् प्रत्ययान्त हैं । 'शाला' शब्द 'पदेषु पदैकदेशान्' नियम से पाठशाला अर्थ का वाचक है । पूर्वपद सभी आचार्य विशेष के वाचक हैं, अतः इनका अर्थ होगा तत्तद् आचार्यों के गुरुकुल ॥[2]

प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम् ॥६।२।८७॥

प्रस्थे ७।१॥ अवृद्धम् १।१॥ अकर्क्यादीनाम् ६।३॥ *स०*—अवृद्धमित्यत्र नञ्तत्पुरुषः । कर्की आदिर्येषां ते कर्क्यादयः, बहुव्रीहिः । न कर्क्यादयोऽकर्क्यादयस्तेषाम्, ... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—प्रस्थशब्द उत्तरपदे कर्क्यादिवर्जितमवृद्धं पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—इन्द्रप्रस्थः, कुण्डप्रस्थः, ह्रदप्रस्थः, सुवर्णप्रस्थः ॥

---

१. कई ग्रन्थों में 'पेलिशाला' उदाहरण मिलता है, वह अशुद्ध है इञन्त होने से 'पैलि' पूर्वपद होना चाहिए। पैलि ऋग्वेद प्रवक्ता आचार्य पैल का ही नामान्तर है । काशिका में कहीं २ ऐलिशाला पाठ है ॥

२. छान्दोग्य उपनिषद् (५।११।१) में 'एते महाशाला महाश्रोत्रियाः' पाठ है इसमें महाशाला का अर्थ 'बड़ी अध्ययनशाला = गुरुकुल हैं जिनके' अर्थ ही है । आचार्यशंकर ने महाशाला का अर्थ 'बड़ी शाला = गृह हैं जिनके' किया है, वह चिन्त्य है । यहां 'महाश्रोत्रिय' विशेषण होने से अन्तेवासियों की संख्या का आधिक्य होना भी स्पष्ट है । इतना ही नहीं, ऋषि लोग साधारण कुटियों में निवास करते थे न कि बड़े-बड़े भवनों में, इस दृष्टि से भी महाशाला में शालाशब्द गृह का वाचक नहीं है ॥

भाषार्थः—[*प्रस्थे*] प्रस्थ शब्द उत्तरपद रहते [*अकर्क्यादीनाम्*] कर्क्यादि गणस्थ तथा [*अवृद्धम्*] वृद्ध संज्ञक शब्दों को छोड़कर पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ वृद्ध से अभिप्राय है जिनकी *वृद्धिर्यस्या०* (१।१।७२) आदि से वृद्ध संज्ञा हुई हो उन शब्दों को छोड़कर, और कर्की आदि गणस्थ शब्दों को छोड़कर पूर्वपद आद्युदात्त होता है ॥ अकर्क्यादीनाम् एवं अवृद्धम् में पृथक् विभक्तियां वैचित्र्यार्थ हैं ॥

यहाँ से '*प्रस्थे*' की अनुवृत्ति ६।२।८८ तक जायेगी ॥

मालादीनां च ॥६।२।८८॥

मालादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ *स०*—माला आदिर्येषां ते मालादयस्तेषां··· बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—प्रस्थे, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—प्रस्थ उत्तरपदे मालादीनां पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—मालाप्रस्थः, शालाप्रस्थः ॥

भाषार्थः—प्रस्थ शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद स्थित [*मालादीनाम्*] मालादि शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ माला इत्यादि शब्द वृद्ध संज्ञक हैं अतः पूर्व सूत्र से निषेध प्राप्त था यहाँ विधान कर दिया।

अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम् ॥६।२।८९॥

अमहन्नवम् १।१॥ नगरे ७।१॥ अनुदीचाम् ६।३॥ *स०*—महत् च नवञ्च महन्नवम् समाहारो द्वन्द्वः। न महन्नवम् अमहन्नवम्, नञ्तत्पुरुषः। न उदञ्चः अनुदञ्चस्तेषाम्···नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—नगरशब्द उत्तरपदे महत् नव इत्येतौ शब्दौ वर्जयित्वा पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, तच्चेत् उदीचां न भवति ॥ *उदा०*—सुह्मनगरम्, पुण्ड्रनगरम् ॥

भाषार्थः—[*नगरे*] नगर शब्द उत्तरपद रहते [*अमहन्नवम्*] महत् तथा नव शब्द को छोड़ कर पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह नगर [*अनुदीचाम्*] उदीच्य प्रदेश का न हो ॥ उदाहरणों में षष्ठी समास है ॥

अर्मे चावर्णं द्व्यच् त्र्यच् ॥६।२।९०॥

अर्मे ७।१॥ च अ० ॥ अवर्णम् १।१॥ द्व्यच् १।१॥ त्र्यच् १।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, बहुव्रीहिः। त्रयोऽचो यस्मिन् स

त्र्यच्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अर्मशब्द उत्तरपदे द्व्यच् त्र्यच् चावर्णान्तं पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—द्व्यच्—द॒त्तार्मम्, गु॒प्तार्मम् । त्र्यच्—कु॒क्कुटार्मम्, वा॒यसार्मम् ॥

भाषार्थः—[*अर्मे*] अर्म शब्द उत्तरपद रहते [*च*] भी [*अवर्णम्*] अवर्णान्त जो [*द्व्यच् त्र्यच्*] दो अचों वाले तथा तीन अचों वाले पूर्व पदस्थित शब्द उन्हें आद्युदात्त होता है ॥ दत्तार्मम् आदि किसी नगर की संज्ञायें हैं ॥ सर्वत्र षष्ठी समास है ॥

यहाँ से 'अर्मे' की अनुवृत्ति ६।२।९१ तक जायेगी ॥

न भूताधिकसंजीवमद्राश्मकज्जलम् ॥६।२।९१॥

न अ० ॥ भूता''लम् १।१॥ स०—भूतञ्च अधिकञ्च संजीवञ्च मद्राश्च अश्म च कज्जलञ्च, भूता''लम्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अर्मे, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—भूत, अधिक, संजीव, मद्र, अश्मन्, कज्जल इत्येतानि पूर्वपदानि अर्मशब्द उत्तरपद आद्युदात्तानि न भवन्ति ॥ उदा०—भूतार्मम्, अधिकार्मम्, संजीवार्मम्, मद्रार्मम्, अश्मार्मम्, कज्जलार्मम् ॥

भाषार्थः—[*भूता''लम्*] भूत, अधिक, संजीव, मद्र, अश्मन्, कज्जल इन पूर्वपद स्थित शब्दों को अर्म शब्द उत्तरपद रहते आद्युदात्त [*न*] नहीं होता है । भूत, अधिक आदि शब्द दो अच् वाले तथा तीन अच् वाले हैं, अतः पूर्वसूत्र से पूर्वपदाद्युदात्तत्व प्राप्त था उसका निषेध कर दिया । पूर्वपदाद्युदात्त का निषेध हो जाने पर समासान्तोदात्तत्व हो गया । सभी उदाहरण नगर विशेषवाची हैं, एवं सर्वत्र षष्ठी समास है ॥

मद्र तथा अश्म का पृथक् २ एवं समास करके भी ग्रहण है अतः 'मद्राश्मार्मम्' प्रयोग भी बनता है ॥

[*पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणम्*]

अन्तः ॥६।२।९२॥

अन्तः १।१॥ *अनु०*—उदात्तः पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम् । इत ऊर्ध्वं यदनुक्रमिष्यामस्तत्र पूर्वपदस्यान्त उदात्तो भवतीति वेदितव्यम् ॥ उदा०—वक्ष्यति—*सर्वं गुणकार्त्स्न्ये*—सर्वश्वे॑तः, सर्वकृ॑ष्णः ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। ६।२।१०९ तक इसका अधिकार जायेगा। जहाँ तक यह जायेगा, वहाँ २ पूर्वपद के [*अन्तः*] अन्त को उदात्त होता जायेगा॥

सर्वं गुणकार्त्स्न्ये॥६।२।९३॥

सर्वम् १।१॥ गुणकार्त्स्न्ये ७।१॥ *स०*—गुणस्य कार्त्स्न्यं गुणकार्त्स्न्यं, तस्मिन्'''षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—गुणकार्त्स्न्ये वर्त्तमानः सर्वशब्दः पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—सर्वश्वेतः, सर्वकृष्णः, सर्वमहान्॥

भाषार्थः—[*गुणकार्त्स्न्ये*] गुणों की सम्पूर्णता अर्थ में वर्त्तमान पूर्वपदस्थित [*सर्वम्*] सर्व शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ गुण का कार्त्स्न्य अर्थात् गुण का सर्वत्र सम्पूर्णता से होना। उदाहरणों में *पूर्वकालैकसर्व०* (२।१।४८) से समास हुआ है॥ *उदा०*—सर्वश्वेतः (सारा सफेद) सर्वमहान् (सर्वश्रेष्ठ)॥

संज्ञायां गिरिनिकाययोः॥६।२।९४॥

संज्ञायाम् ७।१॥ गिरिनिकाययोः ७।२॥ *स०*—गिरिश्च निकायश्च गिरिनिकायौ तयोः''''इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—गिरि निकाय इत्येतयोरुत्तरपदयोः संज्ञायां विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—अञ्जनागिरिः, भञ्जनागिरिः। निकाये—शापिण्डिनिकायः, मौण्डिनिकायः, चिखिल्लिनिकायः॥

भाषार्थः—[*गिरिनिकाययोः*] गिरि तथा निकाय शब्द उत्तरपद रहते [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ अञ्जनागिरिः (एक पर्वत का नाम) आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास है। अञ्जन भञ्जन शब्द को *वनगिर्योः संज्ञायाम्०* (६।३।११५) से दीर्घत्व हुआ है। शापिण्डि मौण्डि शब्द *अत इञ्* (४।१।९५) से इञ् प्रत्ययान्त हैं, तथा चिखिल्लि शब्द मत्वर्थीय इनि प्रत्ययान्त है॥

कुमार्यां वयसि॥६।२।९५॥

कुमार्याम् ७।१॥ वयसि ७।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—वयसि गम्यमाने कुमार्यामुत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—वृद्धा चासौ कुमारी च = वृद्धकुमारी, जरती चासौ कुमारी च = जरत्कुमारी॥

भाषार्थः—[*वयसि*] अवस्था गम्यमान हो तो [*कुमार्याम्*] कुमारी शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ *विशेषणं विशेष्येण०* (२।१।५६) से वृद्धकुमारी (वृद्ध जो कुमारी) में समास हुआ है, तथा *पूर्वकालैक०* (२।१।४८) से जरत्कुमारी में समास हुआ है। *पुंवत्कर्मधारय०* (६।३।४०) से वृद्धा एवं जरती को पुंवद्भाव हुआ है॥[1]

उदकेऽकेवले ॥६।२।९६॥

उदके ७।१॥ अकेवले ७।१॥ *स०*—अके० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—उदकशब्द उत्तरपदे अकेवलवाचिनि समासे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ अकेवलं मिश्रं द्रव्यान्तरसम्पृक्तमित्यर्थः॥ *उदा०*—गुडमिश्रमुदकं = गुडोदकम्, गुडो॑दकम्। तिलोदकम्, तिलो॑दकम्॥

भाषार्थः—[*अकेवले*] अकेवलवाची = मिश्रित अर्थ के बोधक समास में [*उदके*] उदक शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ अकेवल अर्थात् जो केवल नहीं = मिश्रित मिला हुआ॥ *समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थि०* (*वा०*२।१।५९) इस वार्त्तिक से उदाहरणों में कर्मधारय समास एवं उत्तरपद मिश्र शब्द का लोप हुआ है। गुड एवं उदक का एकादेश होने से *स्वरितो वानुदात्ते पदादौ* (८।२।६) से पक्ष में 'ओ' को स्वरितत्व भी होता है॥

द्विगौ क्रतौ ॥६।२।९७॥

द्विगौ ७।१॥ क्रतौ ७।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—क्रतुवाचिनि समासे द्विगावुत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—गर्गाणां त्रिरात्रः = गर्गत्रिरात्रः, चरकत्रिरात्रः, कुसुरविन्दसप्तरात्रः॥

---

१. कुमारी शब्द में *वयसि प्रथमे* (४।१।२०) से प्रथमवयः अर्थ में ङीप् प्रत्यय होता है उसका वृद्धा और जरती (अन्त्य अवस्था वाचक) शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। इस लिए कुमारी शब्द लक्षणा से 'पुरुष सहभाव को अप्राप्त' अर्थ को कहता है। उस अवस्था में अर्थ होगा 'जिसका पुरुष के साथ सहशय्यात्व नहीं हुआ' ऐसी वृद्धा वा जरती कुमारी। यदि यहाँ कुमारी शब्द का प्रधान अर्थ स्वीकार करें तब वृद्धा वा जरती शब्द में लक्षणा मानकर (वृद्धा इव वृद्धा, जरती इव जरती) अर्थ होगा, कुमारी प्रथम वयः वाली होते हुए भी रोगादि के कारण वृद्धा वा जरती के समान प्रतीयमाना, अर्थ होगा।

भाषार्थः—[*क्रतौ*] क्रतुवाची समास में [*द्विगौ*] द्विगु उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठी समास है। क्रतु यज्ञ को कहते हैं। सर्वत्र त्रिरात्र, सप्तरात्र शब्द द्विगुसंज्ञक परे हैं। तिसृणां रात्रीणां समाहारः त्रिरात्रः यहाँ पहले *तद्धितार्थो०* (२।१।५०) से समास और *अहः सर्वैक०* (५।४।८७) से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। पश्चात् गर्ग शब्द के साथ षष्ठीसमास होगा। इसी प्रकार सप्तरात्रः में जानें॥ ये क्रतु विशेषों की संज्ञाएँ हैं।

सभायां नपुंसके ॥६।२।९८॥

सभायाम् ७।१॥ नपुंसके ७।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—सभाशब्द उत्तरपदे नपुंसकलिङ्गे समासे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—गोपालसभम्, पशुपालसभम्, स्त्रीसभम्, दासीसभम्॥

भाषार्थः—[*नपुंसके*] नंपुसक लिङ्ग वाले समास में [*सभायाम्*] सभा शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ उदाहरणों में सर्वत्र षष्ठी समास है, एवं *सभाऽराजा०* (२।४।२३) से नंपुसकलिङ्ग होता है॥

पुरे प्राचाम् ॥६।२।९९॥

पुरे ७।१॥ प्राचाम ६।३॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—पुरशब्द उत्तरपदे प्राचां देशे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—ललाटपुरम्, काञ्चीपुरम्, शिवदत्तपुरम्, कार्णिपुरम्, नार्मपुरम्॥

भाषार्थः—[*पुरे*] पुर शब्द उत्तरपद रहते [*प्राचाम्*] प्राच्य भारत के देशों को कहने में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठीसमास है, एवं सभी प्राच्य भारत के भिन्न-भिन्न ग्रामों के वाचक शब्द हैं। प्रयाग से पूर्व के देश प्राग्देश कहे जाते हैं॥

यहाँ से 'पुरे' की अनुवृत्ति ६।२।१०१ तक जायेगी॥

अरिष्टगौडपूर्वे च ॥६।२।१००॥

अरिष्टगौडपूर्वे ७।१॥ च अ०॥ *स०*—अरिष्टं च गौडश्च अरिष्टगौडौ, तौ पूर्वौ यस्य स अरिष्टगौडपूर्वस्तस्मिन्' 'द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ *अनु०*—पुरे, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—अरिष्ट गौड इत्येवं

पूर्वे समासे पुरशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अरिष्टपुरम्, अरिष्टं श्रितोऽरिष्टश्रितस्तस्य पुरम् = अरिष्टश्रितपुरम्, गौडपुरम्, गौडानां भृत्याः गौडभृत्यास्तेषां पुरं = गौडभृत्यपुरम् ॥

भाषार्थः—[*अरिष्टगौडपूर्वे*] अरिष्ट तथा गौड शब्द पूर्व हैं जिस समास में उसके पूर्वपद को [च] भी पुर शब्द उत्तरपद रहते अन्तोदात्त होता है ॥ प्राग्देशवाची न होने से पूर्व सूत्र से प्राप्त नहीं था, कह दिया ॥

न हास्तिनफलकमार्देयाः ॥६।२।१०१॥

न अ० ॥ हास्ति...र्देयाः १।३॥ *स०*—हास्तिन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पुरे, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—हास्तिन, फलक, मार्देय इत्येतानि पूर्वपदानि पुरशब्द उत्तरपदे नान्तोदात्तानि भवन्ति ॥ पुरे प्राचामिति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—हास्तिनपुरम्, फलकपुरम्, मार्देयपुरम् ॥

भाषार्थः—[*हास्ति...देयाः*] हास्तिन, फलक तथा मार्देय इन पूर्वपदस्थित शब्दों को पुर शब्द उत्तरपद रहते अन्तोदात्त [न] नहीं होता ॥ '*पुरे प्राचाम्*' (६।२।९९) से प्राग्देश होने से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया। सभी सूत्रों के *समासस्य* का अपवाद होने से पूर्वपदान्तोदात्तत्व का निषेध प्रकृत सूत्र से हो जाने पर समास अन्तोदात्तत्व ही होता है ॥ हस्तिनो राज्ञोऽपत्यानि हास्तिनाः इत्यण्, मृदोरपत्यानि मार्देयाः यहाँ *शुभ्रादिभ्यश्च* (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय हुआ है। पश्चात् 'पुर' के साथ षष्ठी समास हुआ ॥

हास्तिनपुर से हस्तिनापुर पृथक् है। हास्तिनपुर प्राग्देशीय है और हस्तिनापुर मध्यदेशीय गंगा तट पर है ॥

कुसूलकूपकुम्भशालं बिले ॥६।२।१०२॥

कुसूलकूपकुम्भशालम् १।१॥ बिले ७।१॥ *स०*—कुसूल० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—कुसूल, कूप, कुम्भ, शाला इत्येतानि पूर्वपदानि बिलशब्द उत्तरपदे अन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—कुसूलबिलम्, कूपबिलम्, कुम्भबिलम्, शालाबिलम् ॥

भाषार्थः—[*बिले*] बिल शब्द उत्तरपद रहते [*कुसूल*' '*लम्*] कुसूल, कूप, कुम्भ, शाला इन पूर्वपद स्थित शब्दों को अन्तोदात्त होता है॥ उदा०—कुसूलबिलम् (कुठले का मुँह)। कूपबिलम् (कुएं का मुँह)। कुम्भबिलम् (घड़े का मुँह)। शालाबिलम् (मकान का द्वार) सर्वत्र षष्ठी समास हैं॥

दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु ॥६।२।१०३॥

दिक्शब्दाः १।३॥ ग्राम' 'टेषु ७।३॥ *स०*—दिशि दृष्टाः शब्दाः दिग्शब्दाः, उत्तरपदलोपी सप्तमीतत्पुरुषः। ग्राम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—ग्रामजनपदाख्यानवाचिषूत्तरपदेषु चानराटशब्दे चोत्तरपदे दिक्शब्दाः पूर्वपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति॥ *उदा०*—ग्राम—पूर्वेषुकामशमी, अपरेषुकामशमी, पूर्वकृष्णमृत्तिका, अपरकृष्णमृत्तिका। जनपद—पूर्वपञ्चालाः, अपरपञ्चालाः। आख्यान—पूर्वाधिरामम्, पूर्वयायातम्, अपरयायातम्॥ चानराट—पूर्वचानराटम्, अपरचानराटम्॥

भाषार्थः—[*ग्राम*' '*टेषु*] ग्राम, जनपद तथा आख्यानवाची शब्दों के उत्तरपद रहते तथा चानराट शब्द के उत्तरपद रहते [*दिक्शब्दाः*] दिशावाची पूर्वपदस्थित शब्दों को अन्तोदात्त होता है॥ पूर्वेषुकामशमी अपरेषुकामशमी (किसी ग्राम का नाम) में *दिक्सङ्ख्ये०* (२।१।४९) से समास हुआ है, सिद्धि वहीं देखें। एवम् पूर्वकृष्णमृत्तिका अपरकृष्णमृत्तिका (ये भी देश के नाम हैं) यहाँ भी *दिक्संख्ये०* (२।१।४९)[1] से समास हुआ है। पूर्वपञ्चालाः आदि में भी *दिक्संख्ये०* से समास हुआ है॥ पूर्वाधिरामम् (राम को अधिकृत करके लिखा गया ग्रन्थ अधिराम, उसका पूर्व भाग)। अधिराम आदि शब्द आख्यानवाची (कथावाची) हैं। चानराट शब्द का स्वरूप से ग्रहण है, शेष के तद्वाची शब्द लिये गये हैं॥

यहाँ से '*दिक्शब्दाः*' की अनुवृत्ति ६।२।१०५ तक जायेगी॥

---

१. यद्यपि पूर्वकृष्णमृत्तिका अपरकृष्णमृत्तिका पूर्वपञ्चालाः अपरपञ्चालाः में '*पूर्वापराधरो०*' (२।२।१) से भी समास हो सकता है तथापि यहाँ पूर्वेषुकामशमी इत्यादि के समान देश की संज्ञा होने और एकदेश मात्र अर्थ अभिप्रेत न होने से *दिक्संख्ये संज्ञायाम्* (२।१।४९) से ही समास करना चाहिये॥

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासिनि ॥६।२।१०४॥

आचार्योपसर्जनः १।१॥ सुपां स्थाने सुर्भवतीति (७।१।३९) सप्तम्यैकवचनस्य स्थाने प्रथमैकवचनम् ॥ च अ०॥ अन्तेवासिनि ७।१॥ स०—आचार्य उपसर्जनं (अप्रधानं) यस्य(अन्तेवासिनः)स आचार्योपसर्जनः,बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—दिक्शब्दाः, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—आचार्योपसर्जनान्तेवासिवाचिन्युत्तरपदे दिक्शब्दाः पूर्वपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—पूर्वपाणिनीयाः,अपरपाणिनीयाः । पूर्वकाशकृत्स्नाः, अपरकाशकृत्स्नाः ॥

भाषार्थः—[*आचार्योपसर्जनः*] आचार्य है उपसर्जन = अप्रधान जिसका ऐसा जो [*अन्तेवासिनि*] अन्तेवासी, उसको कहने वाले शब्द के परे रहते [च] भी दिशा अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले पूर्वपद शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥ *सुपां सुलुक्०* (७।१।३९) सूत्र से सुपों के स्थान में भिन्न सुपों का आदेश होता है, अतः उस सूत्र से 'आचार्योपसर्जनः' में सप्तमी एकवचन के स्थान में 'प्रथमा एकवचन' का आदेश हो गया है ॥ पाणिनेश्छात्राः पाणिनीयाः, पूर्वे च ते पाणिनीयाश्च पूर्वपाणिनीयाः (पाणिनि के पूर्व छात्र) यहाँ पाणिनीय शब्द से पाणिनि के अन्तेवासी प्रधान रूप से कहे जा रहे हैं, पाणिनि आचार्य तो तद्विशेषण है अतः उपसर्जन है । इसी प्रकार काशकृत्स्नस्येमे छात्राः काशकृत्स्नाः (४।१।८३), पूर्वे च ते काशकृत्स्नाश्च पूर्वकाशकृत्स्नाः यहाँ भी जानें ॥ *पूर्वापर०*(२।१।५७) से सर्वत्र समास हुआ जानें ॥ पाणिनि आचार्य ने अपने जीवन काल में जितने छात्र पढ़ाये, उनमें एक देश जिन्हें पूर्वकाल में पढ़ाया पूर्वपाणिनीयाः और जिन्हें अपरकाल में पढ़ाया वे अपरपाणिनीयाः कहाए । पूर्वसूत्र में दिशि दृष्टाः शब्दाः अर्थ करने से यहाँ पूर्वादि काल में प्रयुक्त शब्दों को भी कार्य हो जाता है ॥

उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च ॥६।२।१०५॥

उत्तरपदवृद्धौ ७।१॥ सर्वम् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—उत्तरपदस्येत्यधिकृत्य या विहिता वृद्धिः सा उत्तरपदवृद्धिः, तस्यां ' 'षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—दिक्शब्दाः, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—उत्तरपदाधिकारविहिता या वृद्धिः तद्वति शब्द उत्तरपदे सर्वशब्दो दिक्शब्दाश्च पूर्वपदा-

न्यन्तोदात्तानि भवन्ति॥ उदा०—सर्व—सर्वपाञ्चालकः। दिक्शब्दाः—पूर्वपाञ्चालकः, उत्तरपाञ्चालकः॥

भाषार्थः—[उत्तरपदवृद्धौ] उत्तरपदस्य (७।३।१०) सूत्र के अधिकार में कही हुई जो वृद्धि उस वृद्धि किये हुए शब्द के परे रहते [*सर्वम्*] सर्व शब्द [च] तथा दिक्शब्द पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ सूत्रस्थित 'उत्तरपद' शब्द में स्वरित का चिह्न होने से 'उत्तरपदस्य अधिकार में कही हुई वृद्धि' ऐसा अर्थ ले लिया गया है। सर्वपाञ्चालकः के उत्तरपद पाञ्चालक में *सुसर्वार्धा०* (७।३।१२) से वृद्धि हुई है। अन्य उदाहरणों में *दिशोऽमद्राणाम्* (७।३।१३) से उत्तरपद को वृद्धि हुई है। ये दोनों सूत्र *उत्तरपदस्य* (७।३।१०) के अधिकार में कहे हुए हैं, अतः उत्तरपद वृद्धि किये हुए = तद्वान् शब्द परे होने से प्रकृत सूत्र से पूर्वपद अन्तोदात्त हो गया। सर्वपाञ्चालकः में *विशेषणं विशेष्येण०* (२।१।५७) तथा अन्य उदाहरणों में *तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च* (२।१।५०) से भवादि अर्थ में समास और *अवृद्धादपि बहुवचन०* (४।१।१२४) से तदन्त विधि से वुञ् प्रत्यय हुआ है॥

बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् ॥६।२।१०६॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ विश्वम् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे संज्ञायाम् विषये विश्वशब्दः पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—विश्वदेवः, विश्वयशाः, विश्वमहान्। विश्वकर्मा विश्वदेवः (ऋ० ८।६८।२)॥

भाषार्थः—[*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में पूर्वपद [*विश्वम्*] विश्व शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ *बहुव्रीहौ-प्रकृत्या०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर की प्राप्ति थी, इससे पूर्वपद को अन्तोदात्त कह दिया। ये सब किसी की संज्ञायें हैं॥

यहाँ से '*बहुव्रीहौ*' की अनुवृत्ति ६।२।११९ तक तथा '*संज्ञायाम्*' की ६।२।१०८ तक जायेगी॥

उदराश्वेषुषु ॥६।२।१०७॥

उदराश्वेषुषु ७।३॥ *स०*—उदरा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ संज्ञायाम्, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—उदर,

अश्व, इषु इत्येतेषूत्तरपदेषु बहुव्रीहौ समासे संज्ञायाम् विषये पूर्वप मन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—वृकोदरः, दामोदरः, हर्यश्वः, यौवनाश्व सुवर्णपुंखेषुः, महेषुः ॥

भाषार्थः—[उदराश्वेषुषु] उदर, अश्व, इषु इनके उत्तरपद रह बहुव्रीहि समास में संज्ञा विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है पूर्ववत् यह सूत्र भी प्रकृतिस्वर का अपवाद है ॥ उदा०—वृकोद (भेड़िये के समान पेट है जिसका, यह पाण्डव भीमसेन की संज्ञा है हर्यश्वः (हरि = हरणशील शीघ्रगामी अश्व हैं जिसके, यह इन्द्र की संज्ञा है सुवर्णपुंखेषुः (सुवर्णमय पुंख = पर वाले बाण हैं जिसके) महेषुः (महा हैं इषु जिसके) ॥ हर्यश्वः में 'य' को *उदात्तस्वरितयो०* (८।२।४) स्वरित हुआ है।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।२।१०८ तक जायेगी ॥

क्षेपे[1] ॥६।२।१०८॥

क्षेपे ७।१॥ अनु०—उदराश्वेषुषु, बहुव्रीहौ संज्ञायाम्, अन्तः, उदात्तः पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—क्षेपे गम्यमाने उदर अश्व इषु इत्येतेषूत्तरपदेषु बहुव्रीहौ समासे संज्ञायां विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—कुण्डोदरः, घटोदरः । कटुकाश्वः, स्यन्दिताश्वः । अनिघातेषुः, चलाचलेषुः ॥

भाषार्थः—[क्षेपे] क्षेप = निन्दा गम्यमान होने पर उदर अश्व इषु उत्तरपद रहते बहुव्रीहि समास में संज्ञा विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ उदा०—कुण्डोदरः (कुण्ड के समान है पेट जिसका), कटुकाश्वः (चपल है अश्व जिसका), स्यन्दिताश्वः (स्यन्दनशील = धीमीगति से चलने वाला अश्व है जिसका), अनिघातेषुः (जिसका बाण मारने वाला न हो), चलाचलेषुः (जिसका बाण अस्थिर हो अर्थात् निशाना ठीक न हो) ॥

१. महाभाष्य में उदराश्वेषुषु क्षेपे दोनों सूत्र एक साथ पढ़े हैं, इसे देखकर ऐसा नहीं समझना चाहिये कि इनको यहाँ पृथक् क्यों पढ़ा, क्योंकि भाष्य में इनके सहनिर्देश का तात्पर्य केवल 'क्षेपे' में उदराश्वेषुषु की अनुवृत्ति प्रदर्शन करना है। भाष्यकार ने इनका योग-विभाग करके अपना मत कहीं नहीं रखा है। व्याख्या की दृष्टि से ये सूत्र पृथक् ही होने चाहियें ॥

नदी बन्धुनि ॥६।२।१०९॥

नदी १।१॥ बन्धुनि ७।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे बन्धुन्युत्तरपदे नद्यन्तं पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—गार्गीबन्धुः, वात्सीबन्धुः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*बन्धुनि*] बन्धु शब्द उत्तरपद रहते [*नदी*] नद्यन्त पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ गार्गी, वात्सी शब्द *यू स्त्र्याख्यौ नदी* (१।४।३) से नदीसंज्ञक हैं ॥ *उदा०*—गार्गीबन्धुः (गार्गी है बन्धु जिसकी)। जो गार्गी जैसी महाविदुषी ऋषिका के बन्धुत्व मात्र से अपना श्रेष्ठत्व व्यक्त करना चाहता है वह गार्गीबन्धुः कहा जायेगा ॥

निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम् ॥६।२।११०॥

निष्ठा १।१॥ उपसर्गपूर्वम् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—उपसर्गः पूर्वो यस्य (पूर्वपदस्य) तत् उपसर्गपूर्वम्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे निष्ठान्तमुपसर्गपूर्वं पूर्वपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—प्रधौतमुखः, प्रधौतमुखः। प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*उपसर्गपूर्वम्*] उपसर्ग पूर्व वाले [*निष्ठा*] निष्ठान्त पूर्वपद को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ मुख शब्द यदि यहाँ स्वाङ्गवाची लिया जाये तो पक्ष में प्रधौतमुखः आदि *मुखं स्वाङ्गम्* (६।२।१६६) से अन्तोदात्त होंगे, यदि अस्वाङ्गवाची ग्रहण हो तो *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) से उपरिनिर्दिष्ट पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा ॥

[*उत्तरपदाद्युदात्तप्रकरणम्*]

उत्तरपदादिः ॥६।२।१११॥

उत्तरपदादिः १।१॥ *स०*—उत्तरपदस्यादिः उत्तरपदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—उदात्तः ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्रोत्तरपदस्यादिरुदात्तो भवतीति वेदितव्यम् ॥ *उदा०*—वक्ष्यति—*कर्णो वर्णलक्षणात्*, शुक्लकर्णः, कृष्णकर्णः ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। जहाँ तक जायेगा वहाँ त [*उत्तरपदादिः*] उत्तरपद के आदि को उदात्त होता जायेगा ॥

यहाँ से 'उत्तरपद' की अनुवृत्ति ६।२।१९९ तक तथा '*आदिः*' व ६।२।१४२ तक जायेगी ॥

कर्णो वर्णलक्षणात् ॥६।२।११२॥

कर्णः १।१॥ वर्णलक्षणात् ५।१॥ *स०*—वर्ण० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः। *अनु०*—उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः॥ *अर्थः*—वर्णवाचिनो लक्षणवाचिनश्च परः कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति बहुव्रीहौ समासे॥ *उदा०*—शुक्लकर्णः, कृष्णकर्णः। लक्षणात्—दात्राकर्णः, शङ्कुकर्णः॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*वर्णलक्षणात्*] वर्णवाची तथा लक्षणवाची से परे उत्तरपद स्थित [*कर्णः*] कर्ण शब्द को आद्युदात्त होता है॥ पूर्ववत् ६।२।१ से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तदपवाद है। *कर्णे लक्षणस्या०* (६।३।११३) से 'दात्रा शङ्कु' में दीर्घ होता है॥ उदा०—शुक्लकर्णः (सफेद हैं कान जिसके)। दात्राकर्णः (दराँती से चिह्नित कान वाला कोई पशु) शङ्कुकर्णः॥

यहाँ से '*कर्णः*' की अनुवृत्ति ६।२।११३ तक जायेगी॥

संज्ञौपम्ययोश्च ॥६।२।११३॥

संज्ञौपम्ययोः ७।२॥ च अ०॥ *स०*—संज्ञौ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—कर्णः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः॥ उपमायाः भावः औपम्यम्॥ *अर्थः*—संज्ञायाम् औपम्ये च यो बहुव्रीहिस्तत्र कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—*संज्ञायाम्*—कुञ्चिकर्णः, मणिकर्णः। औपम्ये—गोकर्णौ इव कर्णौ यस्य = गोकर्णः, खरकर्णः॥

भाषार्थः—[*संज्ञौपम्ययोः*] संज्ञा तथा उपमा विषय में वर्त्तमान जो बहुव्रीहि वहाँ [च] भी उत्तरपद कर्ण शब्द को आद्युदात्त होता है॥ उदाहरणों में *सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च०* (वा० २।२।२४) से समास और कर्ण शब्द का लोप होता है।

यहाँ से '*संज्ञौपम्ययोः*' की अनुवृत्ति ६।२।११५ तक जायेगी॥

कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घं च ॥६।२।११४॥

कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम् १।१॥ च अ० ॥ स०—कण्ठ० इत्यत्र समाहार-द्वन्द्वः ॥ अनु०—संज्ञौपम्ययोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—संज्ञौपम्ययोर्यो बहुव्रीहिर्वर्त्तते तत्र कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जङ्घा इत्येतानि उत्तरपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—कण्ठः संज्ञायाम्—शितिकण्ठः, नीलकण्ठः । औपम्ये—खरकण्ठ इव कण्ठो यस्य स खरकण्ठः, उष्ट्रकण्ठः । पृष्ठः संज्ञायाम्—काण्डपृष्ठः, नाकपृष्ठः । औपम्ये—गोपृष्ठः, अजपृष्ठः । ग्रीवा संज्ञायाम्—सुग्रीवः, नीलग्रीवः, दशग्रीवः । औपम्ये—गोग्रीवः, अश्वग्रीवः । जङ्घा संज्ञायाम्— नाडीजङ्घः तालजङ्घः । औपम्ये—गोजङ्घः, अश्वजङ्घः, एणीजङ्घः ॥

भाषार्थः—संज्ञा तथा औपम्य विषय में वर्त्तमान बहुव्रीहि समास में [*कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम्*] कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जङ्घा इन उत्तरपद स्थित शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी पूर्वपद प्रकृति स्वर प्राप्त था, तदपवाद है ॥

शृङ्गमवस्थायां च ॥६।२।११५॥

शृङ्गम् १।१॥ अवस्थायाम् ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—संज्ञौपम्ययोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—अवस्थायां संज्ञौपम्ययोश्च बहुव्रीहौ समासे शृङ्गशब्दः उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—उद्गते शृङ्गे यस्य स उद्गतशृङ्गः। द्वे अंगुली प्रमाणमनयोः ते द्व्यङ्गुले, द्व्यङ्गुले शृङ्गे यस्य स द्व्यङ्गुलशृङ्गः, त्र्यङ्गुलशृङ्गः । संज्ञायाम्—ऋष्यशृङ्गः । औपम्ये—गोशृङ्गः, मेषशृङ्गः ॥

भाषार्थः—[*अवस्थायाम्*] अवस्था गम्यमान होने पर [च] तथा संज्ञा एवं उपमा विषय में बहुव्रीहि समास में उत्तरपद [*शृङ्गम्*] शृङ्ग शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ दो अङ्गुल तथा तीन अङ्गुल एवं उद्गत सींग देखकर बछड़े आदि की अवस्था की प्रतीति होती है । द्व्यङ्गुलम् यहाँ *प्रमाणे द्वयसज्०* (५।२।३७) से उत्पन्न मात्रच् प्रत्यय का *प्रमाणे लो०* (वा० ५।२।३७) से लुक् होता है । *तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०* (५।४।८६) से समासान्त अच् प्रत्यय होता है एवं *तद्धितार्थोत्तर०* (२।१।५०) से तद्धितार्थ में समास होता है ॥

नञो जरमरमित्रमृताः ॥६।२।११६॥

नञः ५।१॥ जरमरमित्रमृताः १।३॥ स०—जरमर० इत्यत्रेतरेतर द्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—नञः परा जर, मर, मित्र, मृत इत्येतानि उत्तरपदानि बहुव्रीहौ समासे आद्यु दात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—न विद्यते जरः यस्य स अजरः, अमरः अमित्रः, अमृतः ॥

भाषार्थः—[*नञः*] नञ् से उत्तर [*जरमरमित्रमृताः*] जर, मर, मित्र, मृत इन उत्तरपद स्थित शब्दों को बहुव्रीहि समास में आद्युदात्त होता है ॥ यह सूत्र *नञ्सुभ्याम्* (६।२।१७१) का अपवाद है ॥

सोर्मनसी अलोमोषसी ॥६।२।११७॥

सोः ५।१॥ मनसी १।२॥ अलोमोषसी १।२॥ स०—मन्[1] च अश्च मनसी इतरेतरद्वन्द्वः । लोम च उषश्च लोमोषसी[2], न लोमोषसी अलोमोषसी, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—सोरुत्तरं मन्नन्तम् असन्तं चोत्तरपदं बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्तं भवति, लोमोषसी वर्जयित्वा ॥ उदा०—मन्नन्तम्—सुकर्म्मा, सुधर्म्मा, सुप्रथिमा, सुकर्माणः सुरुचः (ऋ० ४।२।१७) वक्षदनिमानः सुब्रह्मा: (ऋ० ४।२२।७) । असन्तम्—सुपयाः, सुयशाः, सुस्रोताः, शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः (ऋ० १०।८५।४४) ॥

भाषार्थः—[*सोः*] सु से उत्तर [*मनसी*] मन् अन्त वाले तथा अस् अन्त वाले उत्तरपद शब्दों को बहुव्रीहि समास में आद्युदात्त होता है, [*अलोमोषसी*] लोमन् तथा उषस् शब्द को छोड़ कर ॥ लोमन् अन्नन्त एवं उषस् असन्त है, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ पूर्ववत् *नञ्सु०* का अपवाद है ॥

यहाँ से '*सोः*' की अनुवृत्ति ६।२।१२० तक जायेगी ॥

---

१. स्वरूपनिर्देशार्थमविभक्त्यन्तं प्रयुक्तम् अन्यथा मा च अश्चेति निर्देशे स्वरूपज्ञानं न स्यात् ।

२. प्रातिपदिकापेक्षं नपुंसकत्वम् ।

क्रत्वादयश्च ॥६।२।११८॥

क्रत्वादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—क्रतुः आदिर्येषां ते क्रत्वादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—सोरुत्तरे क्रत्वादयः बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्ताः भवन्ति ॥ उदा०—सुक्रतुः, सुदृशीकः ॥

भाषार्थः—'सु' से उत्तर [*क्रत्वादयः*] क्रत्वादि उत्तरपद शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ यह भी नञ्सुभ्याम् का अपवाद है ॥

आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि ॥६।२।११९॥

आद्युदात्तम् १।१॥ द्व्यच् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तरं यदाद्युदात्तं द्व्यच् उत्तरपदं तदाद्युदात्तमेव भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेम (ऋ० ४।४।८) ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में सु से उत्तर जो [*द्व्यच्*] दो अच् वाला [*आद्युदात्तम्*] आद्युदात्त शब्द उसे [*छन्दसि*] वेद विषय में आद्युदात्त ही होता है ॥ नञ्सुभ्याम् (६।२।१७१) से उत्तरपद को अन्तोदात्त प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से आद्युदात्त को आद्युदात्त ही हो गया। उदाहरण में अश्व तथा रथ शब्द उणादि से नित् प्रत्ययान्त व्युत्पादित हैं अतः नित् स्वर से आद्युदात्त थे ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ६।२।१२० तक जायेगी ॥

वीरवीर्यौ च ॥६।२।१२०॥

वीरवीर्यौ १।२॥ च अ० ॥ स०—वीर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तरो वीर वीर्य इत्येतौ च शब्दौ छन्दसि विषय आद्युदात्तौ भवतः ॥ उदा०—सुवीरेण ते । सुवीर्यस्य पतयः स्याम (ऋ० ४।५१।१०) ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में सु से उत्तर [*वीरवीर्यौ*] वीर तथा वीर्य उत्तरपद शब्दों को [च] भी वेद विषय में आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् नञ्सुभ्याम् का अपवाद जानें ॥

कूलतीरतूलमूलशालाक्षसममव्ययीभावे ॥६।२।१२१॥

कूल''समम् १।१॥ अव्ययीभावे ७।१॥ स०—कूलञ्च तीरञ्च तूलश्च मूलञ्च शाला च अक्षञ्च समञ्च कूल''समम्, समाहारो द्वन्द्वः। अनु०—उत्तरपदादिः, उदात्तः॥ अर्थः—कूल, तीर, तूल, मूल, शाला अक्ष, सम इत्येतान्युत्तरपदान्यव्ययीभावसमासे आद्युदात्तानि भवन्ति। उदा०—परिकूलम्, उपकूलम्। परितीरम्, उपतीरम्। परितूलम्, उपतूलम्। परिमूलम्, उपमूलम्। परिशालम्, उपशालम्। उपाक्षम्, पर्यक्षम्। सुषमम्, विषमम्, निषमम्, दुःषमम्॥

भाषार्थः—[*कूल''समम्*] कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष, सम, इन उत्तरपद शब्दों को [*अव्ययीभावे*] अव्ययीभाव समास में आद्युदात्त होता है॥ सुषमम् इत्यादि शब्द तिष्ठद्गु गण में पठित हैं, अतः *तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च* (२।१।१६) से समास होता है। *सुषामादिषु च* (८।३।९८) से षत्व होगा। कूलस्य समीपम् उपकूलम् इत्यादि में *अव्ययं-विभक्ति०* (२।१।६) से अव्ययीभाव समास हुआ है। परिकूलम् इत्यादि में परि शब्द *अपपरी वर्जने* (१।४।८७) से कर्मप्रवचनीय संज्ञक है, अतः *पञ्चम्यपाङ्०* (२।३।१०) से कूल शब्द में पञ्चमी होगी, एवं *अपपरिबहि०* (२।१।११) से अव्ययीभाव समास होगा, ततः अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का लुक् हो ही जायेगा॥

कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डं द्विगौ ॥६।२।१२२॥

कंस''काण्डम् १।१॥ द्विगौ ७।१॥ स०—कंस० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः॥ *अनु०*—उत्तरपदादिः उदात्तः॥ *अर्थः*—कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, काण्ड इत्येतानि उत्तरपदानि द्विगौ समास आद्युदात्तानि भवन्ति॥ उदा०—द्विकंसः, त्रिकंसः। द्विमन्थः त्रिमन्थः। द्विशूर्पः, त्रिशूर्पः। द्विपाय्यः, त्रिपाय्यः। द्विकाण्डः, त्रिकाण्डः॥

भाषार्थः—[*कंस''काण्डम्*] कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, काण्ड इन उत्तरपद शब्दों को [*द्विगौ*] द्विगु समास में आद्युदात्त होता है॥

तत्पुरुषे शालायां नपुंसके ॥६।२।१२३॥

तत्पुरुषे ७।१॥ शालायाम् ७।१॥ नपुंसके ७।१॥ अनु०—उत्तरपदादिः, उदात्तः॥ अर्थः—नपुंसकलिङ्गे शालाशब्दान्ते तत्पुरुषे समासे उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति॥ उदा०—ब्राह्मणशालम्, क्षत्रियशालम्॥

भाषार्थः—[*नपुंसके*] नपुंसकलिङ्ग वाले [*शालायाम्*] शाला शब्दान्त [*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में उत्तरपद को आद्युदात्त होता है ॥ *विभाषा सेनासुरा०* (२।४।२५) से जिस पक्ष में नपुंसकलिङ्गता होगी, उस पक्ष में प्रकृत सूत्र से स्वर होगा ॥ *समासस्य* के ही सब अपवाद जानें ॥

यहाँ से '*तत्पुरुषे*' की अनुवृत्ति ६।२।१३७ तक तथा '*नपुंसके*' की ६।२।१२५ तक जायेगी ॥

कन्था च ॥६।२।१२४॥

कन्था १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, नपुंसके, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—कन्थाशब्दान्ते तत्पुरुषे नपुंसकलिङ्गे उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—सौशमिकन्थम्, आह्वरकन्थम्, चप्यकन्थम् ॥

भाषार्थः—नपुंसकलिङ्ग [*कन्था*] कन्थान्त तत्पुरुष समास में [च] भी उत्तरपद को आद्युदात्त होता है ॥ *संज्ञायां कन्थोशी०* (२।४।२०) से उदाहरणों में नपुंसकलिङ्गता हुई है ॥

यहाँ से '*कन्था*' की अनुवृत्ति ६।२।१२५ तक जायेगी ॥

आदिश्चिहणादीनाम् ॥६।२।१२५॥

आदिः १।१॥ चिहणादीनाम् ६।३॥ *स०*—चिहण आदिर्येषां ते चिहणादयस्तेषां.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—कन्था, तत्पुरुषे नपुंसके, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नपुंसकलिङ्गे कन्थान्ते तत्पुरुषे समासे चिहणादीनामादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—चिहणकन्थम्, मडरकन्थम् ॥

भाषार्थः—नपुंसकलिङ्ग कन्थान्त तत्पुरुष समास में [*चिहणादीनाम्*] चिहणादि गणपठित शब्दों के [*आदिः*] आदि को उदात्त होता है ॥ पूर्वसूत्र से उत्तरपद को आद्युदात्तत्व प्राप्त था, इस सूत्र ने पूर्वपद को आद्युदात्तत्व कर दिया ॥ आदि की अनुवृत्ति होने पर पुनः आदिग्रहण से पूर्वपद चिहणादि को आद्युदात्त होता है ॥

चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम् ॥६।२।१२६॥

चेलखेटकटुककाण्डम् १।१॥ गर्हायाम् ७।१॥ *स०*—चेलञ्च खेटञ्च कटुकञ्च काण्डञ्च, चेल...काण्डम्, समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे,

उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—चेल, खेट, कटुक, काण्ड इत्येतान्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तानि भवन्ति, गर्हायां गम्यमानायाम् ॥ *उदा०*—पुत्रश्चेलमिव = पुत्रचेलम्, भार्याचेलम् । उपानत्खेटम्, नगरखेटम् । दधिकटुकम्, उदश्वित्कटुकम् । भूतकाण्डम्, प्रजाकाण्डम् ॥

भाषार्थः—[*चेल......काण्डम्*] चेल, खेट, कटुक, काण्ड इन उत्तरपद स्थित शब्दों को तत्पुरुष समास में [*गर्हायाम्*] निन्दा गम्यमान होने पर आद्युदात्त होता है ॥ *उपमितं व्याघ्रादिभिः०* (२।१।५५) से सर्वत्र उदाहरणों में समास हुआ है ॥ *उदा०*—पुत्रचेलम् (कुपुत्र, जो फटे वस्त्र के समान दूर करने योग्य हो), उपानत्खेटम् (खराब जूता), दधिकटुकम् (कड़वा दही), भूतकाण्डम् (कष्टदायक प्रजा) ॥

चीरमुपमानम् ॥६।२।१२७॥

चीरम् १।१॥ उपमानम् १।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समासे उपमानवाचि चीरमुत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—वस्त्रं चीरमिव वस्त्रचीरम्, पटचीरम्, कम्बलचीरम् ॥

भाषार्थः—तत्पुरुष समास में [*उपमानम्*] उपमानवाची [*चीरम्*] चीर उत्तरपद शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् समास जानें ॥ *उदा०*—वस्त्रचीरम् (लम्बे आकार में फाड़ी गई पट्टी के समान कम चौड़ा वस्त्र) ॥

पललसूपशाकं मिश्रे ॥६।२।१२८॥

पललसूपशाकम् १।१॥ मिश्रे ७।१॥ *स०*—पललञ्च सूपश्च शाकञ्च पललसूपशाकम्, समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—मिश्रवाचिनि तत्पुरुषे समासे पलल, सूप, शाक इत्येतान्युत्तरपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—गुडेन मिश्रं पललं = गुडपललम्, घृतपललम् । घृतसूपः, मूलकसूपः । घृतशाकम्, मुद्गशाकम् ॥

भाषार्थः—[*मिश्रे*] मिश्रवाची तत्पुरुष समास में [*पललसूपशाकम्*] पलल, सूप, शाक इन उत्तरपदस्थित शब्दों को आद्युदात्त होता है । *भक्ष्येण मिश्रीकरणम्* (२।१।३४) से उदाहरणों में समास हुआ है ॥

उदा०—गुडपललम् (गुड़ मिला हुआ मांस), घृतसूपः (घी मिली हुई दाल), मूलकसूपः (मूली मिली हुई दाल), घृतशाकम् (घी मिला हुआ शाक), मुद्गशाकम् (मूंग मिला हुआ शाक) ॥

कूलसूदस्थलकर्षाः संज्ञायाम् ॥६।२।१२९॥

कूलसूदस्थलकर्षाः १।३॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—कूलञ्च सूदश्च स्थलञ्च कर्षश्च कूल····कर्षाः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—कूल, सूद, स्थल, कर्ष इत्येतान्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समास आद्युदात्तानि भवन्ति संज्ञायां विषये ॥ उदा०—दाक्षिकूलम्, माहकिकूलम् । देवसूदम्, भाजीसूदम् । दाण्डायनस्थली, माहकिस्थली । दाक्षिकर्षः ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*कूल····कर्षाः*] कूल, सूद, स्थल, कर्ष इन उत्तरपदस्थित शब्दों को तत्पुरुष समास में आद्युदात्त होता है ॥ सभी उदाहरण ग्राम विशेष के नाम हैं । स्थल शब्द में *जानपदकुण्ड०* (४।१।४२) से ङीष् हुआ है । चारों ओर की भूमि से स्वयंसिद्ध (अकृत्रिम) उच्च सम भूमि 'स्थली' कहाती है ॥

अकर्मधारये राज्यम् ॥६।२।१३०॥

अकर्मधारये ७।१॥ राज्यम् १।१॥ *स०*—न कर्मधारयः अकर्मधारयस्तस्मिन्···नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—कर्मधारयवर्जिते तत्पुरुषे समासे राज्यमुत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणराज्यम्, क्षत्रियराज्यम् ॥

भाषार्थः—[*अकर्मधारये*] कर्मधारय वर्जित तत्पुरुष समास में उत्तरपद [*राज्यम्*] राज्य शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में षष्ठीसमास है ॥

यहाँ से '*अकर्मधारये*' की अनुवृत्ति ६।२।१३१ तक जायेगी ॥

वर्ग्यादयश्च ॥६।२।१३१॥

वर्ग्यादयः १।३॥ च अ० ॥ *स०*—वर्ग्य आदिर्येषां ते वर्ग्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अकर्मधारये, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥

अर्थः—अकर्मधारये तत्पुरुषे समासे वर्ग्यादीन्युत्तरपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—वासुदेववर्ग्यः, वासुदेवपक्ष्यः, अर्जुनवर्ग्यः अर्जुनपक्ष्यः ॥

भाषार्थः—कर्मधारय वर्जित तत्पुरुष समास में [*वर्ग्यादयः*] वर्ग्यादि उत्तरपद शब्दों को [*च*] भी आद्युदात्त होता है ॥ *दिगादिभ्यो०* (४।३।५४) से यत् प्रत्यय करके वर्ग्य इत्यादि शब्द सिद्ध होते हैं। *उदा०*—वासुदेववर्ग्यः (वासुदेव के वर्ग का), अर्जुनपक्ष्यः ॥

पुत्रः पुम्भ्यः ॥६।२।१३२॥

पुत्रः १।१॥ पुम्भ्यः ५।३॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—पुंशब्देभ्य उत्तरः पुत्रशब्द उत्तरपदं तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—कौनटिपुत्रः, दामकपुत्रः, माहिषकपुत्रः ॥

भाषार्थः—तत्पुरुष समास में [*पुम्भ्यः*] पुंलिङ्गवाची शब्द से उत्तर उत्तरपद [*पुत्रः*] पुत्र शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ *उदा०*—कौनटिपुत्रः, (कौनटि का पुत्र) ॥

यहाँ से '*पुत्रः*' की अनुवृत्ति ६।२।१३३ तक जायेगी ॥

नाचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः ॥६।२।१३३॥

न अ० ॥ आचार्य...ख्येभ्यः ५।३॥ *स०*—आचार्यश्च राजा च ऋत्विक् च संयुक्तश्च ज्ञातिश्च आचार्य...ज्ञातयः, एता आख्या येषां ते आचार्य...ख्याः, तेभ्यः...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पुत्रः, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः उदात्तः ॥ *अर्थः*—आचार्य, राजा, ऋत्विक्, संयुक्त, ज्ञाति, इत्येतेषां या आख्या तद्वाचिभ्यः परः पुत्रशब्दो नाद्युदात्तो भवति ॥ *उदा०*—आचार्याख्येभ्यः—आचार्यपुत्रः, उपाध्यायपुत्रः शाकटायनपुत्रः। राजाख्येभ्यः—राजपुत्रः, ईश्वरपुत्रः, नन्दपुत्रः,। ऋत्विगाख्येभ्यः—ऋत्विक्पुत्रः, याजकपुत्रः, होतुःपुत्रः। संयुक्ताख्येभ्यः—सम्बन्धिपुत्रः, श्यालपुत्रः। ज्ञात्याख्येभ्यः—ज्ञातिपुत्रः, भ्रातुष्पुत्रः ॥

भाषार्थः—[*आचार्य...ख्येभ्यः*] आचार्य, राजन, ऋत्विक्, संयुक्त तथा ज्ञाति की आख्या वाले शब्दों से उत्तर पुत्र शब्द को तत्पुरुष समास में आद्युदात्त [*न*] नहीं होता है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर

दिया, अतः *समासस्य* (६।१।२१७) से अन्तोदात्त ही होता है ।। आख्या ग्रहण तत्पर्याय एवं तद् विशेषवाचियों के ग्रहणार्थ है। यथा उपाध्यायपुत्रः इस उदाहरण में उपाध्याय शब्द आचार्य का पर्यायवाची है, एवं शाकटायनपुत्रः में शाकटायन शब्द आचार्यविशेषवाची है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझ लें ।। *ऋतो विद्यायोनिसंबन्धे०* (६।३।२१) से होतुःपुत्रः, भ्रातुष्पुत्रः में षष्ठी का अलुक् हुआ है। *कस्कादिषु च* (८।३।४८) से भ्रातुष्पुत्रः में षत्व जानें।। संयुक्त स्त्री के संबन्धी 'साला' आदि को कहते हैं, तथा ज्ञाति शब्द माता-पिता संबन्धी बन्धु बान्धवों का वाचक है।।

चूर्णादीन्यप्राणिषष्ठ्याः ।।६।२।१३४।।

चूर्णादीनि १।३।। अप्राणिषष्ठ्याः ५।१।। *स०*—चूर्ण आदिर्येषां तानि चूर्णादीनि, बहुव्रीहिः । न प्राणी, अप्राणी नञ्तत्पुरुषः । अप्राणिनः षष्ठी अप्राणिषष्ठी, तस्याः''' पञ्चमीतत्पुरुषः ।। *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ।। *अर्थः*—अप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्तात् पराणि चूर्णादीन्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समास आद्युदात्तानि भवन्ति ।। *उदा०*—मुद्गस्य चूर्णं = मुद्गचूर्णम्, मसूरचूर्णम् ।।

भाषार्थः—[*अप्राणिषष्ठ्याः*] प्राणिभिन्न षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर तत्पुरुष समास में [*चूर्णादीनि*] चूर्णादि उत्तरपद शब्दों को आद्युदात्त होता है ।। उदा०—मुद्गचूर्णम् (मूँग का आटा), मसूरचूर्णम् (मसूर का आटा) । मूद्ग, मसूर अप्राणिवाची षष्ठ्यन्त शब्द हैं ।।

यहाँ से '*अप्राणिषष्ठ्याः*' की अनुवृत्ति ६।२।१३५ तक जायेगी।।

षट् च काण्डादीनि ।।६।२।१३५।।

षट् १।३।। च अ० ।। काण्डादीनि १।३।। *स०*—काण्ड आदिर्येषाम् तानि काण्डादीनि, बहुव्रीहिः ।। *अनु०*—अप्राणिषष्ठ्याः, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ।। *अर्थः*—पूर्वोक्तानि षट् काण्डादीन्युत्तरपदानि अप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्तात् पराण्याद्युदात्तानि भवन्ति ।। *उदा०*—दर्भकाण्डम्, शरकाण्डम् । दर्भचीरम्, कुशचीरम् । तिलपललम्, मुद्गसूपः, मूलकशाकम् । नदीकूलम्, समुद्रकूलम् ।।

भाषार्थः—अप्राणिवाची षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर पूर्वोक्त [षट्] छः [*काण्डादीनि*] काण्डादि उत्तरपद शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ *चेलखेटकटुककाण्डं०* (६।२।१२६) में पढ़े हुये काण्ड शब्द से से लेकर *कूलसूदस्थल०* (६।२।१२९) के कूल शब्द तक काण्ड, चीर, पलल, सूप, शाक, कूल ये ६ शब्द काण्डादि से गृहीत हैं ॥ इन शब्दों को पूर्वोक्त सूत्रों से ही अप्राणिवाची षष्ठ्यन्त से उत्तर भी आद्युदात्त प्राप्त ही था, पुनः कथन इसलिये है कि जहाँ गर्हा में आद्युदात्त कहा है वहाँ अगर्हा में भी प्रकृत सूत्र से हो जाये, तथा जहाँ उपमानवाची से कहा है वहाँ अनुपमान में, जहाँ मिश्र एवं संज्ञा विषय में कहा है वहाँ अमिश्र, एवं असंज्ञा में भी हो जाये ॥

कुण्डं वनम् ॥६।२।१३६॥

कुण्डम् १।१॥ वनम् १।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समासे वनवाचि कुण्डमित्येतदुत्तरपद माद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—दर्भकुण्डम्, शरकुण्डम् ॥

भाषार्थः—[*वनम्*] वनवाची [*कुण्डम्*] कुण्ड उत्तरपद शब्द को तत्पुरुष समास में आद्युदात्त होता है ॥ कुण्ड शब्द यहाँ सादृश्य से वन अर्थ में वर्त्तमान है। जिस प्रकार कुण्ड जल इत्यादि का आश्रय स्थान है, उसी प्रकार वन भी किसी का आश्रय है यही यहाँ सादृश्य है ॥ *उदा०*—दर्भकुण्डम् (दर्भ का वन)। शरकुण्डम् (सरकण्डे का वन) ॥

प्रकृत्या भगालम् ॥६।२।१३७॥

प्रकृत्या ३।१॥ भगालम् १।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदम्,[1] ॥ *अर्थः*—भगालवाच्युत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—कुम्भीभगालम्, कुम्भीकपालम्, कुम्भीनदालम् ॥

भाषार्थः—[*भगालम्*] भगालवाची उत्तरपद को तत्पुरुष समास में [*प्रकृत्या*] प्रकृति स्वर होता है ॥ *लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः* (फिट्० ४२) से भगाल कपाल आदि शब्द मध्योदात्त हैं। भगाल से यहाँ तद्-

१. क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते इति नियमेन उत्तरपदमेवानुवर्तते ।

वाचियों का भी ग्रहण है ॥ उदा०—कुम्भीभगालम् (घड़े का आधा टुकड़ा) । इसी प्रकार अन्यों के भी अर्थ जानें ॥

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी ॥

शितेर्नित्याबह्वज् बहुव्रीहावभसत् ॥६।२।१३८॥

शितेः ५।१॥ नित्याबह्वच् १।१॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ अभसत् १।१॥ स०—बह्वोऽचो यस्मिन् तत् बह्वच्, बहुव्रीहिः । न बह्वच् अबह्वच्, नञ्तत्पुरुषः । नित्यम् अबह्वच्, नित्याबह्वच्, *अत्यन्त०* (२।१।२९) इत्यनेन द्वितीया-तत्पुरुषः । न भसत् अभसत्, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या, उत्तरपदम् ॥ *अर्थः*—शितेः परं नित्यं यदबह्वच्कमुत्तरपदं भसच्छब्दवर्जितं तत् प्रकृत्या भवति, बहुव्रीहौ समासे ॥ *उदा०*—शितिपादः, शित्यंसः, शित्योष्ठः ॥

भाषार्थः—[*शितेः*] शिति शब्द से उत्तर [*नित्याबह्वच्*] नित्य ही जो अबह्वच् उत्तरपद स्थित शब्द उसको [*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में प्रकृति स्वर होता है [*अभसत्*] भसत् शब्द को छोड़कर ॥ भसत् शब्द भी नित्य अबह्वच् है, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । पाद शब्द *वृषादीनां च* (६।१।१९७) से आद्युदात्त है । अंस शब्द *अमेः सन्* (*उणा०* ५।२१) से सन् प्रत्ययान्त है, एवं ओष्ठ शब्द भी *उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्* (*उणा०* २।४) से थन् प्रत्ययान्त है अतः दोनों ही शब्द नित्स्वर से आद्युदात्त हैं ॥ *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से बहुव्रीहि समास में पूर्व-पद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तदपवाद यहाँ उत्तरपद प्रकृतिस्वर कह दिया ॥

गतिकारकोपपदात् कृत् ॥६।२।१३९॥

गतिकारकोपपदात् ५।१॥ कृत् १।१॥ *स०*—गतिश्च कारकञ्च उपपदञ्च गतिकारकोपपदं तस्मात्'''समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या, तत्पुरुषे, उत्तरपदम् ॥ *अर्थः*—गतेः कारकाद् उपपदाच्च परं कृदन्तमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—गतेः—प्रकारकः, प्रहारकः, प्रकरणम्, प्रहरणम् । कारकात्—इध्मं प्रवृश्च्यते येन स इध्मप्रव्रश्चनः, पलाशशातनः, शश्मश्रुकल्पनः । उपपदात्—ईषत्करः, दुष्करसुकरः ॥

भाषार्थः—[*गतिकारकोपपदात्*] गति, कारक तथा उपपद से उत्तर [*कृत्*] कृदन्त उत्तरपद को तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में कृदन्त 'कारकः' आदि को *लिति* (६।१।१८७) से

प्रत्यय से पूर्व को उदात्त है। पलाशशातनः में शद्लृ णिजन्त धातु के द् को त् *शदेरगतौ तः* (७।३।४२) से होता है। *णेरनिटि* (६।४।५१) से णिच् का लोप हो ही जायेगा। इध्म, पलाश आदि कर्म कारक से उत्तर यहाँ कृदन्त प्रव्रश्चनः आदि हैं। परन्तु प्रव्रश्चन आदि कृत् के योग में कर्म में षष्ठी होकर '*कृद्योगा च षष्ठी समस्यते*' (*वा०* २।२।८) से षष्ठी समास होता है।

उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् ॥६।२।१४०॥

उभे १।२॥ वनस्पत्यादिषु ७।३॥ युगपत् १।१॥ *स०*—वनस्पतिः आदिर्येषां ते वनस्पत्यादयस्तेषु...बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—प्रकृत्या॥ *अर्थः*—वनस्पत्यादिषु समासेषु उभे पूर्वोत्तरपदे युगपत् प्रकृतिस्वरे भवतः॥ *उदा०*—वनस्पतिः, बृहतां पतिः = बृहस्पतिः॥

भाषार्थः—[*वनस्पत्यादिषु*] वनस्पत्यादि समस्त शब्दों में [*उभे*] दोनों = पूर्व तथा उत्तरपद को [*युगपत्*] एक साथ प्रकृतिस्वर होता है॥ *अनुदात्तं पद०* (६।१।१५२) के कारण एक साथ उदात्तत्व प्राप्त नहीं था, अतः युगपत् कह दिया॥ वनस्पति में वन शब्द *नब्विषयस्या०* (*फिट्* २६) से आद्युदात्त है, एवं पति शब्द भी *पातेर्डतिः* (*उणा०* ४।५७) से डति प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त है। प्रत्यय के डित् होने से पा के आ (टिभाग) का लोप हो ही जायेगा। *पारस्करप्रभृतीनि च०* (६।१।१५१) से सुट् का आगम वनस्पति शब्द में हुआ है। बृहस्पति शब्द में *वर्त्तमाने पृषत्बृहन्०* (*उणा०* २।८४) से यद्यपि अन्तोदात्तत्व निपातन है, तथापि उसे आद्युदात्त निपातन भी कई मानते हैं। *तद्बृहतोः करपत्योः०* (*वा०* ६।१।१५१) इस वार्त्तिक से बृहत् के तकार का लोप और सुट् का आगम होता है॥

यहाँ से '*उभे युगपत्*' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी॥

देवताद्वन्द्वे च ॥६।२।१४१॥

देवताद्वन्द्वे ७।१॥ च अ०॥ *स०*—देवतानां द्वन्द्वः देवताद्वन्द्वः, तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—उभे युगपत्, प्रकृत्या,॥ *अर्थः*—देव-

तावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्र युगपदुभे पूर्वोत्तरपदे प्रकृतिस्वरे भवतः॥ उदा०—इन्द्रासोमौ, इन्द्रावरुणौ, इन्द्राबृहस्पती॥

भाषार्थः—[*देवताद्वन्द्वे*] देवतावाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास उसमें [च] भी एक साथ दोनों अर्थात् पूर्व और उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होता है॥ उदाहरणों में *देवताद्वन्द्वे च* (६।३।२४) से आनङ् आदेश होता है। इन्द्र शब्द *ऋज्रेन्द्राग्र०* (*उणा०* २।२८) से रन् प्रत्यायान्त निपातित है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है। सोम शब्द *अर्तिस्तुसुहु०* (*उणा०* १।१४०) से मन् प्रत्ययान्त है, अतः यह भी नित्स्वर से आद्युदात्त है। वरुण शब्द *कृवृदारिभ्य उनन्* (*उणा०* ३।५३) से उनन् प्रत्ययान्त है, अतः यह भी नित्स्वर से आद्युदात्त है। बृहस्पति शब्द की व्युत्पत्ति ६।२।१४० में की ही है, तदनुसार बृहस्पति में दो उदात्त एवं इन्द्र का एक उदात्त लेकर इन्द्राबृहस्पती में तीन वर्ण उदात्त हुए॥

यहाँ से '*देवताद्वन्द्वे*' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी॥

नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु ॥६।२।१४२॥

न अ०॥ उत्तरपदे ७।१॥ अनुदात्तादौ ७।१॥ अपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु ७।३॥ *स०*—अनुदात्त आदौ (प्रारम्भे) यस्य स अनुदात्तादिः, तस्मिन् ... बहुव्रीहिः। पृथिवी च रुद्रश्च पूषा च मन्थी च पृथिवी ... मन्थिनः, न पृथिवी ... थिनः अपृ ... थिनः, तेषु ... द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—देवताद्वन्द्वे, उभे युगपत्, प्रकृत्या॥ *अर्थः*—अनुदात्तादौ उत्तरपदे पृथिवीरुद्रपूषमन्थिवर्जिते देवताद्वन्द्वे युगपद् उभे प्रकृतिस्वरे न भवतः॥ *उदा०*—इन्द्राग्नी, इन्द्रावायू॥

भाषार्थः—देवतावाची द्वन्द्व समास में [*अनुदात्तादौ*] अनुदात्तादि [*उत्तरपदे*] उत्तरपद रहते [*अपृ ... थिषु*] पृथिवी, रुद्र, पूषन्, मन्थी को छोड़कर एक साथ पूर्व तथा उत्तरपद को उदात्त [न] नहीं होता है॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया॥ 'अग्निम्' की स्वर सिद्धि भाग १ पृ० ७७५ में देखें। वायु शब्द भी *कृवापाजिमि०* (*उणा०* १।१) से उणादि प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। इस प्रकार अग्नि,

वायु शब्द अनुदात्त आदि वाले हैं, अतः इनके परे रहते प्रकृति स्व नहीं हुआ। देवताद्वन्द्व है ही, अतः प्रकृत सूत्र से निषेध होने समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्तत्व ही हुआ ॥

अन्तः ॥६।२।१४३॥

अन्तः १।१॥ अनु०—उत्तरपदस्य[1], उदात्तः ॥ *अर्थः*—अधिकार ऽयम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्र समासस्योत्तरपदस्यान्त उदात्त भवति ॥ उदा०—वक्ष्यति-*थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्*—सुनीथः, अवभृथः

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। पाद की समाप्ति पर्यन्त इसका अधिकार जायेगा, अतः सर्वत्र समास के उत्तरपद का [*अन्तः*] अन्त उदात्त होता है ऐसा अर्थ होता जायेगा ॥

समासस्य (६।१।२१७) से समास के अन्त को उदात्त प्राप्त ही था पुनः आगे के सभी सूत्र विभिन्न सूत्रों के अपवाद स्वरूप अन्तोदात्तत्व का विधान करते हैं, ऐसा सर्वत्र जानें। कौन किसका अपवाद है यह यथास्थान दर्शाते जायेंगे ॥

थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् ॥६।२।१४४॥

थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् ६।३॥ *स०*—थाथ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः। *गतिकारकोपपदात्* कृत् इत्यतः 'गतिकारकोपपदात्' इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—गतिकारकोपपदात्परेषां थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र, क इत्येवमन्तानामुत्तरपदानामन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—थ—सुनीथः, अवभृथः। अथ—आवसथः, उपवसथः। घञ्—प्रभेदः, काष्ठभेदः, रज्जुभेदः। क्त—दूरादागतः, विशुष्कः, आतपशुष्कः। अच्—प्रक्षयः, प्रजयः। अप्—प्रलवः, प्रसवः। इत्र—प्र वित्रम्, प्रसवित्रम्। क—गोवृषः, खरीवृषः, प्रवृषः, प्रहृषः ॥

---

१. 'उत्तरपदादिः' इस समस्त पद से केवल 'उत्तरपद' की अनुवृत्ति आ रही है। 'उत्तरपदस्य आदिः' ऐसा विग्रह करने पर 'उत्तरपदस्य' षष्ठ्यन्त पद ही बन जाता है, अतः हमने उत्तरपद न रख कर सर्वत्र 'उत्तरपदस्य' ऐसा ही अनुवृत्ति में प्रदर्शित किया है, क्योंकि अविभक्तिक पद का प्रयोग साधु नहीं ॥

भाषार्थः—गति कारक और उपपद से उत्तर [*थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्*] थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र तथा क प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥

हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (*उणा*० २।२) से सुनीथः शब्द क्थन् प्रत्ययान्त है, एवं अवभृथः शब्द भी *अवे भृञः* (*उणा*० २।३) से क्थन् प्रत्ययान्त है, अतः *गतिकार*० (६।२।१३८) से उत्तरपद प्रकृतिस्वरत्व (नित्स्वर से आद्युदात्तत्व) प्राप्त था॥ आवसथः, उपवसथः यहाँ *उपसर्गे वसेः* (*उणा*० ३।११६) से अथ प्रत्यय हुआ है॥ यहाँ भी एवं घञन्त काष्ठभेदः आदि में भी पूर्ववत् *गतिकार*० (६।२।१३८) की प्राप्ति जानें॥ दूरादागतः यहाँ *स्तोकान्तिक*० (२।१।३८) से समास तथा *पञ्चम्याः स्तो*० (६।३।२) से पञ्चमी का अलुक् हुआ है॥ विशुष्कः यहाँ निष्ठा के 'त' को *शुषः कः* (८।२।५१) से क आदेश हुआ है। यहाँ दोनों स्थलों में *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) की प्राप्ति थी॥ आतपशुष्कः में *सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च* (२।१।४१) से समास हुआ है तथा कृत्स्वर का अपवाद *सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धेष्व*० (६।१।३२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था। प्रक्षयः, प्रजयः में क्षय जय शब्द अच् प्रत्ययान्त हैं, जिन को *गतिकारकोपपदात्*० (६।२।१३८) से प्रकृतिस्वर होकर क्रमशः *क्षयो निवासे* (६।१।१९५) *जयः करणम्* (६।१।१९६) से आद्युदात्तत्व प्राप्त था तदपवाद अन्तोदात्तत्व कह दिया॥ शेष प्रलवः, प्रलवित्रम् इत्यादि में भी *गतिकारको*० (६।२।१३८) की प्राप्ति थी तदपवाद कह दिया। प्रलवित्रम् में *अर्त्तिलूधू*० (३।२।१८४) से इत्र प्रत्यय एवं प्रलवः में *ऋदोरप्* (३।३।५७) से अप् हुआ है॥ गोवृषः, खरीवृषः यहाँ *कप्रकरणे मूलविभुजादि*० (वा० ३।२।५) इस वार्त्तिक से क प्रत्यय हुआ है। प्रवृषः, प्रहृषः में *इगुपधज्ञा*० (३।१।१३५) से क प्रत्यय हुआ है। *गतिकारकोपपदात्*० से प्रकृतिस्वर होने से वृष शब्द को *वृषादीनां च* (६।१।१९७) से आद्युदात्तत्व प्राप्त था तदपवाद कह दिया॥

यह सूत्र भिन्न-भिन्न प्रयोगों के प्राप्त होने पर जिन-जिन सूत्रों का अपवाद बनता है, उनको हमने ऊपर दिखा ही दिया है। स्वर विषय का यह मुख्य सूत्र है॥

सूपमानात् क्तः ॥६।२।१४५॥

सूपमानात् ५।१॥ क्तः १।१॥ *स०*—सुश्च उपमानञ्च सूपमा॰ तस्मात्.....समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः* सोः उपमानाच्च परं क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—सुकृतम् सुभुक्तम्, सुपीतम्, ऋतस्य योनौ सुकृतस्य (ऋ० १०।८५।२४)। उपम नात्—वृकैरिवावलुप्तम् वृकावलुप्तम्, शशप्लुतम्, सिंहविनर्दितम्

भाषार्थः—[*सूपमानात्*] सु तथा उपमानवाची से उत्तर [क्तः क्तान्त उत्तरपदको अन्तोदात्त होता है ॥ सुकृतम् आदि में *गतिरनन्तर* (६।२।४९) की प्राप्ति थी, एवं वृकावलुप्तम् आदि में *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) की प्राप्ति थी, तदपवाद कह दिया। सर्वत्र *कर्तृकरणे कृता०* (२।१।३१) से समास हुआ है। लुप्लृ छेदने से अवलुप्तम् एवं प्लुङ गतौ से प्लुतम् तथा नर्द शब्दे से विनर्दितम् बना है ॥

यहाँ से 'क्तः' की अनुवृत्ति ६।२।१४९ तक जायेगी ॥

संज्ञायामनाचितादीनाम् ॥६।२।१४६॥

संज्ञायाम् ७।१॥ अनाचितादीनाम् ६।३॥ *स०*—आचित आदिर्येषां ते आचितादयः, न आचितादयोऽनाचितादयस्तेषां......बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः। गतिकारकोपपदात् इत्यप्यनुवर्तते ॥ *अर्थः*—गतिकारकोपपदात् परं क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति संज्ञायां विषय आचितादीन् वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—संभूतो रामायणः, उपहूतः शाकल्यः, परिजग्धः कौण्डिन्यः। कारकादुपपदाच्च—धनुर्भिः खाता धनुष्खाता नदी, कुद्दालखातं नगरम्, हस्तिमृदिता भूमिः ॥

भाषार्थः—गति, कारक तथा उपपद से उत्तर क्तान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*अनाचितादीनाम्*] आचितादि शब्दों को छोड़कर ॥ संभूतः आदि में कर्म में क्त हुआ है, अतः *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) की प्राप्ति थी तदपवाद है ॥ संभूतः आदि शब्द रामायण इत्यादि की संज्ञायें हैं। धनुष्खाता आदि में *कर्त्तृकरणे कृता०* (२।१।३१) से समास हुआ है। *जनसनखन०* (६।४।४२)

से खन् को आत्व हुआ है। *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) से इन तीनों उदाहरणों में पूर्वपद को प्रकृति स्वर प्राप्त था, तदपवाद यह अन्तोदात्त विधान है॥

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ६।२।१४८ तक जाती है॥

प्रवृद्धादीनां च ॥६।२।१४७॥

प्रवृद्धादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ *स०*—प्रवृद्ध आदिर्येषां ते प्रवृद्धादयस्तेषां...बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—प्रवृद्धादीनां च क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—प्रवृद्धं यानम्, प्रवृद्धो वृषलः, प्रयुक्ताः सक्तवः॥

भाषार्थः—[*प्रवृद्धादीनाम्*] प्रवृद्धादियों के क्तान्त उत्तरपद को [च] भी अन्तोदात्त होता है। पूर्व सूत्र में संज्ञा विषय में कहा है, यहाँ असंज्ञा में भी होगा। पूर्ववत् *गतिरनन्तरः* की प्राप्ति थी तदपवाद है॥

कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि ॥६।२।१४८॥

कारकात् ५।१॥ दत्तश्रुतयोः ६।२॥ एव अ०॥ आशिषि ७।१॥ *स०*—दत्त० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—आशिषि गम्यमानायां संज्ञायां विषये कारकादुत्तरयोर्दत्तश्रुतयोरेव क्तान्तयोरन्त उदात्तो भवति॥ *उदा०*—देवा एनं देयासुः = प्रार्थितैर्देवैर्दत्तः = देवदत्तः। विष्णुरेनं श्रूयाद् विष्णुश्रुतः॥

भाषार्थः—संज्ञा विषय में [*आशिषि*] आशीर्वाद गम्यमान हो तो [*कारकात्*] कारक से उत्तर [*दत्तश्रुतयोः*] दत्त तथा श्रुत क्तान्त शब्दों को [*एव*] ही अन्त उदात्त होता है॥ *संज्ञायामनाचि०* (६।२।१४५) से सभी क्तान्तों को अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसी का यहाँ नियम कर दिया कि 'यदि कारक से उत्तर हो तो दत्त एवं श्रुत को ही हो'। दत्त, श्रुत से अन्यत्र *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होगा॥ इस प्रकार कारक का नियम कर दिया॥ *क्तिच्क्तौ च संज्ञा०* (३।३।१७४) से आशीः विषय में उदाहरणों में क्त प्रत्यय हुआ है। *दो दद् घोः* (७।४।४६) से दा को दद् आदेश होता है। किसी व्यक्ति विशेष की ये संज्ञायें हैं॥

यहाँ से *'कारकात्'* की अनुवृत्ति ६।२।१५१ तक जायेगी ॥

इत्थम्भूतेन कृतमिति च ॥६।२।१४९॥

इत्थम्भूतेन ३।१॥ कृतम् १।१॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ इमं प्रकारमापन्नः इत्थम्भूतस्तेन ...... ॥ *अनु०*—कारकात्, क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—इत्थम्भूतेन कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यः समासो वर्त्तते तत्र क्तान्तमुत्तरपदं कारकात् परमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—सुप्तप्रलपितम्, उन्मत्तप्रलपितम्, प्रमत्तगीतम्, विपन्नश्रुतम् ॥

भाषार्थः—[*इत्थम्भूतेन*] इस प्रकार को प्राप्त हुए के द्वारा [*कृतम्*] किया गया [*इति*] इस अर्थ में जो समास वहाँ [*च*] भी क्तान्त उत्तरपद को कारक से परे अन्तोदात्त होता है ॥ सुप्तत्व प्रकार को प्राप्त हुआ हुआ यह इत्थम्भूत है, तथा उस सुप्त के द्वारा प्रलाप किया गया यह 'कृतम्' है, इस प्रकार सुप्तप्रलपितम् में 'इत्थम्भूतेन कृतम्' अर्थ में समास है। इसी प्रकार सबमें जानें ॥ *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) का अपवाद यह सूत्र भी है ॥

अनो भावकर्मवचनः ॥६।२।१५०॥

अनः १।१॥ भावकर्मवचनः १।१॥ *स०*—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोर्वचनः भावकर्मवचनः द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—कारकात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—कारकात् परं भाववचनं कर्मवचनं चानप्रत्ययान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—ओदनभोजनं सुखम्, पयःपानं सुखम्, चन्दनप्रियङ्गुकालेपनं सुखम्। कर्मवचनम्—राजभोजनाः शालयः, राजाच्छादनानि वासांसि ॥

भाषार्थः—[*भावकर्मवचनः*] भाव तथा कर्मवाची [*अनः*] अनप्रत्ययान्त उत्तरपद को कारक से उत्तर अन्तोदात्तत्व होता है ॥ 'भोजन' आदि शब्द अन (यु को अन होकर) प्रत्ययान्त हैं। सर्वत्र कर्म में षष्ठी होकर समास हुआ है ॥ *गतिकारकोपपदात्०* (६।२।१३८) का अपवाद यह सूत्र है ॥

मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः ॥६।२।१५१॥

मन्क्ति''क्रीताः १।३॥ स०—याजक आदिर्येषां ते याजकादयः, बहुव्रीहिः। मन् च क्तिन् च व्याख्यानञ्च शयनञ्च आसनञ्च स्थानञ्च याजकादयश्च क्रीतश्च मन्क्ति''क्रीताः, इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—कारकात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—कारकात्परं मन्नन्तं क्तिन्नन्तं, व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान इत्येतानि याजकादयः क्रीतशब्दश्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—मन्—रथस्य वर्त्म रथवर्त्म, शकटवर्त्म। क्तिन्—पाणिनिकृतिः, आपिशलिकृतिः। व्याख्यान-ऋगयनव्याख्यानम्, छन्दोव्याख्यानम्। शयन—राजशयनम्, ब्राह्मणशयनम्। आसन—राजासनम्, ब्राह्मणासनम्। स्थान—गोस्थानम्, अश्वस्थानम्। याजकादि—ब्राह्मणयाजकः, क्षत्रिययाजकः, ब्राह्मणपूजकः, क्षत्रियपूजकः। क्रीत—गवा क्रीतः = गोक्रीतः, अश्वक्रीतः॥

भाषार्थः—कारक से उत्तर [*मन्क्ति''क्रीताः*] मन्प्रत्ययान्त, क्तिन्प्रत्ययान्त, एवं व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान तथा याजकादिगण पठित शब्द एवं क्रीत शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है॥ सर्वत्र षष्ठी समास हुआ है। ब्राह्मणयाजकः आदि में *याजकादिभिश्च* (२।२।९) से समास हुआ है। *गतिकारकोपपदात्*[1]० (६।२।१३८) का अपवाद यह सूत्र है। गोक्रीतः अश्वक्रीतः में तृतीया समास है, अतः यहाँ *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) की प्राप्ति थी तदपवाद है॥ व्याख्यान में करण में, तथा शयन आसन स्थान में अधिकरण में ल्युट् हुआ है भाव एवं कर्म में ल्युट् नहीं हुआ है अतः पूर्व सूत्र से प्राप्त नहीं था, कह दिया॥

सप्तम्याः पुण्यम् ॥६।२।१५२॥

सप्तम्याः ५।१॥ पुण्यम् १।१॥ *अनु०*—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—सप्तम्यन्तात् परं पुण्यमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—अध्ययने पुण्यम् = अध्ययनपुण्यम्, वेदे पुण्यम् = वेदपुण्यम्॥

---

१ रथवर्त्म आदि उदाहरणों में कर्तृकर्मणोः कृति से कर्म में षष्ठी होने से कारक से उत्तरवर्त्मादि कृदन्त होता है।

भाषार्थः—[*सप्तम्याः*] सप्तम्यन्त से परे [*पुण्यम्*] पुण्य उत्तरप शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तदपवाद है ॥

ऊनार्थकलहं तृतीयायाः ॥६।२।१५३॥

ऊनार्थकलहम् १।१॥ तृतीयायाः ५।१॥ *स०*—ऊनोऽर्थो यस्य स ऊनार्थः, बहुव्रीहिः । ऊनार्थश्च कलहश्च ऊनार्थकलहम्, समाहारो द्वन्द्वः । अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तृतीयान्तात् पराण्यूनार्थान्युत्तरपदानि कलहशब्दश्चान्तोदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—माषोनम्, कार्षापणोनम्, माषविकलम्, कार्षापणविकलम् । असिकलहः, वाक्कलहः ॥

भाषार्थः—[*तृतीयायाः*] तृतीयान्त शब्द से परे [*ऊनार्थकलहम्*] ऊनार्थवाची एवं कलह शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ ऊन कम का वाचक है ॥ उदाहरणों में *पूर्वसदृशसमो०* (२।१।३०) से समास हुआ है ॥ यहाँ भी *तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तदपवाद है ॥

यहाँ से '*तृतीयायाः*' की अनुवृत्ति ६।२।१५४ तक जायेगी ॥

मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ ॥६।२।१५४॥

मिश्रम् १।१॥ च अ०॥ अनुपसर्गम् १।१॥ असन्धौ ७।१॥ *स०*—अनुप०, असन्धौ उभयत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीयायाः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तृतीयान्तात्परं मिश्र इत्येतदनुपसर्गमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति, असन्धौ गम्यमाने ॥ *उदा०*—गुडमिश्राः, तिलमिश्राः, सर्पिर्मिश्राः ॥

भाषार्थः—तृतीयान्त से परे [*अनुपसर्गम्*] अनुपसर्ग [*मिश्रम्*] मिश्र शब्द उत्तरपद को [*च*] भी अन्तोदात्त होता है [*असन्धौ*] असन्धि गम्यमान हो तो ॥ उदाहरणों में *पूर्वसदृश०* (२।१।३०) से समास हुआ है ॥ यह सूत्र भी *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) का अपवाद है ॥ सन्धि पणबन्ध को कहते हैं । उदाहरणों में असन्धि अर्थात् पणबन्ध का अभाव है, क्योंकि 'गुड़ मिला हुआ, तिल मिला हुआ' ऐसा उदाहरणों का अर्थ है ॥

नञो गुणप्रतिषेधे संपाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः ॥६।२।१५५॥

नञः ५।१॥ गुणप्रतिषेधे ७।१॥ संपाद्यर्हहितालमर्थाः १।३॥ तद्धिताः १।३॥ *स०*—गुणस्य प्रतिषेधः, गुणप्रतिषेधस्तस्मिन्''षष्ठीतत्पुरुषः। सम्पादी च अर्हश्च हितञ्च अलञ्च सम्पाद्यर्हहितालम्, इत्येतान्यर्थाः येषां तद्धितानां ते संपा''र्थाः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—सम्पदादि, अर्ह, हित, अलम् इत्येवमर्था ये तद्धितास्तदन्तान्युत्तरपदानि गुणप्रतिषेधे वर्त्तमानात् नञः पराण्यन्तोदात्तानि भवन्ति॥ *उदा०*—कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखं = कार्णवेष्टकिकम्, न कार्णवेष्टकिकम्, अकार्णवेष्टकिकम्। अर्ह—छेदमर्हति छैदिकः, न छैदिकः, अच्छैदिकः। हित—वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः, न वत्सीयः अवत्सीयः॥ अलम्—सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः, न सान्तापिकः असान्तापिकः॥

भाषार्थः—[*गुणप्रतिषेधे*] गुण के प्रतिषेध अर्थ में वर्त्तमान [*नञः*] नञ् से उत्तर [*संपाद्यर्हहितालमर्थाः*] संपादि, अर्ह, हित, अलम् अर्थ हैं जिन [*तद्धिताः*] तद्धितों के तदन्त (तद्धित प्रत्ययान्त) उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है॥ यह सूत्र भी *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) का अपवाद है॥ कार्णवेष्टकिकम् यहाँ *सम्पादिनि* (५।१।९८) से सम्पादि अर्थ में ठञ् तद्धित प्रत्यय हुआ है। उस सम्पादि गुण का प्रतिषेध नञ् से होता है, अतः गुणप्रतिषेध अर्थ में वर्त्तमान नञ् है ही। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में जिस हित आदि अर्थ में तद्धित प्रत्यय हुआ है, उसी गुण का प्रतिषेध नञ् से हो रहा है, ऐसा जानें॥ छैदिकः में *आर्हादगो०*[1] (५।१।१९) से ठक् हुआ है। वत्सीयः में *प्राक् क्रीताच्छः* (५।१।१) से छ तथा सान्तापिकः में *तस्मै प्रभवति०* (५।१।१००) से ठञ् तद्धित हुआ है। पश्चात् नञ् समास हो ही जायेगा॥

यहाँ से '*नञः*' की अनुवृत्ति ६।२।१६१ तक तथा '*गुणप्रतिषेधे तद्धिताः*' की ६।२।१५६ तक जायेगी॥

---

१. आ अर्हात् यहाँ अभिविधि में आङ् है अतः अर्ह अर्थ में भी ठक् प्रत्यय ही होता है।

ययतोश्चातदर्थे ॥६।२।१५६॥

ययतोः ६।२॥ च अ० ॥ अतदर्थे ७।१॥ स०—यश्च यत् च ययतौ तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः। तस्मै इदं तदर्थम्, चतुर्थीतत्पुरुषः न तदर्थम् अतदर्थं तस्मिन्''नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नञः गुणप्रतिषेधे तद्धिताः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—गुणप्रतिषेधे वर्त्तमानात् नञः परौ य, यत् इत्येतौ यौ तद्धितावतदर्थे वर्त्तेते तदन्तस्योत्तरपदस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—य—पाशानां समूहः पाश्या, न पाश्या अपाश्या, अतृण्या। यत्—दन्तेषु भवं दन्त्यं, न दन्त्यम् अदन्त्यम्, अकर्ण्यम्।

भाषार्थः—गुणप्रतिषेध अर्थ में जो नञ् उससे उत्तर [अतदर्थे] अतदर्थ में वर्त्तमान जो [ययतोः] य तथा यत् तद्धित प्रत्यय तदन्त उत्तरपद को [च] भी अन्त उदात्त होता है ॥ पूर्ववत् तत्पुरुषे तुल्यार्थ० का अपवाद है तथा उदाहरणों में गुणप्रतिषेधादि भी पूर्व कहे अनुसार जानें। उदाहरणों में य यत् प्रत्यय 'पाश के लिये, या दन्त के लिये' इन अर्थों में नहीं हुये हैं, अतः अतदर्थ हैं ॥ पाशादिभ्यो यः (४।२।४८) से 'य' तथा शरीरावयवाच्च (४।३।५५) से 'यत्' प्रत्यय हुआ है ॥

अच्कावशक्तौ ॥६।२।१५७॥

अच्कौ १।२॥ अशक्तौ ७।१॥ स०—अच् च कश्च अच्कौ, इतरेतरद्वन्द्वः। न शक्तिरशक्तिस्तस्याम्''नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—नञः परमच्प्रत्ययान्तं कप्रत्ययान्तं चोत्तरपदमशक्तौ गम्यमानायामन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अपचः, अजयः। कः—अविक्षिपः, अविलिखः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [अच्कौ] अच्प्रत्ययान्त तथा कप्रत्ययान्त उत्तरपद को [अशक्तौ] अशक्ति गम्यमान हो तो अन्तोदात्त होता है ॥ अपचः (जो पकाने में असमर्थ है) में पचाद्यच् हुआ है, तथा अविलिखः में इगुपधज्ञा० (३।१।१३५) से क प्रत्यय हुआ है ॥ 'नञ्' अव्यय है, अतः इस नञ् के अधिकार में सर्वत्र तत्पुरुषे तुल्यार्थ० की प्राप्ति थी, तदपवाद ये सूत्र हैं ॥

यहाँ से 'अच्कौ' की अनुवृत्ति ६।२।१५८ तक जायेगी ॥

आक्रोशे च ॥६।२।१५८॥

आक्रोशे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अच्कौ, नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञः परमच्प्रत्ययान्तं कप्रत्ययान्तञ्चोत्तरपदमाक्रोशे गम्यमानेऽन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अपचोऽयं जाल्मः, अपठोऽयं जाल्मः। कः—अविक्षिपः, अविलिखः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [*आक्रोशे*] आक्रोश गम्यमान होने पर [च] भी अच्प्रत्ययान्त तथा कप्रत्ययान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ अपचः अपठः में आक्रोश यही है, कि वह पकाने एवं पढ़ने में शक्त = समर्थ है तो भी किसी कारण से पका नहीं सकता, पढ़ नहीं सकता अतः उसकी 'अपचोऽयं जाल्मः' कहकर भर्त्सना की जा रही है। इसी प्रकार अन्यों में समझें ॥ शक्ति गम्यमान होने पर भी हो जावे अतः यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*आक्रोशे*' की अनुवृत्ति ६।२।१५९ तक जायेगी ॥

संज्ञायाम् ॥६।२।१५९॥

संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—आक्रोशे, नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञः परमाक्रोशे गम्यमाने संज्ञायां वर्त्तमानमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अदेवदत्तः, अयज्ञदत्तः, अविष्णुमित्रः ॥

भाषार्थः—नञ् से परे आक्रोश गम्यमान हो तो [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में वर्त्तमान उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ जो देवदत्त नामधारी होते हुये भी तदनुकूल कार्य नहीं करता उसके प्रति अदेवदत्तः कहकर आक्रोश प्रकट किया जाता है ॥

कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च ॥६।२।१६०॥

कृत्यो...दयः १।३॥ च अ० ॥ *स०*—चारु आदिर्येषां ते चार्वादयः, बहुव्रीहिः। कृत्यश्च उकश्च इष्णुच् च चार्वादयश्च कृत्यो...दयः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञ उत्तरे कृत्य, उक, इष्णुच् इत्येवमन्ताश्चार्वादयश्चान्तोदात्ता भवन्ति ॥ *उदा०*—कृत्य—अकर्त्तव्यम्, अकरणीयम्। उक—अनागामुकम्,

अनपलाषुकम् । इष्णुच्—अनलङ्करिष्णुः, अनिराकरिष्णुः, अनाढ्यम्भविष्णुः, असुभगम्भविष्णुः । चार्वादयः—अचारुः, असाधुः, अयौधिक अवदान्यः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [कृत्यो⋯दयः] कृत्य संज्ञक एवं उक, इष्णुच् प्रत्ययान्त तथा चार्वादि गणपठित उत्तरपद शब्दों को [च] भी अन्तोदात्त होता है ॥ *लषपतपद०* (३।२।१५४) से उकञ् (उक) प्रत्यय तथा *अलंकृञ्०* (३।२।१३६) से इष्णुच् प्रत्यय होता है । इष्णुच् से खिष्णुच् का भी ग्रहण है, जो कि *आढ्यसुभग०* (३।२।५६) से अनाढ्यम्भविष्णुः आदि में हुआ है । कृत्य से कृत्यसंज्ञक अनीयर् आदि प्रत्यय लिये गये हैं ॥

विभाषा तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु ॥६।२।१६१॥

विभाषा १।१॥ तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु ७।३॥ *स०*—तृन्नन्न० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञ उत्तरेषु तृन्नन्त, अन्न, तीक्ष्ण, शुचि इत्येतेषूत्तरपदेषु विभाषाऽन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अकर्त्ता, अकर्त्ता । अनन्नम्, अनन्नम् । अतीक्ष्णम्, अतीक्ष्णम् । अशुचिः, अशुचिः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [*तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु*] तृन् प्रत्ययान्त एवं अन्न, तीक्ष्ण तथा शुचि उत्तरपद शब्दों को [*विभाषा*] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ पक्ष में *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से अव्यय पूर्वपद को प्रकृतिस्वरत्व अर्थात् *निपाता आद्युदात्ताः* (*फिट्० ८०*) से आद्युदात्तत्व होता है ॥ अकर्त्ता में तच्छील अर्थ में तृन् प्रत्यय हुआ है ॥

बहुव्रीहाविदमेतत्तद्भ्यः प्रथमपूरणयोः क्रियागणने ॥६।२।१६२॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ इदमेतत्तद्भ्यः ५।३॥ प्रथमपूरणयोः ६।२॥ क्रियागणने ७।१॥ *स०*—इदम् च एतद् च तद् च इदमेतत्तदस्तेभ्यः⋯ इतरेतरद्वन्द्वः । प्रथमश्च पूरणश्च प्रथमपूरणे, तयोः⋯⋯इतरेतरद्वन्द्वः ।

क्रियायाः गणनं क्रियागणनम्, तस्मिन्......षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे इदम्, एतद्, तद् इत्येतेभ्य उत्तरस्य क्रियागणने वर्त्तमानस्य प्रथमशब्दस्य पूरणप्रत्ययान्तस्य च शब्दस्यान्तोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—इदं प्रथमं गमनं भोजनं वा यस्य स इदंप्रथमः । इदंद्वितीयः, इदंतृतीयः । एतत्प्रथमः । एतद्द्वितीयः एतत्तृतीयः । तत्प्रथमः । तद्द्वितीयः, तत्तृतीयः ॥

भाषार्थः—[*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में [*इदमेतत्तद्भ्यः*] इदम्, एतत्, तद् इनसे उत्तर [*क्रियागणने*] क्रिया के गणन में वर्त्तमान [*प्रथमपूरणयोः*] प्रथम तथा पूरण प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥ प्रथम शब्द का यहाँ स्वरूप से ग्रहण है, तथा पूरण से *द्वेस्तीयः*, *त्रेः संप्रसारणं च* (५।२।५५) से विहित जो पूरण अर्थ में प्रत्यय तदन्त शब्द लिये गये हैं ॥ यह उसका प्रथम गमन है अथवा द्वितीय तृतीय गमन है, यहाँ स्पष्ट क्रियागणन है ही ॥

बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था तदपवाद है । यहाँ से आगे जहाँ तक 'बहुव्रीहौ' का अधिकार है, वहाँ तक के सभी सूत्र '*बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्*' के अपवाद होंगे, ऐसा जानें ॥

यहाँ से '*बहुव्रीहौ*' की अनुवृत्ति ६।२।१७७ तक जायेगी ॥

संख्यायाः स्तनः ॥६।२।१६३॥

संख्यायाः ५।१॥ स्तनः १।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य उदात्तः ॥ *अर्थः*—संख्यायाः परः स्तनशब्दो बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—द्विस्तना, त्रिस्तना, चतुःस्तना ॥

भाषार्थः—[*संख्यायाः*] संख्या शब्द से उत्तर [*स्तनः*] स्तन शब्द को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ *उदा०*—द्विस्तना (दो स्तनों वाली) ॥

यहाँ से '*संख्यायाः स्तनः*' की अनुवृत्ति ६।२।१६४ तक जायेगी ॥

विभाषा छन्दसि ॥६।२।१६४॥

विभाषा १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—संख्यायाः स्तनः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये बहुव्रीहौ समासे संख्यायाः परः स्तनशब्दो विकल्पेनान्तोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—द्विस्तनां कुर्याद् वामदेवः। द्विस्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय चतुःस्तनां करोति पशूनां दोहाय (तै० सं० ५।१।६।४)। चतुःस्तनां करोति ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में संख्या शब्द से परे स्तन शब्द को बहुव्रीहि समास में [*विभाषा*] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ पक्ष में द्वि (फिट्० १) चतुर् (उणा० ५।५८) शब्द प्रकृतिस्वर होने से आद्युदात्त हैं ॥

संज्ञायां मित्राजिनयोः ॥६।२।१६५॥

संज्ञायाम् ७।१॥ मित्राजिनयोः ६।२॥ *स०*—मित्रा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—संज्ञायां विषये बहुव्रीहौ समासे मित्र, अजिन इत्येतयोरुत्तरपदयोरन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—देवमित्रः, ब्रह्ममित्रः। वृकाजिनः, कूलाजिनः, कृष्णाजिनः ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*मित्राजिनयोः*] मित्र तथा अजिन उत्तरपद को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ देवमित्र आदि किन्हीं की संज्ञाएँ हैं ॥

व्यवायिनोऽन्तरम् ॥६।२।१६६॥

व्यवायिनः ५।१॥ अन्तरम् १।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—व्यवायी = व्यवधाता। व्यवधातृवाचिनः परमन्तरमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति बहुव्रीहौ समासे ॥ *उदा०*—वस्त्रमन्तरं व्यवधायकं यस्य स वस्त्रान्तरः, पटान्तरः, कम्बलान्तरः ॥

भाषार्थः—[*व्यवायिनः*] व्यवधायकवाची शब्द से उत्तर [*अन्तरम्*] अन्तर उत्तरपद शब्द को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ वस्त्र तथा पट आदि शब्द व्यवधायकवाची हैं ॥ *उदा०*—वस्त्रान्तरः (वस्त्र है व्यवधायक जिसका), पटान्तरः ॥

मुखं स्वाङ्गम् ॥६।२।१६७॥

मुखम् १।१॥ स्वाङ्गम् १।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—स्वाङ्गवाचि मुखमुत्तरपदं बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तं भवति ॥ स्वमङ्गं स्वाङ्गम् ॥ उदा०—गौरमुखः, भद्रमुखः ॥

भाषार्थः—[*स्वाङ्गम्*] स्वाङ्ग (अपना अङ्ग) वाची [*मुखम्*] मुख शब्द उत्तरपद को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ उदा०—गौरमुखः (गोरे मुख वाला) ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।२।१६९ तक जायेगी ॥

नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः ॥६।२।१६८॥

न अ० ॥ अव्यय·····त्सेभ्यः ५।३॥ *स०*—दिशां शब्दाः दिक्शब्दाः, षष्ठीतत्पुरुषः । अव्यय० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मुखं स्वाङ्गम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अव्यय, दिक्शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु, वत्स इत्येतेभ्यः परं स्वाङ्गवाचि मुखमुत्तरपदं बहुव्रीहौ समासे नान्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अव्यय—उच्चैर्मुखः, नीचैर्मुखः । दिक्शब्द—प्राङ्मुखः, प्रत्यङ्मुखः । गोमुखः । महामुखः । स्थूलमुखः । मुष्टिमुखः । पृथुमुखः । वत्समुखः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*अव्यय·····त्सेभ्यः*] अव्यय, दिक्शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु, वत्स इनसे उत्तर स्वाङ्गवाची मुख शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त [न] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया, अतः *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से सर्वत्र पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होता है, जो इस प्रकार है—उच्चैः नीचैः शब्द स्वरादि गण में अन्तोदात्त निपातन पढ़े हुये हैं। प्राङ् तथा प्रत्यङ् शब्द को *अनिगन्तोऽञ्चतौ०* (६।२।५२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति थी, सो वहीं इसकी सिद्धि की है। गो की सिद्धि सूत्र ६।२।४ में तथा महत् की ६।२।३८ में देखें। स्थूल शब्द से पचाद्यच् होता है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता है। मुष धातु से क्तिच् प्रत्ययान्त मुष्टि शब्द बनता है, अतः अन्तोदात्त है। पृथु शब्द *प्रथिम्रदि०* (उणा० १।२८) से कु

प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है। वत्स शब्द *वृतृवदिवचिवसि०* (*उणा०* ३।६२) से स प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है ॥

निष्ठोपमानादन्यतरस्याम् ॥६।२।१६९॥

निष्ठोपमानात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—निष्ठा च उपमानञ्च निष्ठोपमानं, तस्मात् ''समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मुखं स्वाङ्गम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे निष्ठान्तादुपमानवाचिनश्च स्वाङ्गं मुखमुत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः प्रक्षालितमुखः। उपमानात्—सिंहमुखः, सिंहमुखः। व्याघ्रमुखः, व्याघ्रमुखः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*निष्ठोपमानात्*] निष्ठान्त तथा उपमानवाची से उत्तर स्वाङ्ग मुख शब्द उत्तरपद को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ *मुखं स्वाङ्गम्* (६।२।१६७) से नित्य अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति थी, विकल्प कह दिया, अतः पक्ष में *बहुव्रीहौ०* (६।२।१) से प्रकृतिस्वरत्व होने से *निष्ठोपसर्ग०* (६।२।११०) से पूर्वपद अन्तोदात्तत्व होगा। वहाँ पर भी विकल्प कहा है, अतः पक्ष में *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) से 'प्र' उदात्त होगा। ६।२।११० में मुख शब्द से स्वाङ्ग और अस्वाङ्ग दोनों लिये जाते हैं, अतः स्वाङ्गवाची से जब विकल्प से यह स्वर न होगा तब ६।२।११० से विकल्प से पूर्वपद प्रकृति स्वर होकर अन्तोदात्त होगा, और जो विकल्पांश बचा उसमें गतिस्वर भी हो जाता है। इस प्रकार तीन स्वर प्रक्षालितमुखः में होंगे ॥ सिंह शब्द भी पचाद्यच् प्रत्ययान्त है, अतः पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होगा। हिंस धातु का *पृषोदरादीनि०* (६।३।१०७) से वर्णविपर्यय होकर सिंह हो जावेगा। वि आङ् पूर्वक घ्रा धातु से *आतश्चोपसर्गे* (३।१।१३६) से क प्रत्यय होकर व्याघ्र शब्द बनता है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्तत्व पक्ष में होगा ॥

जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः ॥६।२।१७०॥

जातिकालसुखादिभ्यः ५।३॥ अनाच्छादनात् ५।१॥ क्तः १।१॥ अकृतमितप्रतिपन्नाः १।३॥ *स०*—सुख आदिर्येषां ते सुखादयः, बहुव्रीहिः। जातिश्च

कालश्च सुखादयश्च जाति'''दयस्तेभ्यः''' इतरेतरद्वन्द्वः । न आच्छादनमनाच्छादनं तस्मात्'''नञ्तत्पुरुषः । कृतश्च मितश्च प्रतिपन्नश्च कृतमितप्रतिपन्नाः, न कृतमितप्रतिपन्नाः अकृतमितप्रतिपन्नाः, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे आच्छादनवर्जितात् जातिवाचिनः कालवाचिनः सुखादिभ्यश्च परं क्तान्तमुत्तरपदं कृतमितप्रतिपन्नान् वर्जयित्वाऽन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—जाति—सारङ्गः (चातकः) जग्धो येन सः = सारङ्गजग्धः, पलाण्डुभक्षितः । काल—मासः जातो यस्य सः = मासजातः, संवत्सरजातः, द्व्यहजातः, त्र्यहजातः । सुखादिभ्यः—सुखं जातं यस्य स = सुखजातः, दुःखजातः, तृप्रजातः ॥

भाषार्थः—[*अनाच्छादनात्*] आच्छादनवाची शब्द को छोड़कर जो [*जातिकालसुखादिभ्यः*] जातिवाची शब्द, तथा कालवाची एवं सुखादि शब्द उनसे उत्तर [*क्तः*] क्तान्त उत्तरपद को [*अकृतमितप्रतिपन्नाः*] कृत, मित, तथा प्रतिपन्न शब्दों को छोड़कर अन्तोदात्त होता है, बहुव्रीहि समास में ॥ कृत मित आदि भी क्तान्त हैं, अतः इस सूत्र से प्राप्त था निषेध कर दिया ॥ पूर्ववत् यहाँ भी (६।२।१) पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था ॥ *सुखादि* से ३।१।१८ में पठित गण लिया जाता है ॥

यहाँ से '*जातिकालसुखादिभ्यः*' की अनुवृत्ति ६।२।१७१ तक जायेगी ॥

वा जाते ॥६।२।१७१॥

वा अ० ॥ जाते ७।१॥ *अनु०*—जातिकालसुखादिभ्यः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—जातिकालसुखादिभ्यः परं जातशब्द उत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति बहुव्रीहौ समासे ॥ *उदा०*—जाति—दन्तजातः, दन्तजातः । स्तनजातः, स्तनजातः । काल—मासजातः, मासजातः । संवत्सरजातः, संवत्सरजातः । सुखादिभ्यः—सुखजातः, सुखजातः । दुःखजातः, दुःखजातः ॥

भाषार्थः—जातिवाची, कालवाची तथा सुखादियों से उत्तर [*वा*] विकल्प से [*जाते*] जात शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है, बहुव्रीहि समास में ॥ पक्ष में पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व होगा, जो इस प्रकार होगा—दन्त

शब्द दम धातु से *हसिमृग्रिण्वामि०* (*उणा०* ३।८६) से तन् प्रत्ययान्त बना है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है। स्तन धातु चुरादिगण में अदन्त पढ़ा है, उस से घञ् प्रत्यय होकर स्तन शब्द बनता है। *अतो लोपः* (६।४।४८) से अकार लोप हो ही जायेगा। घञ् के ञित् होने से स्तनशब्द भी *ञ्नित्या०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। मास शब्द भी घञन्त है अतः आद्युदात्त है। संवत्सर शब्द *सम्पूर्वाच्चित्* (*उणा०* ३।७२) से सरन् प्रत्ययान्त है, चित्वत् माना जाने से *चितः* (६।१।१५७) से अन्तोदात्त है। सुपूर्वक खन धातु से *अन्येष्वपि दृश्यते* (३।२।१०१) से 'ड' प्रत्यय होकर, तथा डित् होने से टिभाग का लोप होकर सुख शब्द बनता है, जो कि प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। इसी प्रकार दुःख शब्द में समझें ॥

नञ्सुभ्याम् ॥६।२।१७२॥

नञ्सुभ्याम् ५।२॥ *स०*—नञ् च सुश्च, नञ्सू, ताभ्याम्''इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्यां परमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—न विद्यन्ते यवा यस्मिन् सः = अयवो देशः, अव्रीहिः, अमाषः। सुयवः, सुव्रीहिः, सुमाषः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*नञ्सुभ्याम्*] नञ् तथा सु से परे उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥

यहाँ से '*नञ्सुभ्याम्*' की अनुवृत्ति ६।२।१७४ तक जायेगी ॥

कपि पूर्वम् ॥६।२।१७३॥

कपि ७।१॥ पूर्वम् १।१॥ *अनु०*—नञ्सुभ्याम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञ्सुभ्यां कपि परतः पूर्वमन्तोदात्तं भवति बहुव्रीहौ समासे ॥ *उदा०*—अकुमारीको देशः, अब्रह्मबन्धूकः, सुकुमारीकः, सुब्रह्मबन्धूकः ॥

भाषार्थः—नञ् तथा सु से उत्तर उत्तरपद के [*कपि*] कप् के परे रहते उससे (कप् से) [*पूर्वम्*] पूर्व को उदात्त होता है ॥ *शेषाद्विभाषा* (५।४।१५४) से समासान्त कप् होता है। पूर्व सूत्र से कप् को ही अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, कप् से पूर्व को कह दिया ॥

यहाँ से '*कपि*' की अनुवृत्ति ६।२।१७४ तक जायेगी ॥

ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम् ॥६।२।१७४॥

ह्रस्वान्ते ७।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ *स०*—ह्रस्वोऽन्तो यस्य उत्तरपदस्य तद् ह्रस्वान्तम् तस्मिन्'''बहुव्रीहिः ॥ अन्ते भवम् अन्त्यम् ॥ *अनु०*—कपि, नञ्सुभ्याम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्यां परे ह्रस्वान्त उत्तरपदेऽन्त्यात्पूर्वमुदात्तं भवति कपि परतः ॥ *उदा०*—अयवको देशः, अव्रीहिकः अमाषकः । सुयवकः सुव्रीहिकः, सुमाषकः ॥

भाषार्थः—नञ् तथा सु से उत्तर बहुव्रीहि समास में [*ह्रस्वान्ते*] ह्रस्वान्त उत्तरपद में [*अन्त्यात्*] अन्त्य से [*पूर्वम्*] पूर्व को उदात्त होता है, कप् परे रहते ॥ अयवकः यहाँ यव ह्रस्वान्त शब्द उत्तरपद है, अतः उससे पूर्व 'य' को उदात्त होता है । यव शब्द से परे कप् है ही । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानें । पूर्व सूत्र से कप् से पूर्व उदात्त प्राप्त था, यहाँ ह्रस्वान्त उत्तरपद से पूर्व को कहा है ॥

बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि ॥६।२।१७५॥

बहोः ५।१॥ नञ्वत् अ०॥ उत्तरपदभूम्नि ७।१॥ *स०*—उत्तरपदस्य भूमा (बहुत्वं) उत्तरपदभूमा तस्मिन्'''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ नञ् इव नञ्वत् ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—उत्तरपदार्थस्य बहुत्वे यो बहुशब्दो वर्त्तते तस्मात् नञ्वत् स्वरो भवति ॥ *उदा०*—नञ्सुभ्यामित्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुयवो देशः, बहुव्रीहिः, बहुतिलः । कपि पूर्वमित्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुकुमारीकः, बहुब्रह्मबन्धूकः । ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वमित्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुयवको देशः, बहुव्रीहिकः, बहुमाषकः, । नञो जरमरमित्रमृता इत्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुजरः, बहुमरः, बहुमित्रः, बहुमृतः ॥

भाषार्थः—[*उत्तरपदभूम्नि*] उत्तरपदार्थ के भूम्नि = बहुत्व को कहने में वर्त्तमान जो [*बहोः*] बहु शब्द उससे [*नञ्वत्*] नञ् के समान स्वर होता है, अर्थात् *नञ्सुभ्याम्* आदि सूत्रों से नञ् से उत्तर जो भी स्वरविधान किया है, वह स्वर बहु से उत्तर भी हो जावे । *नञ्सुभ्याम्* से उत्तरपद को अन्तोदात्त कहा है, अतः वह अन्तोदात्तत्व बहु से उत्तर

भी हो जायेगा। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जान लें, ऊपर स्व दर्शा ही दिया है॥

यहाँ से 'बहोः' की अनुवृत्ति ६।२।१७६ तक जायेगी॥

न गुणादयोऽवयवाः ॥६।२।१७६॥

न अ०॥ गुणादयः १।३॥ अवयवाः १।३॥ स०—गुण आदिर्येषा ते गुणादयः, बहुव्रीहिः॥ अनु०—बहोः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य उदात्तः॥ अर्थः—बहोरुत्तरे बहुव्रीहौ समासेऽवयववाचिनो गुणाद नान्तोदात्ता भवन्ति॥ उदा०—बहुगुणा रज्जुः, बह्वक्षरं पदम्, बहुच्छन्द मानम्, बहुसूक्तः, बह्वध्यायः॥

भाषार्थः—बहु से उत्तर, बहुव्रीहि समास में [अवयवाः] अवयववा [गुणादयः] गुणादि गण पठित शब्दों को अन्तोदात्त [न] नहीं होता पूर्व सूत्र के अतिदेश से प्राप्ति थी निषेध कर दिया, अतः बहुव्रीहौ प्रकृत्या (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होता है। लङ्घिबंह्योर्नलोप (उणा० १।२९) से बहु शब्द कु प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर अन्तोदात्त है। बह्वक्षरम् एवं बह्वध्यायः यहाँ उदात्त 'उ' के स्थान जो यण् हुआ है उससे परे अनुदात्त अकार को उदात्तस्वरितयोर्यणः (८।२।४) से स्वरित होता है॥ बहुगुणा रज्जुः का अर्थ है, बहुत अवय =लड़ वाली रस्सी। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी गुणादि श अवयव अर्थों में हैं॥

उपसर्गात् स्वाङ्गं ध्रुवमपर्शु ॥६।२।१७७॥

उपसर्गात् ५।१॥ स्वाङ्गम् १।१॥ ध्रुवम् १।१॥ अपर्शु १।१॥ स०- न पर्शु अपर्शु नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य उदात्तः॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे उपसर्गादुत्तरं पर्शुवर्जितं स्वाङ्गं ध्रु मन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—सततं यस्य प्रगतं पृष्ठं भवति स प्रपृष्ठ प्रोदरः, प्रललाटः॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [उपसर्गात्] उपसर्ग से उत्तर [अपर्शु] पर्शु वर्जित [ध्रुवम्] ध्रुव [स्वाङ्गम्] स्वाङ्ग को अन्तोदात्त होता है

ध्रुव कहते हैं, एकरूपता से सदैव रहने को। पीठ उदर आदि ध्रुव स्वाङ्ग हैं। पर्शु पसली की हड्डी को कहते हैं, अतः स्वाङ्ग होने से प्राप्ति थी निषेध कर दिया ॥

यहाँ से '*उपसर्गात्*' की अनुवृत्ति ६।२।१६५ तक जायेगी।

वनं समासे ॥६।२।१७८॥

वनम् १।१॥ समासे ७।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—समासमात्र उपसर्गादुत्तरं वनमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—प्रवणे यष्टव्यम्। निर्वणे प्रणिधीयते ॥

भाषार्थः—[*समासे*] समास मात्र में उपसर्ग से उत्तर [*वनम्*] वन उत्तरपद शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ प्रकृष्टं वनं प्रवणं तस्मिन् प्रवणे, निर्गतो वनादिति निर्वणं तस्मिन् निर्वणे यहाँ *प्रनिरन्तःशरे०* (८।४।५) से णत्व होता है ॥ 'प्रकृष्टं वनम्' आदि व्युत्पत्ति मात्र है, प्रवण का अर्थ एक ओर नीची भूमि है। यज्ञ-वेदिका प्राक्प्रवण = पूर्वदिशा में नीची बनाने का विधान है। इसी प्रकार 'निर्वण' का अर्थ है चारों ओर सम भूमि ॥

यहाँ से '*वनम्*' की अनुवृत्ति ६।२।१७६ तक जायेगी ॥

अन्तः ॥६।२।१७९॥

अन्तः अ० ॥ *अनु०*—वनम्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अन्तश्शब्दादुत्तरं वनमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अन्तर् वनं यस्मिन् अन्तर्वणो देशः ॥

भाषार्थः—[*अन्तः*] अन्तर् शब्द से उत्तर वन शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ 'अन्तर्' अव्यय शब्द स्वरादिगण (१।१।३६) में पढ़ा है ॥ पूर्ववत् *प्रनिरन्तः शरे०* (८।४।५) से यहाँ भी णत्व जानें ॥ जिस देश के मध्य में वन हो वह देश अन्तर्वण कहाता है, यहाँ बहुव्रीहि समास है ॥

अन्तश्च ॥६।२।१८०॥

अन्तः १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य उदात्तः ॥ *अर्थः*—उपसर्गात् परश्चान्तशब्दोऽन्तोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—प्रान्तः, पर्यन्तः ॥

भाषार्थः—उपसर्ग से उत्तर [*अन्तः*] अन्त शब्द को [*च*] भी अन्तोदात्त होता है। उदाहरणों में बहुव्रीहि अथवा प्रादि समास भी हो सकता है॥

यहाँ से '*अन्तः*' की अनुवृत्ति ६।२।१८१ तक जायेगी॥

न निविभ्याम् ॥६।२।१८१॥

न अ०॥ निविभ्याम् ५।२॥ *स०*—निवि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अन्तः, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—नि, वि इत्येताभ्यामुपसर्गाभ्यां परोऽन्तशब्दो नान्तोदात्तो भवति॥ पूर्वेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते॥ *उदा०*—न्य॑न्तः, व्य॑न्तः॥

भाषार्थः—[*निविभ्याम्*] नि तथा वि उपसर्ग से उत्तर अन्त शब्द को अन्तोदात्त [*न*] नहीं होता॥ उपसर्ग से उत्तर कहने से पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया॥ *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व होकर नि, वि *उपसर्गाश्चा०* (*फिट्० ८०*) से आद्युदात्त हैं, पश्चात् यणादेश करने पर *उदात्तस्वरि०* (८।२।४) से 'अ' को स्वरितत्व हो जायेगा। जब न्यन्तः, व्यन्तः में प्रादि तत्पुरुष समास मानें तब भी *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होकर यही स्वर रहेगा॥

परेरभितोभावि मण्डलम् ॥६।२।१८२॥

परेः ५।१॥ अभितोभावि १।१॥ मण्डलम् १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अभितः = उभयतो भावो = भवनमस्यास्तीति = अभितोभावि, मत्वर्थे इनिप्रत्ययः॥ *अर्थः*—परेरुपसर्गादुत्तरमभितोभाविवचनं मण्डलञ्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—अभितोभावि—परिकूलम्, परितीरम्। मण्डलम्—परिमण्डलम्॥

भाषार्थः—[*परेः*] परि उपसर्ग से उत्तर [*अभितोभावि*] अभितोभाविवाची तथा [*मण्डलम्*] मण्डल शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ अभितोभावि अर्थात् दोनों ओर से भावि = होना जिसका स्वभाव है, इस अर्थ को कथन करने वाले शब्द को अन्तोदात्त होता है। यथा कूल, तीर शब्द दोनों ओर होने के स्वभाव वाले होते हैं, अर्थात् दोनों ओर

ही होते हैं। मण्डल शब्द अभितोभाविवचन नहीं है, अतः पृथक् कह दिया॥ उदाहरणों में बहुव्रीहि या तत्पुरुष मानने पर पूर्ववत् पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था तदपवाद है। यदि अव्ययीभाव समास मानें तो भी *परिप्रत्युपापा०* (६।२।३३) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति में यह विधान है॥ अभितोभावि में नपुंसकलिङ्ग निर्देश है॥

प्रादस्वाङ्गं संज्ञायाम् ॥६।२।१८३॥

प्रात् ५।१॥ अस्वाङ्गम् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—अस्वा० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—प्रादुत्तरमस्वाङ्गवाच्युत्तरपदमन्तोदात्तं भवति संज्ञायां विषये॥ *उदा०*—प्रकोष्ठम्, प्रगृहम्, प्रद्वारम्॥

भाषार्थः—[*प्रात्*] प्र उपसर्ग से उत्तर [*अस्वाङ्गम्*] अस्वाङ्गवाची उत्तरपद को [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में अन्तोदात्त होता है॥ *उदा०*—प्रकोष्ठम् (कमरा), प्रगृहम् (घर के पीछे का खुला स्थान), प्रद्वारम् (घर के सामने का स्थान)॥

निरुदकादीनि च ॥६।२।१८४॥

निरुदकादीनि १।३॥ च अ०॥ *स०*—निरुदक आदिर्येषाम् तानि······बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—निरुदकादीनि च शब्दरूपाण्यन्तोदात्तानि भवन्ति॥ *उदा०*—निष्क्रान्त-मुदकमस्मात् निष्क्रान्तमुदकादिति वा = निरुदकम्, निरुपलम्॥

भाषार्थः—[*निरुदकादीनि*] निरुदकादि गण पठित शब्दों को [*च*] भी अन्तोदात्त होता है॥ उदाहरणों में बहुव्रीहि समास अथवा (प्रादि) तत्पुरुष समास है, अतः पूर्ववत् प्रकृतिस्वर की प्राप्ति थी, तदपवाद है॥

अभेर्मुखम् ॥६।२।१८५॥

अभेः ५।१॥ मुखम् १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य उदात्तः॥ *अर्थः*—अभेरुत्तरं मुखमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—अभिमुखः॥

भाषार्थः—[*अभेः*] अभि उपसर्ग से उत्तर [*मुखम्*] मुख उत्तरपद स्थित शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ पूर्ववत् प्रादि अथवा बहुव्रीहि

समास अभिमुख (सामने) शब्द में जानें ॥ *उपसर्गात् स्वाङ्ग०* (६।२।१७६) से ही सिद्ध था पुनर्वचन बहुव्रीहि से भिन्न समास, स्वाङ्गवाची मुख शब्द जहां न हो, यथा-अभिमुखा शाला, तथा अध्रुव अर्थ के लिए है ॥

यहाँ से '*मुखम्*' की अनुवृत्ति ६।२।१८६ तक जायेगी ॥

अपाच्च ॥६।२।१८६॥

अपात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—मुखम्, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अपाच्चोत्तरं मुखमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अपगतं मुखमस्मात् अपगतं मुखादिति वा = अपमुखः। अपमुखम् ॥

भाषार्थः—[*अपात्*] अप उपसर्ग से उत्तर [च] भी मुख उत्तरपद शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ पूर्ववत् बहुव्रीहि एवं प्रादि तत्पुरुष समास अपमुखः में जानें। अव्ययीभाव समास भी अप मुखात् = अपमुखम् यहाँ *अपपरिबहिरञ्चवः०* (२।१।११) से हो सकता है, इस पक्ष में भी *परिप्रत्युपापा०* (६।२।३३) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था तदपवाद यह होगा ॥

यहाँ से '*अपात्*' की अनुवृत्ति ६।२।१८७ तक जायेगी ॥

स्फिगपूतवीणाञ्जोऽध्वकुक्षिसीरनामनाम च ॥६।२।१८७॥

स्फिगपूत·····नाम १।१॥ च अ० ॥ *स०*—सीरस्य नाम सीरनाम षष्ठीतत्पुरुषः। स्फिगश्च पूतश्च वीणा च अञ्जस् च अध्वा च कुक्षिश्च सीरनाम च नाम च स्फिग·····नाम, समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अपात्, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अपादुत्तराणि स्फिग, पूत, वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि इत्येतानि सीरनामानि नामन् शब्दश्चोत्तरपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—अपस्फिगम्, अपपूतम्, अपवीणम्, अपाञ्जः, अपाध्वा, अपकुक्षिः, अपसीरः, अपहलम्, अपलाङ्गलम्, अपनाम ॥

भाषार्थः—अप उपसर्ग से उत्तर [*स्फिग·····नाम*] स्फिग, पूत, वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि तथा सीरनाम = हल के वाची शब्दों को एवं नाम

शब्द को [च] भी अन्तोदात्त होता है ॥ सीर हल को कहते हैं ॥ पूर्ववत् तत्पुरुष बहुव्रीहि या अव्ययीभाव समास उदाहरणों में जानें ॥ अपाध्वा में जब उपसर्गादध्वनः (५।४।८५) से समासान्त अच् प्रत्यय नहीं होगा, तब इस सूत्र का उदाहरण बनेगा, अन्यथा अच् प्रत्यय के चित् होने से चित्स्वर से ही अन्तोदात्तत्व हो जाता। समासान्त प्रत्यय इसी ज्ञापक से विकल्प से होते हैं ॥

अधेरुपरिस्थम् ॥६।२।१८८॥

अधेः ५।१॥ उपरिस्थम् १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ उपरि तिष्ठतीति उपरिस्थः ॥ *अर्थः*—अधेरुत्तरमुपरिस्थवाचि शब्दरूपमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अधिदन्तः, अधिकर्णः, अधिकेशः ॥

भाषार्थ—[अधेः] अधि उपसर्ग से उत्तर [उपरिस्थम्] उपरिस्थवाची उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ ऊपर बैठने वाला उपरिस्थ कहाता है, जैसे दाँत के ऊपर जो दाँत निकल आता है उसे अधिदन्त कहते हैं क्योंकि वह उपरिस्थ है। इसी प्रकार कान के ऊपर जो निकला हुआ कान वह अधिकर्ण, एवं केश के ऊपर जो केश (अर्थात् एक रोम से निकले दो केशों में एक) अधिकेश कहाता है ॥

अनोरप्रधानकनीयसी ॥६।२।१८९॥

अनोः ५।१॥ अप्रधानकनीयसी १।२॥ *स०*—अप्रधानञ्च कनीयश्च अप्रधानकनीयसी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अनोः परमप्रधानवाच्युत्तरपदं कनीयशब्दश्चान्तोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अनुगतो ज्येष्ठमनुज्येष्ठः, अनुमध्यमः। कनीयस्—अनुगतः कनीयाननुकनीयान् ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु उपसर्ग से उत्तर [अप्रधानकनीयसी] अप्रधानवाची उत्तरपद को तथा कनीयस् शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ अनुज्येष्ठः (ज्येष्ठ के पीछे चलने वाला) यहाँ उत्तरपद ज्येष्ठ शब्द समासार्थ में अप्रधान है, तथा उसके पीछे चलनेवाला पूर्वपद जो 'अनुगत' शब्द वह प्रधान है, अतः यहाँ अप्रधानवाची उत्तरपद है। इसी प्रकार

अनुमध्यमः में जानें। अनुकनीयान् = (पीछे चलने वाला छोटा भाई) यहाँ उत्तरपद कनीयान् प्रधान है, अप्रधान नहीं, अतः कनीयान् का पृथक् ग्रहण किया है॥ जहाँ कनीयान् अप्रधान होगा तब विग्रह होगा अनुगतः कनीयांसम् अनुकनीयान्। इसमें अप्रधानवाची मानकर इस सूत्र से अन्तोदात्त होगा॥

यहाँ से '*अनोः*' की अनुवृत्ति ६।२।१९० तक जायेगी॥

पुरुषश्चान्वादिष्टः ॥६।२।१९०॥

पुरुषः १।१॥ च अ० ॥ अन्वादिष्टः १।१॥ *अनु०*—अनोः, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अनु = पश्चात् आदिष्टः, अन्वादिष्टः, कथितानुकथितः, अन्वाचितोऽप्रधानशिष्टो वा॥ *अर्थः*—अनोः परोऽन्वादिष्टवाची पुरुषशब्दोऽन्तोदात्तो भवति॥ *उदा०*—अन्वादिष्टः पुरुषः अनुपुरुषः॥

भाषार्थः—अनु उपसर्ग से उत्तर [*अन्वादिष्टः*] अन्वादिष्टवाची [*पुरुषः*] पुरुष शब्द को [*च*] भी अन्तोदात्त होता है॥ कथन करने के पश्चात् कुछ और कहा जाये, अथवा उस कथन में गौण कथन हो उसे अन्वादिष्ट कहते हैं, यथा किसी ने कहा कि 'तुम भिक्षा भी करो गौ भी लाओ' यहाँ गौ का लाना पश्चात् कथन अथवा गौण कथन होने से अन्वादिष्ट है॥

अतेरकृत्पदे ॥६।२।१९१॥

अतेः ५।१॥ अकृत्पदे १।२॥ *स०*—न कृत् अकृत्, नञ्तत्पुरुषः। अकृत् च पदञ्च अकृत्पदे, इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—अतेः परमकृदन्तं पदशब्दश्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—अङ्कुशमतिक्रान्तः = अत्यङ्कुशो नागः, अतिकशोऽश्वः। पदशब्दः—अतिपदा शक्वरी॥

भाषार्थः—[*अतेः*] अति उपसर्ग से उत्तर [*अकृत्पदे*] अकृदन्त तथा पद शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ उदाहरणों में क्रान्तादि अर्थों में तत्पुरुष समास हुआ है॥

नेरनिधाने ॥६।२।१९२॥

नेः ५।१॥ अनिधाने ७।१॥ स०—न निधानमनिधानम्, तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नेः परमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवत्यनिधानेऽर्थे ॥ निधानमप्रकाशता, तदभावोऽनिधानं प्रकाशता ॥ उदा०—निर्गतं मूलं निमूलम्, न्यक्षम्, नितृणम् ॥

भाषार्थः—[नेः] नि उपसर्ग से उत्तर उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है, [*अनिधाने*] प्रकाशन अर्थ में ॥ जिसका मूल निकला हुआ है वह निमूल कहाता है, इसी प्रकार बाहर निकले अक्ष और तृण, न्यक्ष नितृण कहाते हैं। यहाँ स्पष्ट अनिधान = प्रकाशन अर्थ है। नि उपसर्ग यहाँ अनिधान अर्थ को कहता है ॥

प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे ॥६।२।१९३॥

प्रतेः ५।१॥ अंश्वादयः १।३॥ तत्पुरुषे ७।१॥ स०—अंशु आदिर्येषां ते अंश्वादयः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—प्रतेः परास्तत्पुरुषे समासेऽश्वादयोऽन्तोदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—प्रतिगतोंऽशुः = प्रत्यंशुः, प्रतिजनः, प्रतिराजा ॥

भाषार्थः—[*प्रतेः*] प्रति उपसर्ग से उत्तर [*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में [*अंश्वादयः*] अंश्वादि गण पठित शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥

यहाँ से '*तत्पुरुषे*' की अनुवृत्ति ६।२।१९६ तक जायेगी ॥

उपाद् द्व्यजजिनमगौरादयः ॥६।२।१९४॥

उपात् ५।१॥ द्व्यजजिनम् १।१॥ अगौरादयः १।३॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच् बहुव्रीहिः। द्व्यच् च अजिनञ्च द्व्यजजिनम्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ गौर आदिर्येषां ते गौरादयः, न गौरादयोऽगौरादयः, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उपसर्गात्, अन्तः उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—उपात् परं द्व्यजजिनं च तत्पुरुषे समासेऽन्तोदात्तं भवति, गौरादीन् वर्जयित्वा ॥ उदा०—द्व्यच्—उपगतो देवम् = उपदेवः, उपसोमः, उपेन्द्रः, उपहोडः। अजिन—उपाजिनम् ॥

भाषार्थः—[*उपात्*] उप उपसर्ग से उत्तर [*द्व्यजजिनम्*] दो अच्

वाले शब्दों को तथा अजिन शब्द को तत्पुरुष समास में अन्तोदा होता है, [अगौरादयः] गौरादि शब्दों को छोड़कर ॥ गौरादि श द्व्यच् हैं, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया। उदाहरणों में *कुगतिप्रादः* (२।२।२८) से तत्पुरुष समास हुआ है ॥

सोरवक्षेपणे ॥६।२।१९५॥

सोः ५।१॥ अवक्षेपणे ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उपसर्गात्, अन्तः उत्तरपदस्य, उदात्तः, ॥ *अर्थः*—सोः परमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासेऽन्तोदात्तं भवति, अवक्षेपणे गम्यमाने ॥ *उदा०*—इह खल्विदानीं सुस्थण्डिले सुस्फिगाभ्यां सुप्रत्यवसितः ॥

भाषार्थः—[*सोः*] सु उपसर्ग से उत्तर उत्तरपद को तत्पुरुष समास में अन्तोदात्त होता है, [*अवक्षेपणे*] निन्दा गम्यमान हो तो ॥ सुस्थण्डिल आदि में *स्वती पूजायाम्* (*भा०*२।२।१८) इस वचन से सु अति का पूजा अर्थ में समास होता है, उदाहरणों में सु अच्छे अर्थ में ही है, किन्तु वाक्यार्थ से निन्दा की प्रतीति होती है, सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ है—"यहाँ अब आप अच्छी समृद्धि से अच्छे स्थान में विराजमान दूसरे देश से लौटकर बैठे हैं।" तात्पर्य यह है कि कोई कायर अनर्थ उपस्थित होने पर भी सुखपूर्वक बैठा रहे उसे इस प्रकार चिढ़ाया जा रहा है, यही यहाँ निन्दा है ॥

विभाषोत्पुच्छे ॥६।२।१९६॥

विभाषा १।१॥ उत्पुच्छे ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समास उत्पुच्छशब्दे विभाषाऽन्त उदात्तो भवति ॥ उत्क्रान्तः पुच्छात् उत्पुच्छः उत्पुच्छः। पुच्छमुदस्यति उत्पुच्छयति, उत्पुच्छयतेरच् उत्पुच्छः, अस्यामपि व्युत्पत्तौ पूर्ववत् स्वरः ॥

भाषार्थः—तत्पुरुष समास में [*उत्पुच्छे*] उत्पुच्छ शब्द को [*विभाषा*] विकल्प से अन्तोदात्तत्व होता है ॥

उदाहरणों में दो प्रकार से व्युत्पत्ति दर्शाई है, सो प्रथम व्युत्पत्ति पक्ष में तो *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* से अव्यय पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था अन्तोदात्तत्व प्राप्त नहीं था, अप्राप्त अन्तोदात्तत्व विकल्प से विधान कर

दिया। द्वितीय व्युत्पत्ति में 'उत्पुच्छय' धातु से एरच् (३।३।५६) से अच् प्रत्यय होकर उत्पुच्छः बना है, अतः *थाथघञ्०* (६।२।१४३) से नित्य अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसका विकल्प कह दिया। इस प्रकार सूत्रोक्त 'विभाषा' उभयत्र विभाषा है। पक्ष में अव्यय स्वर से 'उ' उदात्त रहेगा ही॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।२।१६८ तक जायेगी॥

द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ ॥६।२।१९७॥

द्वित्रिभ्याम् ५।२॥ पाद्दन्मूर्धसु ७।३॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ *स०*—द्वित्रि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। पाद् च दत् च मूर्धा च पाद्दन्मूर्धानः, तेषु... इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—विभाषा, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे द्वि, त्रि इत्येताभ्यां पराणि पाद्, दत्, मूर्धन् इत्येतान्युत्तरपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति विकल्पेन॥ *उदा०*—द्वौ पादावस्य द्विपात्, द्विपात्। त्रिपात्, त्रिपात्। द्विदन्, द्विदन्। त्रिदन्, त्रिदन्। द्विमूर्धा, द्विमूर्धा। त्रिमूर्धा, त्रिमूर्धा। द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः, द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः॥

भाषार्थः—[*द्वित्रिभ्याम्*] द्वि तथा त्रि से उत्तर [*पाद्दन्मूर्धसु*] पाद्, दत्, मूर्धन् इन शब्दों के उत्तरपद रहते [*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में विकल्प से अन्तोदात्त होता है॥ पाद् शब्द समासान्त अकार लोप (५।४।१३८) किया हुआ सूत्र में निर्दिष्ट है, एवं दन्त शब्द भी समासान्त दत् आदेश (५।४।१४१) किया हुआ निर्दिष्ट है। किन्तु मूर्धन् अकृतसमासान्त निर्दिष्ट है, अतः सामान्य करके मूर्धन् शब्द का दोनों प्रकार से ग्रहण है, एवं पाद् दत् समासान्त ही लिये जायेंगे। द्विमूर्धा, त्रिमूर्धा में समासान्त प्रत्यय नहीं हुआ है, एवं द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः में *द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः* (५।४।११५) से समासान्त ष प्रत्यय हुआ है। इन दोनों प्रकार के उदाहरणों में प्रकृत सूत्र से विकल्प से अन्तोदात्त होता है। पक्ष में *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होता है, अतः *फिषोऽन्त-उदात्तः* (फिट्० १) से द्वि त्रि उदात्त हैं॥

यहाँ से '*बहुव्रीहौ*' की अनुवृत्ति ६।२।१९८ तक जायेगी॥

सक्थं चाक्रान्तात् ॥६।२।१९८॥

सक्थम् १।१॥ च अ० ॥ अक्रान्तात् ५।१॥ स०—क्रशब्दोऽन्तो यस्य स क्रान्तः बहुव्रीहिः। न क्रान्तोऽक्रान्तस्तस्मात्... नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—बहुव्रीहौ, विभाषा, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—अक्रान्तात् परः सक्थशब्दोऽन्तोदात्तो भवति बहुव्रीहौ समासे विकल्पेन॥ *उदा०*—गौरसक्थः, गौरसक्थः। श्लक्ष्णसक्थः, श्लक्ष्णसक्थः॥

भाषार्थः—[*अक्रान्तात्*] क्र अन्त में नहीं है जिसके ऐसे अक्रान्त शब्द से उत्तर [*सक्थम्*] सक्थ शब्द को [च] भी विकल्प से अन्तोदात्त होता है बहुव्रीहि समास में॥ सक्थ शब्द *बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०* (५।४।११३) से समासान्त षच् प्रत्ययान्त सूत्र में निर्दिष्ट है, अतः उदाहरणों में समासान्त ही गृहीत होगा॥ गौर शब्द प्रज्ञादित्वात् (५।४।३८) अण् प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है। श्लक्ष्ण शब्द भी *श्लिषेरच्चोपधायाः (उणा० ३।१९)* से क्स्न प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है, अतः पक्ष में अन्तोदात्त रहेगा। पक्ष में पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व (६।२।१) होकर यही स्वर रहेंगे॥

यहाँ से 'सक्थम्' की अनुवृत्ति ६।२।१९९ तक जायेगी॥

परादिश्छन्दसि बहुलम् ॥६।२।१९९॥

परादिः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ स०—परस्य आदिः परादिः, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—सक्थम्, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये उत्तरपदस्य सक्थशब्दस्यादिरुदात्तो भवति बहुलम्॥ परशब्देनात्र सक्थशब्द एव गृह्यते॥ *उदा०*—अञ्जिसक्थम् आलभेत, त्वाष्ट्रौ लोमसक्थौ। बहुलवचनात् पदान्तरे समासान्तरे च भवति, ऋजुबाहुः इति बहुव्रीहिः। वाक्पतिः, चित्पतिरिति षष्ठीसमासौ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में उत्तरपद [*परादिः*] पर के = सक्थ शब्द के, आदि को [*बहुलम्*] बहुल करके अन्तोदात्त होता है॥ पर शब्द से यहाँ पूर्व सूत्र निर्दिष्ट सक्थ शब्द का ही ग्रहण है॥ बहुल कहने से यहाँ सक्थ शब्द से अन्य शब्द में भी उत्तरपद के आदि को उदात्त होता है एवं बहुव्रीहि समास में ही सक्थ शब्द को समासान्त

होता है, अतः 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति न आने पर भी बहुव्रीहि समास में ही परादि को उदात्त प्राप्त था, बहुल कहने से अन्य समासों में भी हो जाता है ॥

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

—:०:—

तृतीयः पादः

[अलुक्प्रकरणम्]

अलुगुत्तरपदे ॥६।३।१॥

अलुक् १।१॥ उत्तरपदे ७।१॥ *स०*—न लुक् अलुक् नञ्तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—अलुगिति उत्तरपद इति चेत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽलुगुत्तरपद इत्येवं तद् वेदितव्यम् ॥ *उदा०*— वक्ष्यति पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः, स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः ॥

भाषार्थः—[*अलुगुत्तरपदे*] 'अलुक्' तथा 'उत्तरपदे' इन दोनों पदों का अधिकार आगे के सूत्रों में जाता है, अतः यह अधिकार सूत्र है ॥

यहाँ से 'अलुक्' का अधिकार ६।३।२३ तक तथा 'उत्तरपदे' का ६।३।१३८ तक जायेगा ॥

पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ॥६।३।२॥

पञ्चम्याः ६।१॥ स्तोकादिभ्यः ५।३॥ *स०*—स्तोक आदिर्येषां ते स्तोकादयः, तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अलुग् उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—स्तोकादिभ्यः परस्याः पञ्चम्या अलुग् भवति उत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः, अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः, दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः, कृच्छ्रान्मुक्तः ॥

भाषार्थः—[*स्तोकादिभ्यः*] स्तोकादिओं से उत्तर [*पञ्चम्याः*] पञ्चमी विभक्ति का उत्तरपद परे रहते अलुक् अर्थात् लुक् नहीं होता है ॥

स्तोकादि से *स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि०* सूत्र में कहे हुये स्तोक अन्ति आदि शब्द ही गृहीत हैं ।। *स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन* (२।१।३८) से उदाहरणों में समास हुआ है, तथा *करणे च स्तोकाल्प०* (२।३।३३) से पञ्चमी विभक्ति होती है, जिसका समास कर लेने पर *सुपो धातु* (२।४।७१) से लुक् प्राप्त था, अलुक् कर दिया। इसी प्रकार संपूर्ण अलु प्रकरण को *सुपो धातु०* (२।४।७१) का ही अपवाद समझना चाहिये ।।

ओजःसहोम्भस्तमसस्तृतीयायाः ।।६।३।३।।

ओजःसहोम्भस्तमसः ५।१।। तृतीयायाः ६।१।। *स०*—ओजश्च सहश्च अम्भश्च तमश्च ओजःसहोम्भस्तमः, तस्मात्.......समाहारद्वन्द्वः। *अनु०*—अलुग् उत्तरपदे ।। *अर्थः*—ओजस्, सहस्, अम्भस्, तमस् इत्येतेभ्य उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग् भवति उत्तरपदे परतः ।। *उदा०*—ओजसाकृतम्, सहसाकृतम्, अम्भसाकृतम्, तमसाकृतम् ।।

भाषार्थः—[*ओजःसहोम्भस्तमसः*] ओजस्, सहस्, अम्भस् तथा तमस् शब्द से उत्तर [*तृतीयायाः*] तृतीया विभक्ति का उत्तरपद परे रहते अलुक् हो जाता है ।। पूर्ववत् लुक् की प्राप्ति में अलुक् विधान है, यह बात सर्वत्र समझते जायें ।।

यहाँ से '*तृतीयायाः*' की अनुवृत्ति ६।३।६ तक जायेगी ।।

मनसः संज्ञायाम् ।।६।३।४।।

मनसः ५।१।। संज्ञायाम् ७।१।। *अनु०*—तृतीयायाः, अलुग् उत्तरपदे ।। *अर्थः*—मनस उत्तरस्यास्तृतीयायाः संज्ञायां विषयेऽलुग् भवति ।। *उदा०*—मनसादत्ता, मनसागुप्ता, मनसासंगता ।।

भाषार्थः—[*मनसः*] मनस् शब्द से उत्तर [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में तृतीया विभक्ति का अलुक् होता है ।। मनसागुप्ता आदि किसी के नाम विशेष हैं ।।

यहाँ से '*मनसः*' की अनुवृत्ति ६।३।५ तक जायेगी ।।

आज्ञायिनि च ।।६।३।५।।

आज्ञायिनि ७।१।। च अ० ।। *अनु०*—मनसः, तृतीयायाः, अलुगुत्तरपदे ।। *अर्थः*—मनस उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग्भवति आज्ञायिन्युत्तरपदे ।। *उदा०*—मनसा आज्ञातुं शीलमस्य मनसाज्ञायी ।।

भाषार्थः—[*आज्ञायिनि*] आज्ञायी शब्द के उत्तरपद रहते [च] भी मनस् शब्द से उत्तर तृतीया का अलुक् होता है ॥ असंज्ञार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥ आङ् पूर्वक ज्ञा धातु से तच्छील अर्थ में णिनि एवं *आतो युक् चिण्कृतोः* (७।३।३३) से युक् आगम होकर आज्ञायी शब्द बनता है ॥ *उदा०*—मनसाज्ञायी (मन से जानने के स्वभाव वाला) ॥

आत्मनश्च ॥६।३।६॥

आत्मनः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अलुग्, उत्तरपदे, तृतीयायाः ॥ *अर्थः*—आत्मनश्च उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग् भवति उत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—आत्मनापञ्चमः, आत्मनाषष्ठः ॥

भाषार्थः—[*आत्मनः*] आत्मन्शब्द से परे [च] भी तृतीया का अलुक् होता है उत्तरपद परे रहते ॥ उदाहरणों में *तृतीया०* (२।१।३०) के योगविभाग से समास होता है। यह अलुक् पूरण प्रत्ययान्त उत्तरपद परे रहते ही होता है ॥

यहाँ से '*आत्मनः*' की अनुवृत्ति ६।३।७ तक जायेगी ॥

वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः परस्य च ॥६।३।७॥

वैयाकरणाख्यायाम् ७।१॥ चतुर्थ्याः ६।१॥ परस्य ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—वैयाकरणस्याख्या वैयाकरणाख्या, तस्याम्.....षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अलुगुत्तरपदे, आत्मनः ॥ *अर्थः*—यया संज्ञया वैयाकरणा एव व्यवहरन्ति तस्याम् परस्य आत्मनश्च उत्तरस्याः चतुर्थ्या अलुग्भवति ॥ *उदा०*— परस्मैपदम्, परस्मैभाषा । आत्मनेपदम्, आत्मनेभाषा ॥

भाषार्थः—जिस संज्ञा से वैयाकरण ही व्यवहार करते हैं [*वैयाकरणाख्यायाम्*] उसको कहने में जो [*परस्य*] पर शब्द तथा [च] चकार से आत्मन् शब्द से उत्तर भी [*चतुर्थ्याः*] चतुर्थी विभक्ति का अलुक् होता है ॥

हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ॥६।३।८॥

हलदन्तात् ५।१॥ सप्तम्याः ६।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—हल् च अत् च हलत्, समाहारो द्वन्द्वः । हलत् अन्ते यस्य स हलदन्तस्तस्मात्.. बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—हलन्तादन्ताच्चोत्तरस्याः

सप्तम्याः संज्ञायामलुग् भवति ॥ उदा०—युधिष्ठिरः, त्वचिसार अदन्तात्—अरण्येतिलकाः, अरण्येमाषकाः, वनेकिंशुकाः, वनेहरिद्रक वनेबल्वजकाः ॥

भाषार्थः—[*हलदन्तात्*] हलन्त तथा अकारान्त शब्द से उत्त [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*सप्तम्याः*] सप्तमी का अलुक् होता है उदाहरणों में *संज्ञायाम्* (२।१।४३) से समास होता है। युधिष्ठिर *गवियुधिभ्यां स्थिरः* (८।३।९५) से षत्व होता है। युध् त्वच् हलन्त शब्द हैं, एवं अरण्य आदि अदन्त शब्द हैं ॥

यहाँ से 'हलदन्तात्' की अनुवृत्ति ६।३।१२ तथा तथा '*सप्तम्या*' की ६।३।१९ तक जायेगी।

कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ॥६।३।८॥

कारनाम्नि ७।१॥ च अ० ॥ प्राचाम् ६।३॥ हलादौ ७।१॥ *स*०—कारस्य नाम कारनाम, तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः। हल् आदिर्यस्य स हलादिस्तस्मिन्... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—हलदन्तात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*— प्राचां देशे यत् कारनाम तत्र हलादावुत्तरपदे हलदन्तादुत्तरस्याः सप्तम्या अलुग्भवति ॥ *उदा*०—स्तूपेशाणः, दृषदिमाषकः, हलेद्विपदिका, हलेत्रिपदिका ॥

भाषार्थः—[*प्राचाम्*] प्राच्यदेशों में जो [*कारनाम्नि*] करों के नाम वाले शब्द उनमें [*च*] भी [*हलादौ*] हलादि शब्द के परे रहते हलन्त तथा अदन्त शब्दों से उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है ॥ पूर्व सूत्र से ही अलुक् सिद्ध था पुनः इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है। इस प्रकार तीन नियम यहाँ होते हैं, प्रथम—कारनाम में ही, द्वितीय— प्राच्य देश में व्यवहृत नामों में ही, तृतीय—हलादि शब्द परे रहते ही अलुक् हो ॥

स्तूपेशाणः आदि भिन्न २ करों की संज्ञायें हैं। इस विषय में 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' हिन्दी सं० पृ० ४१० देखें ॥

मध्याद् गुरौ ॥६।३।१०॥

मध्यात् ५।१॥ गुरौ ७।१॥ *अनु*०—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*— मध्यादुत्तरस्याः सप्तम्या गुरावुत्तरपदेऽलुग्भवति ॥ उदा०—मध्येगुरुः ॥

भाषार्थः—[*मध्यात्*] मध्य शब्द से उत्तर [*गुरौ*] गुरु शब्द उत्तरपद रहते सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है ॥

अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे ॥६।३।११॥

अमूर्धमस्तकात् ५।१॥ स्वाङ्गात् ५।१॥ अकामे ७।१॥ *स०*—मूर्धा च मस्तकञ्च मूर्धमस्तकम्, समाहारो द्वन्द्वः। न मूर्धमस्तकम् अमूर्धमस्तकम् तस्मात्......नञ्तत्पुरुषः। न कामोऽकामस्तस्मिन्......नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—हलदन्तात्, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ *अर्थः*—मूर्धमस्तकवर्जिताद् हलदन्तात् स्वाङ्गादुत्तरस्याः सप्तम्या अकाम उत्तरपदेऽलुग्भवति॥ *उदा०*—कण्ठेकालः, उरसिलोमा, उदरेमणिः॥

भाषार्थः—[*अमूर्धमस्तकात्*] मूर्धन् तथा मस्तक वर्जित हलन्त एवं अदन्त [*स्वाङ्गात्*] स्वाङ्गवाची शब्दों से उत्तर सप्तमी का [*अकामे*] काम भिन्न शब्द उत्तरपद रहते अलुक् होता है॥ मूर्धा एवं मस्तक स्वाङ्गवाची शब्द हैं, अतः स्वाङ्ग कहने से प्राप्त था 'अमूर्धमस्तकात्' कहकर निषेध कर दिया॥ उदाहरणों में *सप्तम्युपमानपूर्वपदस्यो०* (*वा०* २।२।२४) इस वार्त्तिक से बहुव्रीहि समास हुआ है॥

बन्धे च विभाषा ॥६।३।१२॥

बन्धे ७।१॥ च अ०॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—हलदन्तात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ *अर्थः*—बन्धशब्द उत्तरपदे हलदन्तादुत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽलुग् भवति॥ *उदा०*—हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः। चक्रेबन्धः, चक्रबन्धः॥

भाषार्थः—[*बन्धे*] बन्ध शब्द उत्तरपद रहते [*च*] भी हलन्त तथा अदन्त शब्द से उत्तर सप्तमी का [*विभाषा*] विकल्प करके अलुक् होता है॥ बहुव्रीहि समास में पूर्व सूत्र से नित्य अलुक् प्राप्त था, तथा तत्पुरुष में *नेन्सिद्धबध्नातिषु* च (६।३।१८) से निषेध प्राप्त था, उभयत्र विकल्प कह दिया है॥

तत्पुरुषे कृति बहुलम् ॥६।३।१३॥

तत्पुरुषे ७।१॥ कृति ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समासे कृदन्त उत्तरपदे बहुलं सप्तम्या अलुग्-

भवति ।। *उदा०*—स्तम्बेरमः, कर्णेजपः । बहुलवचनादिह न भवति कुरुचरः, मद्रचरः ।।

भाषार्थः—[*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में [*कृति*] कृदन्त उत्तर रहते [*बहुलम्*] बहुल करके सप्तमी का अलुक् होता है ।। *स्तम्बकर्णयो* (३।२।१३) से स्तम्बेरमः कर्णेजपः में अच् प्रत्यय हुआ है, तथा कुरुच मद्रचरः में चरेष्टः (३।२।१६) से ट प्रत्यय हुआ है । *उपपदमति* (२।२।१९) से तत्पुरुष समास होगा ।।

प्रावृट्शरत्कालदिवां जे ।।६।३।१४।।

प्रावृट्शरत्कालदिवाम् ६।३।। जे ७।१।। *स०*—प्रावृट्० इत्यत्रेतरेतर द्वन्द्वः ।। *अनु०*—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। *अर्थः*—प्रावृट्, शरत्, काल दिव् इत्येतेषां सप्तम्याः ज उत्तरपदेऽलुग्भवति ।। *उदा०*—प्रावृषिजः शरदिजः, कालेजः, दिविजः ।।

भाषार्थः—[*प्रावृट्शरत्कालदिवाम्*] प्रावृट्, शरत्, काल, दिव् इन शब्दों की सप्तमी का [*जे*] ज उत्तरपद रहते अलुक् होता है ।। पूर्वसूत्र का ही विस्तार इस सूत्र में है ।। उदाहरणों में *सप्तम्यां जनेर्डः* (३।२।९७) से ड प्रत्यय हुआ है ।।

यहाँ से 'जे' की अनुवृत्ति ६।३।१५ तक जायेगी ।।

विभाषा वर्षक्षरशरवरात् ।।६।३।१५।।

विभाषा १।१।। वर्षक्षरशरवरात् ५।१।। *स०*—वर्ष० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ।। *अनु०*—जे, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। *अर्थः*—वर्ष, क्षर, शर, वर इत्येतेभ्य उत्तरस्याः सप्तम्या ज उत्तरपदे विभाषाऽलुग्भवति ।। *उदा०*-वर्षेजः, वर्षजः । क्षरेजः, क्षरजः । शरेजः, शरजः । वरेजः, वरजः ।।

भाषार्थः—[*वर्षक्षरशरवरात्*] वर्ष, क्षर, शर, वर इन शब्दों से उत्तर सप्तमी का ज [illegible] रहते [*विभाषा*] विकल्प से अलुक् होता है ।।

[illegible] से नित्य अलुक् प्राप्त था विकल्प कह दिया ।।

[illegible] में जानें ।।

[illegible]नुवृत्ति ६।३।१७ तक जायेगी ।।

घकालतनेषु कालनाम्नः ॥६।३।१६॥

घकालतनेषु ७।३॥ कालनाम्नः ५।१॥ *स०*—घ काल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। कालस्य नाम कालनाम तस्मात्...षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—विभाषा, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ *अर्थः*—कालनाम्न उत्तरस्याः सप्तम्याः घसंज्ञके प्रत्यये कालशब्दे तनप्रत्यये च परतो विभाषाऽलुग्भवति॥ *उदा०*—घ—पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे, पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे। काल—पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले। तन—पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने॥

भाषार्थः—[*कालनाम्नः*] काल के नामवाची शब्दों से उत्तर सप्तमी का [*घकालतनेषु*] घसंज्ञक प्रत्यय, काल शब्द तथा तन प्रत्यय के उत्तरपद रहते विकल्प करके अलुक् होता है॥ तरप् तमप् घसंज्ञक (१।१।२१) प्रत्यय हैं, तथा तन से तुट् आगम सहित ट्यु ट्युल् प्रत्यय (४।३।२३) लिये गये हैं। अह्नः पूर्वं पूर्वाह्णः यहाँ *पूर्वापरा०* (२।२।१) से समास तथा *राजाहःसखि०* (५।४।९१) से समासान्त टच् प्रत्यय, तथा *अह्नोऽह्न एतेभ्यः* (५।४।८८) से अह्न आदेश एवं *अह्नोऽदन्तात्* (८।४।७) से णत्व हुआ है। पश्चात् अनयोरेषु चातिशयेन पूर्वाह्णे पूर्वाह्णेतरे (७।१) तथा पूर्वाह्णेतमे (७।१) तरप् तमप् प्रत्यय होकर बनेंगे॥ तरप् तमप् स्वार्थिक प्रत्यय हैं, अतः प्रातिपदिकगत सप्तम्यर्थ दर्शाने के लिये तरप् तमप् प्रत्ययान्त से सप्तमी का उदाहरण दिया है। काल शब्द के साथ समानाधिकरण समास होने से वहां भी सप्तम्यन्त का उदाहरण युक्त है। तन प्रत्ययान्त में सप्तम्यन्त निर्देश साहचर्य से है॥

शयवासवासिष्वकालात् ॥६।३।१७॥

शयवासवासिषु ७।३॥ अकालात् ५।१॥ *स०*—शयश्च वासश्च वासी च शयवासवासिनस्तेषु...इतरेतरद्वन्द्वः। अकालादित्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—विभाषा, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ *अर्थः*—शय, वास, वासिन् इत्येतेषूत्तरपदेष्वकालवाचिन उत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽलुग्भवति॥ *उदा०*—खेशयः, खशयः। ग्रामेवासः, ग्रामवासः। ग्रामेवासी, ग्रामवासी॥

भाषार्थः—[*शयवासवासिषु*] शय, वास तथा वासिन् शब्दों के उत्तरपद रहते [*अकालात्*] कालवाचियों से भिन्न शब्दों से उत्तर सप्तमी का

विकल्प से अलुक् होता है ।। *अधिकरणे शेतेः* (३।२।१५) से खेशयः में अच् प्रत्यय हुआ है ।।

नेन्सिद्धबध्नातिषु च ।।६।३।१८।।

न अ०।। इन्सिद्धबध्नातिषु ७।३।। च अ०।। *स०*—इन् च सिद्धश्च बध्नातिश्च इन्सिद्धबध्नातयस्तेषु इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। *अर्थः*—इन्नन्त उत्तरपदे सिद्धशब्दे बध्नातौ च परतः सप्तम्या अलुग् न भवति ।। *उदा०*—इन्—स्थण्डिलशायी, स्थण्डिलवर्त्ती । सिद्ध—सांकाश्यसिद्धः, काम्पिल्यसिद्धः । बध्नाति—चक्रबद्धः, चारबद्धः ।।

भाषार्थः—[*इन्सिद्धबध्नातिषु*] इन्नन्त, सिद्ध तथा बध्नाति उत्तरपद रहते [*च*] भी सप्तमी का अलुक् [*न*] नहीं होता ।। *तत्पुरुषे कृति०* (६।३।१३) से प्राप्त था निषेध कर दिया ।। बध्नाति से बन्ध (क्रया०) धातु से निष्पन्न रूप लिये जायेंगे । उदाहरण में 'बद्धः' निष्ठान्त है, अतः *अनिदितां०* (६।४।२४) से नकार लोप हो ही जायेगा ।।

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ६।३।१९ तक जायेगी ।।

स्थे च भाषायाम् ।।६।३।१९।।

स्थे ७।१।। च अ० ।। भाषायाम् ७।१।। *अनु०*—न, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। *अर्थः*—स्थे चोत्तरपदे भाषायां सप्तम्या अलुग् न भवति ।। *उदा०*—समस्थः, विषमस्थः, कूटस्थः, पर्वतस्थः ।।

भाषार्थः—[*स्थे*] स्थ शब्द के उत्तरपद रहते [*च*] भी [*भाषायाम्*] भाषा विषय में सप्तमी का अलुक् नहीं होता है ।। पूर्ववत् प्राप्ति थी निषेध कर दिया ।।

षष्ठ्या आक्रोशे ।।६।३।२०।।

षष्ठ्याः ६।१।। आक्रोशे ७।१।। *अनु०*—अलुगुत्तरपदे ।। *अर्थः*—आक्रोशे गम्यमाने उत्तरपदे परतः षष्ठ्या अलुग् भवति ।। *उदा०*—चौरस्यकुलम्, वृषलस्यकुलम् ।।

भाषार्थः—[*आक्रोशे*] आक्रोश गम्यमान होने पर उत्तरपद परे रहते [*षष्ठ्याः*] षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है ।। चौरस्यकुलम् = यह चोर का कुल है, ऐसा कहकर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है ।।

यहाँ से '*षष्ठ्याः*' की अनुवृत्ति ६।३।२३ तक तथा '*आक्रोशे*' की ६।३।२१ तक जायेगी ॥

पुत्रेऽन्यतरस्याम् ॥६।३।२१॥

पुत्रे ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—षष्ठ्या आक्रोशे, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पुत्रशब्द उत्तरपद आक्रोशे गम्यमाने विकल्पेन षष्ठ्या अलुग् भवति ॥ *उदा०*—दास्याःपुत्रः, दासीपुत्रः । वृषल्याःपुत्रः, वृषलीपुत्रः ॥

भाषार्थः—[*पुत्रे*] पुत्र शब्द उत्तरपद रहते आक्रोश गम्यमान होने पर [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके षष्ठी का अलुक् होता है ॥ 'दासी का पुत्र है' ऐसा कहकर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है ॥

ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः ॥६।३।२२॥

ऋतः ५।१॥ विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः ५।३॥ *स०*—विद्या च योनिश्च विद्यायोनी, इतरेतरद्वन्द्वः । विद्यायोनिकृतः सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनिसम्बन्धास्तेभ्यः'''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—षष्ठ्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—विद्यासंबन्धवाचिभ्यो योनिसंबन्धवाचिभ्यश्च ऋकारान्तेभ्य उत्तरस्याः षष्ठ्या अलुग् भवति ॥ *उदा०*—विद्यासम्बन्धवाचिभ्यः—होतुरन्तेवासी पितुरन्तेवासी । योनिसंबन्धवाचिभ्यः—होतुःपुत्रः, पितुःपुत्रः ॥

भाषार्थः—[*विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः*] विद्यासंबन्धवाची अर्थात् विद्याकृत संबन्ध है जिनका एवं योनिकृत संबन्ध है जिनका तद्वाची [*ऋतः*] ऋकारान्त शब्दों से उत्तर षष्ठी का उत्तरपद परे रहते अलुक् होता है ॥ 'होता का शिष्य' यहाँ होता से शिष्य का विद्याकृत संबन्ध है तथा 'होता का पुत्र' यहाँ योनिकृत संबन्ध है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानें ॥

यहाँ से '*ऋतः*' की अनुवृत्ति ६।३।२३ तक तथा '*विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः*' की ६।३।२४ तक जायेगी ॥

विभाषा स्वसृपत्योः ॥६।३।२३॥

विभाषा १।१॥ स्वसृपत्योः ७।२॥ *स०*—स्वसा च पतिश्च स्वसृपती तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः, षष्ठ्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—स्वसृ पति इत्येतयोरुत्तरपदयोः विद्यायोनिसंब-

न्धवाचिभ्य ऋकारान्तेभ्य उत्तरस्याः षष्ठ्या विकल्पेनालुग् भवति ॥ उदा०—मातुःष्वसा, मातुःस्वसा, मातृष्वसा। पितुःष्वसाः, पितुःस्वसा, पितृष्वसा। दुहितुःपतिः, दुहितृपतिः। ननान्दुःपतिः, ननान्दृपतिः ॥

भाषार्थः—[*स्वसृपत्योः*] स्वसृ तथा पति शब्द के उत्तरपद रहते विद्या तथा योनिसंबन्धवाची ऋकारान्त शब्दों से उत्तर षष्ठी का [*विभाषा*] विकल्प से अलुक् होता है ॥ मातुःष्वसा, मातुःस्वसा आदि में विकल्प से षत्व *मातुःपितुर्भ्यां०* (८।३।८५) से होता है, तथा मातृष्वसा पितृष्वसा में नित्य षत्व *मातृपितृभ्यां०* (८।३।८४) से हुआ है ॥ स्वसृ तथा पति शब्द के उत्तरपद रहते विद्यासंबन्धवाची उदाहरण संभव ही नहीं, अतः केवल योनिसंबन्धवाची के उदाहरण दिये गये हैं ॥

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ॥६।३।२४॥

आनङ् १।१॥ ऋतः ६।१॥ द्वन्द्वे ७।१॥ *अनु०*—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तानां विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्र पूर्वपदस्यानङ् आदेशो भवत्युत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—विद्यासम्बन्धवाचिभ्यः—होतापोतारौ, नेष्टोद्गातारौ, प्रशास्ताप्रतिहर्त्तारौ। योनिसम्बन्धेभ्यः—मातापितरौ, याताननान्दरौ ॥

भाषार्थः—[*ऋतः*] ऋकारान्त विद्या तथा योनि सम्बन्धवाची शब्दों के [*द्वन्द्वे*] द्वन्द्व समास में उत्तरपद परे रहते [*आनङ्*] आनङ् आदेश होता है ॥ होतापोतारौ यहाँ पूर्वपद होतृ के अन्त्य अल् (१।१।५१) 'ऋ' के स्थान में आनङ् होकर 'होत् आनङ् पोतृ औ = होतान् पोतारौ' रहा। *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप होकर होतापोतारौ बन गया। पोतृ को 'औ' परे रहते *ऋतो ङिसर्व०* (७।३।११०) से गुण, रपरत्व तथा *अप्तृन्तृच्०* (६।४।११) से दीर्घ हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*आनङ्*' की अनुवृत्ति ६।३।२५ तक जायेगी ॥

देवताद्वन्द्वे च ॥६।३।२५॥

देवताद्वन्द्वे ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—देवतानां द्वन्द्वः देवताद्वन्द्वस्तस्मिन्……षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आनङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—देवतावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्रोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङादेशो भवति ॥

इन्द्रासोमौ, इन्द्राबृहस्पती ॥

भाषार्थः—[*देवताद्वन्द्वे*] देवतावाची शब्दों के द्वन्द्व समास में [*च*] भी उत्तरपद परे रहते पूर्वपद को आनङ् आदेश होता है ॥ सिद्धि पूर्ववत् जानें ॥ इन्द्र वरुणादि शब्द देवतावाची हैं ॥

यहाँ से '*देवताद्वन्द्वे*' की अनुवृत्ति ६।३।३० तक जायेगी ॥

ईदग्नेः सोमवरुणयोः ॥६।३।२६॥

ईत् १।१॥ अग्नेः ६।१॥ सोमवरुणयोः ७।२॥ *स०*—सोम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—देवताद्वन्द्वे सोम वरुण इत्येतयोरुत्तरपदयोरग्नेरीकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अग्नीषोमौ, अग्नीवरुणौ ॥

भाषार्थः—देवतावाची द्वन्द्व समास में [*सोमवरुणयोः*] सोम तथा वरुण शब्द उत्तरपद रहते [*अग्नेः*] अग्नि शब्द को [*ईत्*] ईकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को ईकारादेश होता है ॥ *अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः* (८।३।८२) से अग्नीषोमौ में षत्व होता है ॥

यहाँ से '*अग्नेः*' की अनुवृत्ति ६।३।२७ तक जायेगी ॥

इद् वृद्धौ ॥६।३।२७॥

इत् १।१॥ वृद्धौ ७।१॥ *अनु०*—अग्नेः, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—देवताद्वन्द्वे कृतवृद्धावुत्तरपदेऽग्नेरिकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—आग्निवारुणीम् अनड्वाहीमालभेत । आग्निमारुतं कर्म क्रियते ॥

भाषार्थः—देवताद्वन्द्व में [*वृद्धौ*] वृद्धि किया हुआ शब्द उत्तरपद में हो तो अग्नि शब्द को [*इत्*] इकारादेश होता है ॥ वृद्धि से यहाँ वृद्धि किया हुआ शब्द लिया गया है ॥ अग्नीवरुणौ देवते अस्य ऐसा विग्रह करके *सास्य देवता* (४।२।२३) से अण् प्रत्यय होकर आग्निवारुणीम् बना है । *देवताद्वन्द्वे* च (७।३।२१) से यहाँ उभयपदवृद्धि होती है । ङीप् प्रत्यय *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से हो ही जायेगा । ईदग्नेः० (६।३।२६) से ईत्व प्राप्त था, तदपवाद है । इसी प्रकार आग्निमारुतम् में जानें ॥ यहाँ ६।३।२५ से आनङ् प्राप्त था, तदपवाद है ॥

दिवो द्यावा ॥६।३।२८॥

दिवः ६।१॥ द्यावा १।१॥ *अनु०*—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—

देवताद्वन्द्व उत्तरपदे परतो दिव् इत्येतस्य द्यावा इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—द्यावाक्षामा, द्यावाभूमी ॥

भाषार्थः—देवताद्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते पूर्वपद [*दिवः*] दिव् शब्द को [*द्यावा*] द्यावा आदेश होता है ॥ *अनेकाल्शित्*० (१।१।५४) से सम्पूर्ण दिव् के स्थान में 'द्यावा' आदेश होगा ॥

यहाँ से '*दिवो द्यावा*' की अनुवृत्ति ६।३।२९ तक जायेगी ॥

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥६।३।२९॥

दिवसः १।१॥ च अ०॥ पृथिव्याम् ७।१॥ *अनु*०—दिवो द्यावा, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पृथिव्यामुत्तरपदे देवताद्वन्द्वे दिवो दिवस् इत्ययमादेशो भवति, चकाराद् द्यावा च ॥ *उदा*०—दिवस्पृथिव्यौ, द्यावापृथिव्यौ ॥

भाषार्थः—[*पृथिव्याम्*] पृथिवी शब्द उत्तरपद रहते देवताद्वन्द्व में दिव् शब्द को [*दिवसः*] दिवस् आदेश होता है [*च*] तथा चकार से द्यावा आदेश भी हो जाता है। पूर्ववत् आनङ् प्राप्त था तदपवाद है। 'दिवस' के 'स' में अकार निर्देश, सकार के रुत्वादि विकारों के अभावार्थ है ॥

उषासोषसः ॥६।३।३०॥

उषासा १।१॥ उषसः ६।१॥ *अनु*०—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उषस् शब्दस्य उषासा इत्ययमादेशो भवति, देवताद्वन्द्व उत्तरपदे ॥ *उदा*०—उषाश्च सूर्यश्च = उषासासूर्यम्, उषासानक्ता ॥

भाषार्थः—देवताद्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते [*उषसः*] उषस् शब्द को [*उषासा*] उषासा आदेश होता है ॥ यह भी आनङ् (६।३।२५) का अपवाद सूत्र है ॥

मातरपितरावुदीचाम् ॥६।३।३१॥

मातरपितरौ १।२॥ उदीचाम् ६।३॥ *अर्थः*—उदीचामाचार्याणां मतेन मातरपितरौ इति निपात्यते। मातृशब्दस्य अरङ् आदेशो निपातनेन भवति ॥

भाषार्थः—[*उदीचाम्*] उदीच्य आचार्यों के मत में [*मातरपितरौ*] मातरपितरौ यह शब्द निपातन किया जाता है। मातृ शब्द को अरङ् आदेश निपातन से होता है॥ *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्त्य अल् 'ऋ' को अरङ् होगा॥

पितरामातरा च च्छन्दसि ॥६।३।३२॥

पितरामातरा १।२॥ च अ०॥ छन्दसि ७।१॥ *अर्थः*—पितरामातरा इति छन्दसि विषये निपात्यते। निपातनेन पूर्वपदस्य अराङ् आदेशो भवति॥

भाषार्थः—[*पितरामातरा*] पितरामातरा यह शब्द [*च*] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में निपातन किया जाता है। निपातन से पूर्वपद पितृ शब्द को अराङ् आदेश होता है॥ उत्तरपद में 'औ' विभक्ति को *सुपां सुलुक्*० (७।१।३९) से आकारादेश एवं मातृ शब्द को *ऋतो ङि*० (७।३।११०) से गुण होकर 'पितरामातरा' बन ही जयेगा॥

[*पुंवद्भावप्रकरणम्*]

स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी-प्रियादिषु ॥६।३।३३॥

स्त्रियाः ६।१॥ पुंवत् अ०॥ भाषितपुंस्कादनूङ् लुप्तषष्ठीकम्॥ समानाधिकरणे ७।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ अपूरणीप्रियादिषु ७।३॥ *स*०—न ऊङ् अनूङ्, नञ्तत्पुरुषः। भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे (समानायामाकृतावेकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते) स भाषितपुंस्कस्तस्मात्...बहुव्रीहिः। भाषितपुंस्कादनूङ् यस्मिन् स्त्रीशब्दे स भाषितपुंस्कादनूङ्, बहुव्रीहिः। *सुपो धातु*० (२।४।७१) इत्यनेन पञ्चम्याः लुकि प्राप्ते निपातनादत्रालुग्भवति। प्रिया आदिर्येषां ते प्रियादयः, बहुव्रीहिः। पूरणी च प्रियादयश्च पूरणीप्रियादयः...इतरेतरद्वन्द्वः। न पूरणीप्रियादयः, अपूरणीप्रियादयस्तेषु ...नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु*०—उत्तरपदे॥ *अर्थः*—यस्मात् भाषितपुंस्कात् पर ऊङ् न कृतस्तस्य स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दस्येव रूपं भवति, पूरणीप्रियादिवर्जिते स्त्रीलिङ्गे समानाधिकरण उत्तरपदे॥ *उदा*०—दर्शनीया भार्या यस्य स दर्शनीयभार्यः, श्लक्ष्णचूडः, दीर्घजङ्घः॥

भाषार्थः—[*भाषितपुंस्कादनूङ्*] एक ही अर्थ में अर्थात् एक ही

प्रवृत्ति निमित्त को लेकर भाषित = कहा है पुँल्लिङ्ग को जिस शब्द ने, ऐसे ऊङ् वर्जित भाषितपुंस्क [*स्त्रियाः*] स्त्री शब्द के स्थान में [*पुंवत्*] पुँल्लिङ्गवाची शब्द के समान रूप हो जाता है, [*अपूरणीप्रियादिषु*] पूरणी तथा प्रियादिवर्जित [*स्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग [*समानाधिकरणे*] समानाधिकरण उत्तरपद हो तो ॥

जिस अर्थ धर्म को लेकर जो शब्द प्रयोग किया जाता है वह अर्थ धर्म उसका प्रवृत्तिनिमित्त होता है, यथा मनुष्यत्व धर्म रहने के कारण किसी को मनुष्य कहा गया तो यह मनुष्यत्व धर्म, मनुष्य शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है। इसी प्रकार दर्शनीयभार्यः यहाँ दर्शनीय शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त दर्शनीयत्व है, इस दर्शनीयत्व अर्थ को लेकर ही यह दर्शनीय शब्द दर्शनीय, दर्शनीया पुंल्लिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होता है, अतः समास करने में जो 'समानायामाकृतावेकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते भाषितपुंस्कः' कहा था वह सङ्गत हो गया। दर्शनीया में प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग शब्द दर्शनीयत्व प्रवृत्ति निमित्त को लेकर दर्शनीय रूप में पुंस्त्व को भी कहता है उसी से स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर बना है। दर्शनीयत्व प्रवृत्ति दोनों में समान है। ऊङ् न होने से ऊङ् वर्जित है ही, एवं स्त्रीलिङ्ग पूरणीप्रियादिवर्जित समानाधिकरण वाला भार्या शब्द उत्तरपद में भी है, अतः दर्शनीया शब्द पुंल्लिङ्ग के समान हो गया अर्थात् 'दर्शनीय' शब्द बन गया। इसी प्रकार श्लक्ष्णा चूडा यस्य स श्लक्ष्णचूडः, दीर्घा जङ्घा यस्य स दीर्घजङ्घः यहाँ भी जानें। भार्या, चूडा, जङ्घा को *गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य* (१।२।४८) से ह्रस्व हो ही जायेगा॥ पूरणी से स्त्रीलिङ्ग वाले पूरण प्रत्ययान्त शब्द लिये गये हैं, तथा 'प्रियादि' गण पठित शब्द हैं॥

इस सूत्र का सम्पूर्ण विषय प्रत्युदाहरणों से ही स्पष्ट हो पाता है, जो कि द्वितीयावृत्ति का विषय है॥

यहाँ से '*स्त्रियाः अनूङ्*' की अनुवृत्ति ६।३।४१ तक तथा '*पुंवत्*' की ६।३।४० तक एवं '*भाषितपुंस्कात्*' की ६।३।४२ तक जायेगी॥

तसिलादिष्वाकृत्वसुचः ॥६।३।३४॥

तसिलादिषु ७।३॥ आ अ० ॥ कृत्वसुचः ५।१॥ *स०*—तसिल् आदिर्येषां ते तसिलादयस्तेषु बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—स्त्रियाः पुंवद्-

भाषितपुंस्कादनूङ् ॥ *अर्थः*—तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेषु परेषु भाषित-पुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति ॥ *उदा०*—तस्याः शालायाः = ततः ॥ तस्याम् = तत्र । यस्याः = यतः । यस्याम् = यत्र ॥

भाषार्थः—[*तसिलादिषु*] तसिलादि प्रत्ययों से लेकर [*आकृत्वसुचः*] कृत्वसुच् पर्यन्त कहे गये जो प्रत्यय उनके परे रहते ऊङ् वर्जित भाषि-तपुंस्क स्त्रीशब्द को पुंवत् हो जाता है ॥ इन उदाहरणों में भी जिन स्त्रीलिङ्ग सा या शब्दों के रूप में प्रयुक्त तद् यद् शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे शब्द उसी अर्थ में पुँलिङ्ग में भी प्रयुक्त होते हैं अतः वे भाषित-पुंस्क (पुँलिङ्ग को कहनेवाले) हैं। तसिल् से *पञ्चम्यास्तसिल्* (५।३।७) में कहा हुआ तसिल् यहाँ लिया गया है, तथा कृत्वसुच् से *संख्यायाः क्रियाभ्या०* (५।४।१७) में कथित कृत्वसुच् लिया गया है, अतः *पञ्च-म्यास्तसिल्* से लेकर *संख्यायाः क्रियाभ्या०* तक कहे हुए सभी प्रत्यय तसिलादियों से गृहीत है ॥ पूर्व सूत्र से उत्तरपद परे रहते ही पुंवद्-भाव कहा था, यहाँ उत्तरपद का अभाव होने से अनुत्तरपदार्थ यह आरम्भ है ॥

क्यङ्मानिनोश्च ॥६।३।३५॥

क्यङ्मानिनोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—क्यङ् च मानिन् च क्यङ्-मानिनौ तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्काद-नूङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—क्यङि परतो मानिनि च भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति ॥ *उदा०*—एनी, एतायते, श्येनी, श्येतायते । मानिनि—दर्शनीयमानी अयमस्याः = दर्शनीयमानिनीयमस्याः ॥

भाषार्थः—[*क्यङ्मानिनोः*] क्यङ् तथा मानिन् परे रहते [च] भी ऊङ् वर्जित भाषितपुंस्क स्त्रीशब्द को पुंवद्भाव हो जाता है ॥ मानिनि ग्रहण यहाँ अस्त्र्यर्थ तथा असमानाधिकरणार्थ है, अतः 'अयमस्याः' करके पुँलिङ्ग का भी उदाहरण दिया है ॥

एत श्येत शब्दों से *वर्णादनुदात्तात्०* (४।१।३९) से ङीप् एवं त को न होकर एनी श्येनी बना । अब एनीवाचरति श्येनीवाचरति ऐसा विग्रह करके *कर्तुः क्यङ् सलोपश्च* (३।१।११) से क्यङ् होकर *अकृत्सार्व०* (७।४।२५) से दीर्घ होकर एतायते श्येतायते बन गया । प्रकृत सूत्र से पुंवद्भाव होने से ङीप् एवं तत्सन्नियोगशिष्ट नकार हट गया । दर्शनी-

यामिमां मन्यतेऽयमिति दर्शनीयमानी। यहाँ *मनः* (३।२।८२) से मन धातु से णिनि प्रत्यय हुआ है॥

न कोपधायाः ॥६।३।३६॥

न अ०॥ कोपधायाः ६।१॥ *स०*—ककार उपधा यस्याः सा कोपधा तस्याः'''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—भाषितपुंस्कादनूङ् कोपधायाः स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवति॥ *उदा०*—पाचिकाभार्यः, कारिकाभार्यः, वृजिकाभार्यः, मद्रिकाभार्यः। मद्रिकाकल्पा। मद्रिकायते, वृजिकायते। मद्रिकामानिनी, वृजिकामानिनी॥

भाषार्थः—[*कोपधायाः*] ककार उपधावाले स्त्री शब्द को पुंवद्भाव [*न*] नहीं होता॥ पूर्व सूत्रों से प्राप्ति थी उन सबका प्रतिषेध है॥ पाचक कारक ण्वुलन्त शब्दों से टाप् तथा *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से इत्त्व होकर पाचिका कारिका बना। अब यहाँ पाचिका कारिका शब्द पूर्ववत् भाषितपुंस्क हैं, अतः *स्त्रियाः पुंवद्भाषित०* (६।३।३३) से पुंवद्भाव प्राप्त था, ककार उपधा में होने से प्रकृतसूत्र से निषेध हो गया। मद्रिकाकल्पा में *तसिलादिष्वा०* (६।३।३४) से पुंवद्भाव प्राप्त था, एवं मद्रिकायते आदि में *क्यङ्मानिनोश्च* से प्राप्त था, निषेध हो गया। *मद्रवृज्योः कन्* (४।२।१३०) से मद्रिका वृजिका में कन् प्रत्यय हुआ है॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ६।३।४० तक जायेगी॥

संज्ञापूरण्योश्च ॥६।३।३७॥

संज्ञापूरण्योः ६।२॥ च अ०॥ *स०*—संज्ञा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—संज्ञायाः पूरण्याश्च भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवति॥ *उदा०*—दत्ताभार्यः गुप्ताभार्यः, दत्तापाशा गुप्तापाशा, दत्तायते गुप्तायते, दत्तामानिनी गुप्तामानिनी। पूरण्याः—पञ्चमीभार्यः दशमीभार्यः, पञ्चमीपाशा दशमीपाशा, पञ्चमीयते दशमीयते, पञ्चमीमानिनी दशमीमानिनी॥

भाषार्थः—[*संज्ञापूरण्योः*] संज्ञावाची तथा पूरणी प्रत्ययान्त भाषितपुंस्क स्त्री शब्दों को [*च*] भी पुंवद्भाव नहीं होता॥ पूर्ववत् क्रमशः

उदाहरणों में पूर्वसूत्रों से पुंवद्भाव प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥ दत्ता गुप्ता में *क्तिक्तौ०* (३।३।१७४) से क्त प्रत्यय हुआ है। दत्तादिति दत्तः गोपायताद् इति गुप्तः। स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर दत्ता गुप्ता बने। दत्तः दत्ता, गुप्तः गुप्ता दोनों में प्रवृत्तिनिमित्त दान और गोपन एक ही है, अतः दत्ता गुप्ता भाषितपुंस्क शब्द हैं। इसी प्रकार पञ्चमः पञ्चमी दशमः दशमी में पञ्चमत्व दशमत्व प्रवृत्ति का निमित्त समान है।

वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे ॥६।३।३८॥

वृद्धिनिमित्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ तद्धितस्य ६।१॥ अरक्तविकारे ७।१॥ *स०*—वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन् स वृद्धिनिमित्तस्तद्धितस्तस्य······ बहुव्रीहिः। रक्तं च विकारश्च रक्तविकारं न रक्तविकारमरक्तविकारं तस्मिन्······द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अरक्तेऽर्थेऽविकारे चार्थे यो विहितो वृद्धिनिमित्तस्तद्धितस्तदन्तस्य स्त्रीशब्दस्य पुंवद् न भवति ॥ *उदा०*—स्रौघ्नीभार्यः, माथुरीभार्यः, स्रौघ्नीपाशा, माथुरीपाशा, स्रौघ्नीयते, माथुरीयते, स्रौघ्नीमानिनी, माथुरीमानिनी ॥

भाषार्थः—[*वृद्धिनिमित्तस्य*] वृद्धि का निमित्त = कारण है जिस [*तद्धितस्य*] तद्धित में ऐसा तद्धित यदि [*अरक्तविकारे*] रक्त तथा विकार अर्थ में न विहित हो तो तदन्त स्त्री शब्द को [*च*] भी पुंवद्भाव नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ वृद्धि के निमित्त ञित् णित् तथा कित् (७।२।११५) प्रत्यय ही हैं। स्रौघ्नी, माथुरी शब्दों में *तत्र भवः* (४।३।५३) से वृद्धि निमित्तक अण् तद्धित प्रत्यय हुआ है। अरक्तविकार अर्थ में विहित है ही, अतः *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से हुये ङीप् प्रत्ययान्त शब्दों को पुंवद्भाव प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से प्रतिषेध हो गया ॥

स्वाङ्गाच्चेतः ॥६।३।३९॥

स्वाङ्गात् ५।१॥ च अ० ॥ ईतः ६।१॥ *अनु०*—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—स्वाङ्गादुत्तरो य ईकारस्तदन्तायाः स्त्रियाः न पुंवद् भवति ॥ *उदा०*—दीर्घकेशीभार्यः, दीर्घकेशीपाशा, श्लक्ष्णकेशीपाशा, दीर्घकेशीयते, श्लक्ष्णकेशीयते ॥

भाषार्थः—[*स्वाङ्गात्*] स्वाङ्गवाची शब्द से उत्तर [*च*] भी जो [*ईतः*] ईकार तदन्त स्त्रीशब्द को पुंवद्भाव नहीं होता॥ दीर्घकेशी आदि में *स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद०* (४।१।५४) से ङीष् हुआ है॥

जातेश्च ॥६।३।४०॥

जातेः ६।१॥ च अ०॥ *अनु०*—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—जातेश्च स्त्रियाः पुंवद् न भवति॥ *उदा०*—कठीभार्यः, बह्वृचीभार्यः, कठीपाशा, बह्वृचीपाशा, कठीयते, बह्वृचीयते॥

भाषार्थः—[*जातेः*] जातिवाची स्त्रीलिङ्ग शब्दों को [*च*] भी पुंवद्भाव नहीं होता॥ कठ तथा बह्वृच शब्दों से *जातेरस्त्रीविषया०* (४।१।६३) से ङीष् हुआ है॥

पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ॥६।३।४१॥

पुंवत् अ०॥ कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ७।३॥ *स०*—कर्मधारय० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—स्त्रियाः भाषितपुंस्कादनूङ्॥ *अर्थः*—कर्मधारये समासे जातीय देशीय इत्येतयोश्च प्रत्यययोः परतः भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति॥ प्रतिषेधार्थोऽयमारम्भः॥ *उदा०*—न *कोपधायाः* इत्युक्तं तत्रापि भवति—पाचकवृन्दारिका, पाचकजातीया, पाचकदेशीया। *संज्ञापूरण्योश्चे*त्युक्तं तत्रापि भवति—दत्तवृन्दारिका, दत्तजातीया, दत्तदेशीया। पूरण्याः—पञ्चमवृन्दारिका, पञ्चमजातीया, पञ्चमदेशीया। *वृद्धिनिमित्तस्य च०* इत्युक्तं तत्रापि भवति—स्रौघ्नभार्या, स्रौघ्नजातीया, स्रौघ्नदेशीया। *स्वाङ्गाच्चेत* इत्युक्तं तत्रापि भवति—श्लक्ष्णमुखवृन्दारिका, श्लक्ष्णमुखजातीया श्लक्ष्णमुखदेशीया। *जातेश्चे*त्युक्तं तत्रापि भवति—कठवृन्दारिका, कठजातीया, कठदेशीया॥

भाषार्थः—[*कर्मधा॰॰येषु*] कर्मधारय समास में तथा जातीय एवं देशीय प्रत्ययों के परे रहते ऊङ्वर्जित भाषितपुंस्क स्त्री शब्द को [*पुंवत्*] पुंवद्भाव हो जाता है॥ कर्मधारय समास में *स्त्रियाः पुंवद्भाषित०* से ही पुंवद्भाव प्राप्त था तथा जातीय देशीय प्रत्ययों के परे रहते भी *तसिलादिष्वा०* (६।३।३४) से प्राप्त था ही, पुनर्वचन न *कोपधायाः* से लेकर *जातेश्च* तक जितने प्रतिषेध वचन कहे हैं, उनमें भी कर्मधारय समास एवं जातीय देशीय प्रत्ययों के परे रहते पुंवद्भाव प्राप्त हो जाये इसलिये

है, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट ही है ॥ *प्रकारवचने जातीयर्* (५।३।६९) से जातीयर् प्रत्यय तथा *ईषदसमाप्तौ०* (५।३।६७) से देशीयर् प्रत्यय होता है ॥

घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः ॥ ६।३।४२॥

घरूप…तेषु ७।३॥ ङ्यः ६।१॥ अनेकाचः ६।१॥ ह्रस्वः १।१॥ *स०*—घरूप० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। न एकः अनेकः…नञ्तत्पुरुषः। अनेकः अच् यस्मिन् स अनेकाच्, तस्य…बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—भाषितपुंस्कात्, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—भाषितपुंस्कात् परो यो ङीप्रत्ययस्तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वो भवति घ रूप कल्प चेलट् ब्रुव गोत्र मत हत इत्येतेषु परतः॥ *उदा०*—घ—ब्राह्मणितरा ब्राह्मणितमा। रूप—ब्राह्मणिरूपा। कल्प—ब्राह्मणिकल्पा। चेलट्—ब्राह्मणिचेली। ब्रुव—ब्राह्मणिब्रुवा। गोत्र—ब्राह्मणिगोत्रा। मत—ब्राह्मणिमता। हत—ब्राह्मणिहता॥

भाषार्थः—भाषितपुंस्क शब्द से उत्तर जो [*ङ्यः*] ङी तदन्त [*अनेकाचः*] अनेकाच् शब्द को [*ह्रस्वः*] ह्रस्व हो जाता है [*घरूप…तेषु*] घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र मत तथा हत शब्दों के परे रहते॥ घ से घ संज्ञक तरप् तमप् (१।१।२१) प्रत्यय लिये गये हैं, तथा रूप से रूपप् प्रत्यय (५।३।६६) एवं कल्प से कल्पप् (५।३।६७) प्रत्यय लिया गया है। चेलट् आदि शब्द हैं, प्रत्यय नहीं। ब्रुवतीति ब्रुवः यहाँ पचाद्यच् हुआ है। चेलट्, ब्रुव, गोत्र शब्द कुत्सार्थवाची हैं, अतः *कुत्सितानि कुत्सनैः* (२।१।५२) से समास हुआ है। मत, हत में *विशेषणं वि०* (२।१।५६) से समास हुआ है॥ ब्राह्मण शब्द ब्राह्मणत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुँल्लिङ्ग को कहता है, इसलिये भाषितपुंस्क है, इस तदन्त अनेकाच् से उत्तर ङीप् को प्रकृत सूत्र से ह्रस्व हो जाता है॥

यहाँ से '*घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ह्रस्वः*' की अनुवृत्ति ६।३।४४ तक जायेगी॥

नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ॥६।३।४३॥

नद्याः ६।१॥ शेषस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—घादिषु परतो नद्याः

शेषस्य विकल्पेन ह्रस्वो भवति ॥ अङी च या नदी ङ्यन्तं च यदेकाच्, स शेषः ॥ उदा०—ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धूतरा । वीरबन्धुतरा, वीरबन्धूतरा । स्त्रितरा, स्त्रीतरा, स्त्रितमा, स्त्रीतमा ॥

भाषार्थः—[*नद्याः*] नदी संज्ञक [*शेषस्य*] शेष (पूर्व सूत्र से शेष) शब्दों को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके घादियों के परे रहते ह्रस्व होता है ॥ पूर्व सूत्र में जिसको ह्रस्व कहा है उससे जो शेष नदी संज्ञक शब्द उसे यहाँ ह्रस्व होगा । पूर्व सूत्र में ङ्यन्त कहा था अतः यहाँ शेष कहने से अङ्यन्त जो नदी संज्ञक वे लिये जायेंगे, जैसे 'ब्रह्मबन्धू' शब्द, तथा वहाँ अनेकाच् कहा था, यहाँ एकाच् ङ्यन्त शब्द भी शेष कहने से ले लिये जायेंगे, जैसे 'स्त्री' शब्द ॥ इसी प्रकार ब्रह्मबन्धुरूपा ब्रह्मबन्धूरूपा आदि कल्प चेलट् ब्रुवगोत्र मत हत के उदाहरण भी यहाँ जानने चाहिए ॥

यहाँ से '*नद्याः*' '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।३।४४ तक जायेगी ॥

उगितश्च ॥६।३।४४॥

उगितः ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—उक् इत् यस्य स उगित् तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—नद्याः, अन्यतरस्याम्, घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु परतो विकल्पेन ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—श्रेयसितरा, श्रेयसीतरा । विदुषितरा, विदुषीतरा ॥

भाषार्थः—[*उगितः*] उगित् शब्द से परे जो नदी तदन्त शब्द को [*च*] भी घादियों के परे रहते विकल्प करके ह्रस्व होता है ॥ श्रेयस् में ईयसुन् प्रत्यय हुआ है, अतः यह शब्द उगित् है । उगित् होने से *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् तथा प्रकृत सूत्र से उस ङीप् को ह्रस्व हो जाता है ॥ इसी प्रकार रूप कल्पादि के भी उदाहरण यहाँ जानने चाहिये ॥

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ॥६।३।४५॥

आत् १।१॥ महतः ६।१॥ समानाधिकरणजातीययोः ७।२॥ *स०*—समाना० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—समानाधिकरण उत्तरपदे जातीये च प्रत्यये परतो महत आकारादेशो भवति । *उदा०*—महादेवः, महाब्राह्मणः, महाबाहुः, महाबलः । जातीय—महाजातीयः ॥

भाषार्थः—[*समानाधिकरणजातीययोः*] समानाधिकरण उत्तरपद रहते तथा जातीय प्रत्यय परे रहते [*महतः*] महत् शब्द को [*आत्*] आकारादेश होता है ॥ महादेवः आदि में महान् तथा देव आदि का समानाधिकरण होने से कर्मधारय समास (२।१।६०) है ॥

यहाँ से '*आत्*' की अनुवृत्ति ६।३।४६ तक जायेगी ॥

द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ॥६।३।४६॥

द्व्यष्टनः ६।१॥ संख्यायाम् ७।१॥ अबहुव्रीह्यशीत्योः ६।२॥ स०—द्वौ च अष्ट च द्व्यष्ट, तस्य''''समाहारद्वन्द्वः । बहुव्रीहिश्च अशीतिश्च बहुव्रीह्यशीती न बहुव्रीह्यशीती अबहुव्रीह्यशीती तयोः''''द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आत्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—द्वि अष्टन् इत्येतयोराकारादेशो भवति, संख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः ॥ *उदा०*—द्वादश, द्वाविंशतिः, द्वात्रिंशत् । अष्टादश, अष्टाविंशतिः, अष्टात्रिंशत् ॥

भाषार्थः—[*द्व्यष्टनः*] द्वि तथा अष्टन् शब्दों को आकारादेश होता है, [*संख्यायाम्*] संख्या उत्तरपद में हो तो [*अबहुव्रीह्यशीत्योः*] बहुव्रीहि समास को तथा अशीति उत्तरपद को छोड़कर ॥ द्वादश इत्यादि में द्वौ च दश च ऐसा विग्रह करके द्वन्द्व समास हुआ है । अथवा द्वाभ्यामधिका दश ऐसा विग्रह करके *शाकपार्थिवादीना०* (*वा०* २।१।५९) इस वार्त्तिक से उत्तरपदलोपी तत्पुरुष समास हुआ है ॥

यहाँ से '*संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः*' की अनुवृत्ति ६।३।४८ तक जायेगी ॥

त्रेस्त्रयः ॥६।३।४७॥

त्रेः ६।१॥ त्रयः १।१॥ *अनु०*—संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—त्रि इत्येतस्य शब्दस्य त्रयस् आदेशो भवति, संख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः ॥ *उदा०*—त्रयोदश, त्रयोविंशतिः, त्रयस्त्रिंशत् ॥

भाषार्थः—[*त्रेः*] त्रि शब्द को [*त्रयः*] त्रयस् आदेश होता है, संख्या उत्तरपद रहते, बहुव्रीहि समास तथा अशीति को छोड़कर ॥ त्रयस् के सकार को *ससजुषो रुः* (८।२।६६) से रुत्व *हशि च* (६।१।११०) से उत्व एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से पूर्वपर के स्थान में ओकार होकर त्रयोदश आदि प्रयोग बन गये ॥

यहाँ से 'त्रयः' की अनुवृत्ति ६।३।४८ तक जायेगी ॥

विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् ॥६।३।४८॥

विभाषा १।१॥ चत्वारिंशत्प्रभृतौ ७।१॥ सर्वेषाम् ६।३॥ स०—चत्वारिंशत् प्रभृति यस्य तत् चत्वारिंशत्प्रभृति, तस्मिन्ं बहुव्रीहिः । अनु०—संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—चत्वारिंशत् प्रभृतौ संख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः सर्वेषाम् द्व्यष्टन् त्रि इत्येतेष यदुक्तं तद्विभाषा भवति ॥ उदा०—द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत् । अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत् । अष्ट पञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत् ॥

भाषार्थः—[*सर्वेषाम्*] सबको अर्थात् द्वि अष्टन् तथा त्रि को जो कुछ भी कह आये हैं वह [*चत्वारिंशत्प्रभृतौ*] चत्वारिंशत् आदि संख्या उत्तर पद रहते बहुव्रीहि, अशीति को छोड़कर [*विभाषा*] विकल्प करके हो ॥

हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु ॥६।३।४९॥

हृदयस्य ६।१॥ हृत् १।१॥ लेखयदण्लासेषु ७।३॥ स०—लेख इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु*०—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—हृदयस्य हृत् इत्ययमादेशो भवति लेख, यत्, अण्, लास इत्येतेषु परतः ॥ उदा०—हृदं लिखतीति हृल्लेखः । यत्–हृदयस्य प्रियं हृद्यम् । अण्–हृदयस्येदं हार्दम् लास–हृदयस्य लासो हृल्लासः ॥

भाषार्थः—[*हृदयस्य*] हृदय शब्द को [*हृत्*] हृत् आदेश होता [*लेखयदण्लासेषु*] लेख, यत्, अण् तथा लास परे रहते ॥ यत् तः अण् प्रत्यय हैं, एवं लेख लास शब्द हैं । हार्दम् यहाँ *तस्येदम्* (४।३।१२० से अण् प्रत्यय हुआ है, एवं हृद्यम् में *हृदयस्य प्रियः* (४।४।९५) से य हुआ है । हृल्लासः में *तोर्लि* (८।४।५९) से त् को ल् हुआ है ॥

यहाँ से '*हृदयस्य हृत्*' की अनुवृत्ति ६।३।५१ तक जायेगी ॥

वा शोकष्यञ्रोगेषु ॥६।३।५०॥

वा अ०॥ शोकष्यञ्रोगेषु ७।३॥ स०—शोक० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः *अनु*०—हृदयस्य हृत्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—शोक, ष्यञ्, रोग इत्येतेषु परतः हृदयस्य विकल्पेन हृत् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा*०—हृच्छोकः हृदयशोकः । ष्यञ्—सौहार्द्यम्, सौहृदयम् । रोग—हृद्रोगः, हृदयरोगः ॥

भाषार्थः—[*शोकष्यञ्रोगेषु*] शोक, ष्यञ् तथा रोग के परे रहते हृदय शब्द को हृत् आदेश [*वा*] विकल्प करके होता है ॥ ष्यञ् से प्रत्यय गृहीत है ॥ शोभनं हृदयमस्य स सुहृदयस्तस्यभावः कर्म वा सौहार्द्यम्, यहाँ सुहृदय शब्द से *गुणवचन ब्रा०* (५।१।१२३) से ष्यञ् हुआ, तब उस ष्यञ् के परे रहते हृदय को प्रकृत सूत्र से हृत् आदेश हो गया। हृत् आदेश पक्ष में *हृद्भगसिन्ध्वन्ते०* (७।३।१९) से उभयपद वृद्धि होती है। जब पक्ष में हृत् आदेश नहीं होगा तो ष्यञ् परे रहते *तद्धितेष्वचा०* (७।२।११७) से आदि अच् को वृद्धि हो जायेगी तथा *यस्येति* च (६।४।१४८) से अकार लोप होगा। हृच्छोकः में *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९) से त् को च् तथा *शश्छोटि* (८।४।६२) से श् को छ् हुआ है ॥

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ॥६।३।५१॥

पादस्य ६।१॥ पद लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ आज्यातिगोपहतेषु ७।३॥ *स०*—आज्या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पादस्य 'पद' इत्ययमादेशो भवति आजि, आति, ग, उपहत इत्येतेषूत्तरपदेषु ॥ *उदा०*—पादाभ्यामजतीति = पदाजिः, पादाभ्यामततीति = पदातिः, पादाभ्यां गच्छतीति = पदगः, पादेनोपहतः = पदोपहतः ॥

भाषार्थः—[*पादस्य*] पाद शब्द को [*पद*] 'पद' आदेश होता है, [*आज्यातिगोपहतेषु*] आजि, आति, ग, उपहत उत्तरपद रहते ॥ आजि, आति में औणादिक (उणा० ४।१३१) इण् प्रत्यय हुआ है। यह 'पद' आदेश अकारान्त होता है, अतएव अगले सूत्र में दकारान्त पद् आदेश का विधान किया है।

यहाँ से '*पादस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।५५ तक जायेगी ॥

पद्यत्यतदर्थे ॥६।३।५२॥

पद् १।१॥ यति ७।१॥ अतदर्थे ७।१॥ *स०*—तस्मै इदम् तदर्थम्, न तदर्थम् अतदर्थं, तस्मिन्''' चतुर्थीतत्पुरुषगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पादस्य, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अतदर्थे यति प्रत्यये परतः पादस्य 'पद्' इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—पादौ विध्यन्ति = पद्याः शर्कराः, पद्याः कण्टकाः ॥

भाषार्थः—[*अतदर्थे*] अतदर्थ [*यति*] यत् प्रत्यय के परे रहते पाद

शब्द को [पद्] पद् आदेश हो जाता है ॥ *विध्यत्यधनुषा* (४।४।८३) से पाद शब्द से यत् प्रत्यय हुआ है, पश्चात् 'पाद' को प्रकृत सूत्र से पद् आदेश होकर 'पद्याः' बन गया। यह यत् प्रत्यय विध्यति अर्थ में हुआ है, अतः अतदर्थ है ही ॥

यहाँ से 'पद्' शब्द की अनुवृत्ति ६।३।५५ तक जायेगी ॥

हिमकाषिहतिषु च ॥६।३।५३॥

हिमकाषिहतिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—हिमं च काषी च हतिश्च हिमकाषिहतयस्तासु ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पद्, पादस्य, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—हिम, काषिन्, हति इत्येतेषूत्तरपदेषु पादशब्दस्य पदित्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—पद्धिमम्, अथ पत्काषिणो यान्ति, पादाभ्यां हन्यते = पद्धतिः ॥

भाषार्थः—[*हिमकाषिहतिषु*] हिम, काषिन्, हति इनके उत्तरपद रहते [च] भी पाद शब्द को पद् आदेश होता है ॥ पादस्य हिमं शीतं = पद्धिमम् में षष्ठीसमास है, तथा ह् को ध् *झयो होऽन्यतरस्याम्* (८।४।६१) से पूर्वसवर्णादेश होने से हुआ है। पादौ कषन्तीति पत्काषिणः में *सुप्यजातौ०* (३।२।७८) से णिनि तथा *खरि च* (८।४।५४) से द् को त् हुआ है ॥

ऋचः शे ॥६।३।५४॥

ऋचः ६।१॥ शे ७।१॥ *अनु०*—पद्, पादस्य, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ऋक्सम्बन्धिनः पादशब्दस्य शे परतः पद् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—पच्छो गायत्रीं शंसति ॥

भाषार्थः—[*ऋचः*] ऋचा सम्बन्धी पाद शब्द को [*शे*] श पर रहते पद् आदेश होता है ॥ शस् प्रत्यय का अवयवभूत जो 'श' उसका यहाँ ग्रहण है। पच्छः में *सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्* (५।४।४३) से शस् प्रत्यय हुआ है। श्चुत्व होकर त् को च् तथा *शश्छोऽटि* (८।४।६२) से छत्व होकर पच्छः बनता है ॥ गायत्री ऋचा सम्बन्धी पाद शब्द के स्थान में यहाँ पद् आदेश हुआ है ॥

वा घोषमिश्रशब्देषु ॥६।३।५५॥

वा अ० ॥ घोषमिश्रशब्देषु ७।३॥ *स०*—घोष० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पद्, पादस्य, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—घोष, मिश्र, शब्द, इत्येतेषूत्त

पदेषु पादशब्दस्य पदित्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पद्घोषः, पादघोषः । पन्मिश्रः, पादमिश्रः । पच्छब्दः, पादशब्दः ॥

भाषार्थः—[*घोषमिश्रशब्देषु*] घोष, मिश्र तथा शब्द उत्तरपद रहते पाद शब्द को [*वा*] विकल्प करके पद् आदेश होता है ॥ घोष तथा शब्द के साथ पाद शब्द का षष्ठीसमास है, तथा मिश्र के साथ *पूर्वसदृश०* (२।१।३०) से तृतीया समास है, ऐसा जानें ॥ पच्छब्दः में पूर्ववत् सन्धिकार्य है, एवं पन्मिश्रः में त् को न् *यरोऽनुनासिके०* (८।४।४४) से हुआ है ॥

उदकस्योदः संज्ञायाम् ॥६।३।५६॥

उदकस्य ६।१॥ उदः १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उदकशब्दस्य 'उद' इत्ययमादेशो भवति, संज्ञायां विषय उत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—उदमेघो नाम, यस्य औदमेघिः[1] पुत्रः । उदवाहो नाम, यस्य औदवाहिः[1] पुत्रः ॥

भाषार्थः—[*उदकस्य*] उदक शब्द को [*उदः*] उद आदेश होता है [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में, उत्तरपद परे रहते ॥ उदमेघ, उदवाह ये किसी व्यक्ति के नाम हैं । यहाँ उदक को उद आदेश हुआ है । उदमेघः यहाँ षष्ठीसमास है, तथा उदकं वहतीति उदवाहः यहाँ उपपद तत्पुरुष समास है ॥

यहाँ से '*उदकस्योदः*' की अनुवृत्ति ६।३।५९ तक जायेगी ॥

पेषंवासवाहनधिषु च ॥६।३।५७॥

पेषंवासवाहनधिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—पेषं० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उदकस्योदः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पेषं, वास, वाहन, धि इत्येतेषु चोत्तरपदेषु उदकशब्दस्य उद इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—उदपेषं पिनष्टि । वास—उदकस्य वासः = उदवासः । वाहन—उदकस्य वाहनः = उदवाहनः । धि—उदकं धीयतेऽस्मिन् = उदधिः ॥

---

१ औदमेघि औदवाहि नाम के व्यक्तियों को देखकर ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम उदमेघ और उदवाह था, यह उदाहरणों का भाव है ।

भाषार्थः— [*पेषंवासवाहनधिषु*] पेषं, वास, वाहन तथा धि शब्द के उत्तरपद रहते [च] भी उदक को उद आदेश होता है ॥ 'पेषं' में स्नेहने पिषः (३।४।३८) से णमुल् प्रत्यय हुआ है। उदधिः यहाँ *कर्मण्यधिकरणे च* (३।३।९३) से उदक उपपद रहते धा धातु से कि प्रत्यय हुआ है, धा के आ का लोप *आतो लोप इटि च* (६।४।६४) से हो ही जायेगा ॥

एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् ॥६।३।५८॥

एकहलादौ ७।१॥ पूरयितव्ये ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*— एको हल् आदिर्यस्य स एकहलादिस्तस्मिन्......त्रिपदबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*— उदकस्योदः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पूरयितव्यवाचिन्येकहलादावुत्तरपदे विकल्पेनोदकशब्दस्य उद इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—उदकुम्भः, उदककुम्भः। उदपात्रम्, उदकपात्रम्।

भाषार्थः—[*पूरयितव्ये*] जिसको पूर्ण (भरा) किया जाना चाहिये, तद्वाची [*एकहलादौ*] एक = असहाय हल् है आदि में जिसके ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके उदक को उद आदेश होता है ॥ एक शब्द यहाँ सङ्ख्यावाची न होकर असहायवाची है, सो अर्थ होगा असहाय अर्थात् तुल्यजातीयक कोई और हल् आदि में न हो एक अकेला ही हल् आदि में हो। पूरयितव्य अर्थात् पूर्ण किये जाने योग्य, सो उदकुम्भः में कुम्भ शब्द पूरयितव्य एक हल् आदि वाला भी है, अतः विकल्प से उदक को उद आदेश हो गया ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।३।६० तक जायेगी ॥

मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च ॥६।३।५९॥

मन्थौ......हेषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—मन्थौ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, उदकस्योदः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह इत्येतेषूत्तरपदेषूदकस्य उद इत्ययमादेशो विकल्पेन भवति ॥ *उदा०*—उदकेन मन्थः = उदमन्थः, उदकमन्थः। उदकेनौदनः = उदौदनः, उदकौदनः। उदकेन सक्तुः = उदसक्तुः, उदकसक्तुः। उदकस्य बिन्दुः = उदबिन्दुः, उदकबिन्दुः। उदकस्य वज्रः = उदवज्रः, उदकवज्रः। उदकं बिभर्ति = उदभारः, उदकभारः। उदकं

हरति = उदहारः, उदकहारः। उदकस्य वीवधः = उदवीवधः, उदकवीवधः। उदकं गाहते = उदगाहः, उदकगाहः ॥

भाषार्थः—[*मन्थौ......हेषु*] मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह इन शब्दों के उत्तरपद रहते [*च*] भी उदक को उद आदेश विकल्प करके होता है ॥

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ॥६।३।६०॥

इकः ६।१॥ ह्रस्वः १।१॥ अङ्यः ६।१॥ गालवस्य ६।१॥ *स०*—न ङी अङी, तस्य अङ्यः, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अङ्यन्तस्येगन्तस्योत्तरपदे ह्रस्वो भवति विकल्पेन गालवस्याचार्यस्य मतेन ॥ *उदा०*—ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः। ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः ॥

भाषार्थः—[*अङ्यः*] ङी अन्त में नहीं है जिसके ऐसा जो [*इकः*] इक् अन्त वाला शब्द उसको [*गालवस्य*] गालव आचार्य के मत में विकल्प से [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है, उत्तरपद परे रहते ॥ ग्रामणी तथा ब्रह्मबन्धू शब्द इगन्त एवं अङ्यन्त हैं, अतः ह्रस्व हो गया है ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ६।३।६५ तक जायेगी ॥

एक तद्धिते च ॥६।३।६१॥

एक लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ तद्धिते ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—एकशब्दस्य तद्धिते उत्तरपदे च परतः ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—एकस्याः भावः एकत्वम्, एकता। उत्तरपदे—एकस्याः क्षीरम् एकक्षीरम्, एकदुग्धम् ॥

भाषार्थः—[*एक*] एक शब्द को [*तद्धिते*] तद्धित [*च*] तथा उत्तरपद परे रहते ह्रस्व होता है ॥ सामर्थ्य से यहाँ स्त्रीलिङ्ग विशिष्ट एक शब्द का ग्रहण है क्योंकि दीर्घ को ही ह्रस्व विधान सम्भव है ॥ एकत्वं, एकता में त्व तल् तद्धित परे हैं ॥

ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् ॥६।३।६२॥

ङ्यापोः ६।२॥ संज्ञाछन्दसोः ७।२॥ बहुलम् १।१॥ *स०*—ङी च आप् च ङ्यापौ तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ संज्ञा च छन्दश्च संज्ञाछन्दसी

तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ङ्यन्तस्य आबन्तस्य च उत्तरपदे परतः संज्ञायां विषये छन्दसि विषये च बहुलं ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—ङ्यन्तस्य संज्ञायाम्—रेवतिपुत्रः, रोहिणिपुत्रः, भरणिपुत्रः ॥ बहुलवचनान्न च भवति—नान्दीकरः, नान्दीघोषः, नान्दीविशालः। ङ्यन्तस्य छन्दसि—कुमारीं ददति = कुमारिदाः, उर्वीं ददति = उर्विदाः। न च भवति-फाल्गुनीपौर्णमासी, जगतीच्छन्दः। आबन्तस्य संज्ञायाम्—शलवहम्, शिलप्रस्थम्। न च भवति—लोमकागृहम्, लोमकाषण्डम्। आबन्तस्य छन्दसि-अजक्षीरेण जुहोति। ऊर्णम्रदा पृथिवी विश्वधायसम्। न च भवति—ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति ॥

भाषार्थः—[*ङ्यापोः*] ङ्यन्त तथा आबन्त शब्दों को [*संज्ञाछन्दसोः*] संज्ञा तथा छन्द विषय में उत्तरपद परे रहते [*बहुलम्*] बहुल करके ह्रस्व होता है ॥ बहुल कहने से जहाँ नहीं होता वे उदाहरण ऊपर दर्शा दिये हैं ॥

यहाँ से '*ङ्यापोः बहुलम्*' की अनुवृत्ति ६।३।६३ तक जायेगी ॥

त्वे च ॥६।३।६३॥

त्वे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ङ्यापोः बहुलम्, ह्रस्वः ॥ *अर्थः*—त्वप्रत्यये परतो ङ्यापोर्बहुलं ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—तदजाया भावः = अजत्वम्, तद्रोहिण्या भावो रोहिणित्वम्। बहुलवचनात्—अजात्वम्, रोहिणीत्वम् ॥

भाषार्थः—[त्वे] त्व प्रत्यय परे रहते [च] भी ङ्यन्त तथा आबन्त शब्द को बहुल करके ह्रस्व होता है ॥

इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु ॥६।३।६४॥

इष्टकेषीकामालानाम् ६।३॥ चिततूलभारिषु ७।३॥ *स०*—इष्टकेषी०, चिततूल० इत्युभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—इष्टका, इषीका, माला इत्येतेषां यथासङ्ख्यं चित, तूल, भारिन् इत्येतेषूत्तरपदेषु ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—इष्टकचितम्। इषीकतूलम्। मालां भर्त्तु शीलमस्याः = मालभारिणी कन्या ॥

भाषार्थः—[*इष्टकेषीकामालानाम्*] इष्टका, इषीका, माला इन तीन

ाब्दों को [*चिततूलभारिषु*] चित, तूल तथा भारिन् शब्दों के उत्तरपद रहते यथासङ्ख्य करके ह्रस्व हो जाता है ॥

खित्यनव्ययस्य ॥६।३।६५॥

खिति ७।१॥ अनव्ययस्य ६।१॥ *स०*—ख् इत् यस्य स खित् ास्मिन्…बहुव्रीहिः। अनव्य० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—खिदन्त उत्तरपदेऽनव्ययस्य ह्रस्वो भवति॥ *उदा०*—ालिंमन्या, हरिणिंमन्या॥

भाषार्थः—[*खिति*] ख् इत् संज्ञक है जिसका ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते [*अनव्ययस्य*] अव्यय भिन्न शब्द को ह्रस्व हो जाता है॥ कालीमात्मानं न्यते = कालिंमन्या, यहाँ *आत्ममाने खश्च* (३।२।८३) से मन धातु से ख़श् प्रत्यय हुआ है जो कि खित् है, अतः मन्या खिदन्त परे रहते ाली को ह्रस्व हो गया है॥ मुम् आगम भी *अरुर्द्विषद०* (६।३।६६) े हो जायेगा। मन्या में *दिवादिभ्यः श्यन्* (३।१।६९) से श्यन् विक-ण हुआ है। इसी प्रकार हरिणिंमन्या में जानें॥

यहाँ से '*खिति*' की अनुवृत्ति ६।३।६७ तक तथा '*अनव्ययस्य*' की ।३।६६ तक जायेगी॥

अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ॥६।३।६६॥

अरुर्द्विषदजन्तस्य ६।१॥ मुम् १।१॥ *स०*—अच् अन्ते यस्य स अजन्तः, बहुव्रीहिः। अरुश्च द्विषत् च अजन्तश्च अरुर्द्विषदजन्तं तस्य… समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—खित्यनव्ययस्य, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—अरुस् द्विषत् इत्येतयोरजन्तानामनव्ययानाञ्च खिदन्त उत्तरपदे मुमागमो भवति॥ *उदा०*—अरुन्तुदः, द्विषन्तपः। अजन्तानाम्—कालिंमन्या, हरिणिंमन्या॥

भाषार्थः—[*अरुर्द्विषदजन्तस्य*] अरुस् द्विषत् तथा अव्यय भिन्न अजन्त शब्दों को खिदन्त उत्तरपद रहते [*मुम्*] मुम् आगम होता है॥ अरुन्तुदः यहाँ *विध्वरुषोस्तुदः* (३।२।३५) से खश् प्रत्यय हुआ है, एवं द्विषन्तपः में *द्विषत्परयोस्तापेः* (३।२।३९) से खच् प्रत्यय हुआ है, दोनों ही खित् प्रत्यय हैं। पूरी सिद्धि उपर्युक्त सूत्रों में ही देखें। अजन्त के उदाहरण की सिद्धि पूर्व सूत्र में दर्शा दी है॥

यहाँ से 'मुम्' की अनुवृत्ति ६।३।७१ तक जायेगी ॥

इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च ॥६।३।६७॥

इचः ६।१॥ एकाचः ६।१॥ अम् १।१॥ प्रत्ययवत् अ०॥ च अ०॥ *स०*—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—खिति, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—खिदन्त उत्तरपदे इजन्तस्य एकाचोऽमागमो भवति, स च 'अम्' प्रत्ययवच्च = द्वितीयैकवचनवच्च भवति ॥ *उदा०*—गांमन्यः, स्त्रींमन्यः, स्त्रियंमन्यः, नरंमन्यः, श्रियंमन्यः, भ्रुवंमन्यः ॥

भाषार्थः—खिदन्त उत्तरपद रहते [*इचः*] इजन्त [*एकाचः*] एकाच् को [*अम्*] अम् आगम हो जाता है और वह अम् [*प्रत्ययवत्*] प्रत्यय के समान [*च*] *भी* माना जाता है अर्थात् द्वितीया के एकवचन में जो 'अम्' प्रत्यय है तद्वत् ही इस 'अम्' में कार्य होंगे। प्रत्ययवत् माने जाने से गांमन्यः यहाँ *औतोम्शसोः* (६।१।९०) से पूर्व पर के स्थान में आकार एकादेश हो जाता है, तथा स्त्रियंमन्यः यहाँ *वाम्शसोः* (६।४।८०) से इयङादेश विकल्प करके होता है। जिस पक्ष में इयङ् नहीं हुआ तब *अमि पूर्वः* (६।१।१०३) से पूर्वसवर्ण एकादेश होकर स्त्रींमन्यः बन गया। इसी प्रकार प्रत्ययवत् अम् को मानने से नरंमन्यः यहाँ नृ को *ऋतोङि-सर्व०* (७।३।११०) से गुण एवं श्रियंमन्यः भ्रुवंमन्यः में *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) से (अम् को अजादि प्रत्ययवत् मानकर) क्रमशः इयङ् उवङ् आदेश होता है ॥ पूर्ववत् सर्वत्र खिदन्त उत्तरपद है ही ॥

वाचंयमपुरन्दरौ च ॥६।३।६८॥

वाचंयमपुरन्दरौ १।२॥ च अ०॥ *स०*—वाचंयम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मुम् ॥ *अर्थः*—वाचंयम पुरन्दर इत्यत्र मुमागमो निपात्यते ॥ *उदा०*—वाचंयम आस्ते। पुरं दारयतीति पुरंदरः ॥

भाषार्थः—[*वाचंयमपुरन्दरौ*] वाचंयम पुरन्दर इन शब्दों में [*च*] भी मुम् आगम निपातन किया जाता है। वाचंयमः में *वाचि यमो व्रते* (३।२।४०) से खच् तथा पुरन्दरः में *पूःसर्वयोर्दारिसहोः* (३।२।४१) से खच् प्रत्यय होता है ॥

कारे सत्यागदस्य ॥६।३।६९॥

कारे ७।१॥ सत्यागदस्य ६।१॥ *स०*—सत्यञ्च अगदञ्च सत्यागदम्,

तस्य ''समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मुम्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—कारशब्द उत्तरपदे सत्य, अगद इत्येतयोर्मुमागमो भवति ॥ *उदा०*—सत्यं करोतीति सत्यङ्कारः, अगदङ्कारः ॥

भाषार्थः—[*कारे*] कार शब्द उत्तरपद रहते [*सत्यागदस्य*] सत्य तथा अगद शब्द को मुम् आगम हो जाता है ॥ मुम् के 'म्' को अनुस्वार (८।३।२४) तथा परसवर्ण (८।४।५७) होकर 'ङ्' हो जायेगा ॥

श्येनतिलस्य पाते ञे ॥६।३।७०॥

श्येनतिलस्य ६।१॥ पाते ७।१॥ ञे ७।१॥ *स०*—श्येनश्च तिलश्च श्येनतिलम्, तस्य''समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मुम्, उत्तरपदे ॥*अर्थः*—श्येन तिल इत्येतयोः ञे प्रत्यये पातशब्द उत्तरपदे मुमागमो भवति ॥ *उदा०*—श्येनपातोऽस्यां क्रीडायां श्यैनम्पाता मृगया, तैलम्पाता ॥

भाषार्थः—[*श्येनतिलस्य*] श्येन तथा तिल शब्द को [*पाते*] पात शब्द के उत्तरपद रहते तथा [*ञे*] ञ प्रत्यय के परे रहते मुम् आगम होता है ॥ *घञः सास्यां क्रियेति ञः* (४।२।५७) से घञन्त तिलपात एवं श्येनपात शब्दों से ञ प्रत्यय हुआ है, अतः ञ प्रत्यय परे है ही, एवं पात शब्द भी उत्तरपद है । ञ के ञित् होने से आदि को (७।२।११७) वृद्धि हो ही जायेगी ॥

रात्रेः कृति विभाषा ॥६।३।७१॥

रात्रेः ६।१॥ कृति ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—मुम्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—कृदन्त उत्तरपदे रात्रिशब्दस्य विभाषा मुमागमो भवति ॥ *उदा०*—रात्रिञ्चरः । रात्रिचरः, रात्रिमटः, रात्र्यटः ॥

भाषार्थः—[*कृति*] कृदन्त उत्तरपद रहते [*रात्रेः*] रात्रि शब्द को [*विभाषा*] विकल्प करके मुम् आगम होता है ॥ चर धातु से रात्रि उपपद रहते चरेष्टः (३।२।१६) से कृत्संज्ञक ट प्रत्यय हुआ है, एवं अट धातु से पचाद्यच् हुआ है, इस प्रकार कृदन्त उत्तरपद उदाहरणों में है ही । रात्र्यटः में यणादेश हो गया है ॥

नलोपो नञः ॥६।३।७२॥

नलोपः १।१॥ नञः ६।१॥ *स०*—नकारस्य लोपः नलोपः षष्ठी-

तत्पुरुषः ।। अनु०—उत्तरपदे ।। अर्थः—नञो नकारस्य लोपो भवत्युत्तरपदे परतः ।। उदा०—अब्राह्मणः, अवृषलः, असुरापः, असोमपः ।।

भाषार्थः—[नञः] नञ् के [नलोपः] नकार का लोप हो जाता है, उत्तरपद परे रहते ।। न् हल् का लोप करने पर 'अ' शेष रहेगा ।।

यहाँ से 'नञः' की अनुवृत्ति ६।३।७६ तक जायेगी ।।

तस्मान्नुडचि ।।६।३।७३।।

तस्मात् ५।१।। नुट् १।१।। अचि ७।१।। अनु०—नञः, उत्तरपदे ।। अर्थः—तस्मात् लुप्तनकारात् नञः नुट् आगमो भवति अजादावुत्तरपदे ।। उदा०—अनजः, अनश्वः ।।

भाषार्थः—[तस्मात्] उस लुप्त हुए नकार वाले नञ् से उत्तर [नुट्] नुट् का आगम [अचि] अजादि शब्द के उत्तरपद रहते होता है ।। 'तस्मात्' से यहाँ प्रकृत नलोपो नञः से कहा हुआ लुप्त नकार वाला नञ् ही निर्दिष्ट है ।। न+अजः = अ+अजः यहाँ नुट् आगम होकर अनजः अनश्वः बन गया ।।

नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या ।।६।३।७४।।

नभ्राण्न''केषु ७।३।। प्रकृत्या ३।१।। स०—नभ्राण्न० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—नञः ।। अर्थः—नभ्राट्, नपात्, नवेदा, नासत्या, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक इत्येतेषु नञ् प्रकृत्या भवति ।। उदा०—न भ्राजते = नभ्राट् । न पातीति नपात् । न वेत्तीति नवेदाः । सत्सु साधवः सत्याः, न सत्या असत्याः, न असत्याः नासत्याः । न मुञ्चतीति नमुचिः । नास्य कुलमस्तीति नकुलः । नास्य खमस्तीति नखम् । न स्त्री न पुमान् = नपुंसकम् । न क्षरति क्षीयते इति वा नक्षत्रम् । न क्रामतीति नक्रः । नास्मिन् अकमिति नाकम् ।।

भाषार्थः—[नभ्राण्न''नाकेषु] नभ्राट्, नपात्, नवेदा, नासत्या, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक इन शब्दों में जो नञ् उसे [प्रकृत्या] प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् नलोपो नञः, तस्मान्नुडचि सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती ।। नभ्राट् में भ्राज् धातु से भ्राजभास० (३।२।१७७) से क्विप् एवं व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से षत्व जश्त्व चर्त्व

होकर टकार हुआ। नपात् में पात् शत्रन्त है। नवेदाः में विद् धातु औणादिक असुन् प्रत्ययान्त है। जो सज्जनों में असाधु नहीं हैं वे नासत्याः कहे जायेंगे। नमुचिः यहाँ औणादिक (उणा० ४।१२०) 'कि' प्रत्यय हुआ है। नपुंसकम् यहाँ स्त्रीपुंस को पुंसक भाव निपातन से होता है। नक्रः यहाँ क्रम धातु से ड प्रत्यय निपातन से होता है। टि भाग का लोप होकर 'न क्र् अ = नक्र' बन गया। कम् सुख को कहते हैं, अतः अकम् दुःख होगा, पुनः नञ् समास करने पर अकम् का विपरीत नाकम् स्वर्ग कहा जायेगा॥

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।३।७६ तक जायेगी॥

एकादिश्चैकस्य चादुक् ॥६।३।७५॥

एकादिः १।१॥ च अ०॥ एकस्य ६।१॥ च अ०॥ आदुक् १।१॥ *स०*—एक आदिर्यस्य स एकादिः, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—प्रकृत्या, नञः॥ *अर्थः*—एकादिर्नञ् प्रकृत्या भवति, एकशब्दस्य च आदुक् आगमो भवति॥ *उदा०*—एकेन न विंशतिः एकान्नविंशतिः, एकाद्नविंशतिः। एकान्नत्रिंशत्, एकाद्नत्रिंशत्॥

भाषार्थः—[*एकादिः*] एक है आदि में जिसके ऐसे नञ् को [*च*] भी प्रकृतिभाव होता है [*च*] तथा [*एकस्य*] एक शब्द को [*आदुक्*] आदुक् का आगम होता है॥ विंशति शब्द से पहले नञ् समास होता है, पश्चात् एक शब्द के साथ तृतीया तत्पुरुष समास होता है। 'एक आदुक् न विंशति' यहाँ प्रकृतिभाव होकर तथा द् को *यरोऽनुनासिके०* (८।४।४४) से अनुनासिक आदेश होकर एकान्नविंशतिः बन गया। पक्ष में जब अनुनासिक नहीं हुआ तो एकाद्नविंशतिः ही रहा॥

नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् ॥६।३।७६॥

नगः १।१॥ अप्राणिषु ७।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—न प्राणिनोऽप्राणिनस्तेषु ..... नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—प्रकृत्या, नञः, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—अप्राणिषु वर्त्तमानो यो नगशब्दस्तत्र नञ् प्रकृत्या विकल्पेन भवति॥ *उदा०*—न गच्छन्तीति = नगाः वृक्षाः, अगाः वृक्षाः, नगाः पर्वताः अगाः पर्वताः॥

भाषार्थः—[*अप्राणिषु*] प्राणि भिन्न अर्थ में वर्त्तमान जो [*नगः*]

नग शब्द उसके नञ् को प्रकृतिभाव [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके होता है ॥ *डप्रकरणे अन्येष्वपि०* (*वा०* ३।२।४८) इस वार्त्तिक से गम धातु से ड प्रत्यय होकर नगः बना है ॥

सहस्य सः संज्ञायाम् ॥६।३।७७॥

सहस्य ६।१॥ सः १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—सह अश्वत्थेन = साश्वत्थम्, सपलाशम्, सशिंशपम् ॥

भाषार्थः—[*सहस्य*] सह शब्द को [*सः*] स आदेश [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में होता है ॥ *तेन सहेति तुल्ययोगे* (२।२।२८) से उदाहरणों में बहुव्रीहि समास हुआ है ॥

यहाँ से '*सहस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।८२ तक तथा '*सः*' की अनुवृत्ति ६।३।८८ तक जायेगी ॥

ग्रन्थान्ताधिके च ॥६।३।७८॥

ग्रन्थान्ताधिके ७।१॥ च अ० ॥ *स०*--ग्रन्थस्यान्तः ग्रन्थान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः। ग्रन्थान्तश्च अधिकञ्च ग्रन्थान्ताधिकं, तस्मिन् ······समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सहस्य, सः उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ग्रन्थान्तेऽधिके च वर्त्तमानस्य सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सकलं ज्योतिषमधीते, समुहूर्त्तम्। अधिके—सद्रोणा खारी, समाषः कार्षापणः, सकाकिणीको माषः ॥

भाषार्थः—[*ग्रन्थान्ताधिके*] ग्रन्थ के अन्त एवं अधिक अर्थ में वर्त्तमान सह शब्द को [*च*] भी स आदेश होता है ॥ कला काल विशेष का नाम है। तत्सहचरित जो ग्रन्थ वह कलया सह वर्त्तते सकलम् (कला पर्यन्त) कहा जायेगा। इसी प्रकार समुहूर्त्तम् में जानें। अर्थात् ग्रन्थ में जहां कला वा मुहूर्त्त का वर्णन है वहां तक ग्रन्थ पढ़ा। सद्रोणा खारी का अर्थ है, द्रोण से अधिक खारी। सर्वत्र पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है ॥

द्वितीये चानुपाख्ये ॥६।३।७९॥

द्वितीये ७।१॥ च अ० ॥ अनुपाख्ये ७।१॥ *अनु०*—सहस्य सः, उत्तरपदे ॥ द्वयोः सहयुक्तयोरप्रधानो यः स द्वितीयः। उपाख्यायते

प्रत्यक्षत उपलभ्यते यः स उपाख्यः। उपाख्यादन्योऽनुपाख्यः, अनुमेय इत्यर्थः॥ *अर्थः*—अनुमेये द्वितीये च सहस्य स इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—साग्निः कपोतः, सपिशाचा वात्या, सराक्षसीका शाला॥

भाषार्थः—दो में जो अप्रधान हो वह यहाँ द्वितीय शब्द से कहा गया है क्योंकि प्रधान तथा अप्रधान दोनों के होने पर अप्रधान को ही 'द्वितीय' कहा जाता है। प्रत्यक्ष उपलभ्यमान को उपाख्य तथा उससे अन्य अर्थात् अनुमेय (अनुमान किया जाने योग्य) को अनुपाख्य कहेंगे॥ [*द्वितीये*] अप्रधान [*अनुपाख्ये*] अनुमेय को कहने में [*च*] भी सह को स आदेश हो जाता है॥ साग्निः आदि में पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। कपोत आग खाता है, ऐसी लौकिक प्रसिद्धि है, अतः जहाँ २ कपोत है, वहाँ २ आग भी होगी ऐसा अनुपाख्य अनुमेय हुआ। जहाँ २ आग है वहाँ २ कपोत अवश्य होगा, ऐसा अनुमान नहीं हो सकता, किन्तु जहाँ २ कपोत है वहाँ २ आग होगी ऐसा अनुमान होता है, इससे कपोत की प्रधानता सिद्ध होती है, तथा अग्नि की अप्रधानता। इस प्रकार अग्नि अनुपाख्य एवं द्वितीय = अप्रधान दोनों ही है, सो सह को स भाव हो गया। इसी प्रकार वात्या[1] (आँधी) से पिशाच अनुमेय एवं द्वितीय = अप्रधान भी है अतः सपिशाचा, सराक्षसीका बन गया॥

अव्ययीभावे चाकाले ॥६।३।८०॥

अव्ययीभावे ७।१॥ च अ०॥ अकाले ७।१॥ *स०*—न कालोऽकालस्तस्मिन्""'नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—सहस्य सः, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—अव्ययीभावे च समासेऽकालवाचिन्युत्तरपदे सहस्य स इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—सचक्रं धेहि, सधुरं प्राज॥

---

१. कपोत का मांस अत्युष्ण होता है। पक्षाघात (लकवा मारना) सदृश वात प्रधान रोगों में मांसाशियों को कपोतमांस पथ्यरूप में दिया जाता है। उससे पक्षाघात रोग में सद्यः लाभ होता है। अत एव लोक में प्रसिद्धि है कि कपोत अग्नि खाता है। इसी प्रकार वात्या (= बबूला) आदि में फँस जाने के कारण निर्बल प्रकृति के पुरुष को कभी कभी उन्माद रोग हो जाता है इसी से लोक में प्रसिद्धि है वात्या (बबूला) में पिशाच का वास होता है। तद्वत् सराक्षसीका शाला भी मलिन शाला को कहेंगे॥

भाषार्थः—[*अव्ययीभावे*] अव्ययीभाव समास में [च] भी [*अकाले*] अकालवाची शब्दों के उत्तरपद रहते सह को स आदेश होता है। सचक्र' सधुरं में *अव्ययं विभक्तिसमीप०* (२।१।६) से अव्ययीभाव समास हुआ है। सधुरं में *ऋक्पूरब्धूः०* (५।४।७४) से समासान्त अकार प्रत्यय हुआ है॥

वोपसर्जनस्य ॥६।३।८१॥

वा अ० ॥ उपसर्जनस्य ६।१॥ *अनु०*—सहस्य, सः ॥ *अर्थः*—यस्य समासस्य सर्वेऽवयवा: उपसर्जनीभूतास्तदवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सपुत्रः, सहपुत्रः, सच्छात्रः, सहच्छात्रः ॥

भाषार्थः—जिस समास के सारे अवयव [*उपसर्जनस्य*] उपसर्जन हैं, तदवयव = उसके अवयव सह शब्द को [*वा*] विकल्प से 'स' आदेश होता है॥ यहाँ 'उपसर्जनस्य' पद सह शब्द का विशेषण न होकर पूरे समास के पदों का विशेषण है, अतः 'जिसके सारे अवयव उपसर्जन हैं' ऐसा अर्थ होगा। इस प्रकार बहुव्रीहि समास में ही समास के सारे पद उपसर्जन होते हैं, अतः यह विधि बहुव्रीहि समास में ही होगी॥

प्रकृत्याऽशिषि ॥६।३।८२॥

प्रकृत्या ३।१॥ आशिषि ७।१॥ *अनु०*—सहस्य ॥ *अर्थः*—आशिषि विषये सहशब्दः प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—स्वस्ति देवदत्ताय सहपुत्राय सहच्छात्राय सहामात्याय ॥

भाषार्थः—[*आशिषि*] आशीर्वाद विषय में सह शब्द को [*प्रकृत्या*] प्रकृतिभाव हो जाता है॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी यहाँ प्रकृतिभाव कहने से आशीर्वाद विषय में स आदेश नहीं हुआ॥

समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु ॥६।३।८३॥

समानस्य ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु ७।३॥ *स०*—मूर्द्धा च प्रभृतिश्च उदर्कश्च मूर्धप्रभृत्युदर्काः, इतरेतरद्वन्द्वः। न मूर्धप्रभृत्युदर्काः अमूर्द्धप्रभृत्युदर्कास्तेषु ''''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये समानशब्दस्य 'स' इत्ययमादेशो भवति

मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क इत्येतान्युत्तरपदानि वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—
अनुभ्राता सगर्भ्यः । अनुसखा सयूथ्यः । यो नः सनुत्यः ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*समानस्य*] समान शब्द को 'स' आदेश हो जाता है [*अमूर्धप्रभृत्युदर्केषु*] मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क उत्तरपद में न हों तो ॥ समानो गर्भः = सगर्भः, तत्र भवः सगर्भ्यः, सयूथ्यः, सनुत्यः । यहाँ *सगर्भसयूथ०* (४।४।११४) से यत् प्रत्यय हुआ है, एवं सर्वत्र *पूर्वापरप्रथम०* (२।१।५०) से समास भी जानें ॥

यहाँ से '*समानस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।८८ तक जायेगी ॥

ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचन-बन्धुषु ॥६।३।८४॥

ज्योतिर्ज·····बन्धुषु ७।३॥ *स०*—ज्योतिश्च, जनपदश्च रात्रिश्च नाभिश्च नाम च गोत्रञ्च रूपञ्च स्थानञ्च वर्णश्च वयश्च वचनञ्च बन्धुश्च ज्योतिर्ज·····बन्धवस्तेषु·····इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—समानं ज्योतिरस्य = सज्योतिः, सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः, सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्थानः, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सबन्धुः ॥

भाषार्थः—[*ज्योतिर्ज·····बन्धुषु*] ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इन शब्दों के उत्तरपद रहते समान को स आदेश हो जाता है ॥ सनामा यहाँ *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) से तथा सवयाः यहाँ *अत्वसन्तस्य०* (६।४।१४) से दीर्घ हुआ है ॥

चरणे ब्रह्मचारिणि ॥६।३।८५॥

चरणे ७।१॥ ब्रह्मचारिणि ७।१॥ *अनु०*—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे चरणे गम्यमाने समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी । समाने ब्रह्मणि व्रतचारी = सब्रह्मचारी ॥

भाषार्थः—[*चरणे*] चरण गम्यमान[1] हो तो [*ब्रह्मचारिणि*] ब्रह्मचा उत्तरपद रहते समान शब्द को स आदेश हो जाता है ॥ ब्रह्म वेद कहते हैं, उसके अध्ययन के लिये जो व्रत वह भी ब्रह्म कहाता है, उ व्रत में जो चले वह ब्रह्मचारी होगा। *व्रते* (३।२।८०) से णिनि प्रत्य हुआ है। इस प्रकार समान ब्रह्म (वेद) में जो व्रत करे वह सब्रह्मचा होगा ॥

तीर्थे ये ॥६।३।८६॥

तीर्थे ७।१॥ ये ७।१॥ अनु०—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—यप्रत्यये परतस्तीर्थशब्द उत्तरपदे समानस्य स इत्ययमादेशो भवति। *उदा०*—सतीर्थ्यः ॥

भाषार्थः—[*तीर्थे*] तीर्थ शब्द उत्तरपद में हो तो [*ये*] य प्रत्यय परे रहते समान शब्द को स आदेश होता है ॥ समान का तीर्थ शब्द के साथ कर्मधारय समास होकर *समानतीर्थे वासी* (४।४।१०७) से यत् प्रत्यय होता है, पश्चात् समान को स आदेश हो ही जायेगा ॥

यहाँ से 'ये' की अनुवृत्ति ६।३।८७ तक जायेगी ॥

---

१. ब्रह्म नाम वेद का है। यदि यहाँ ब्रह्म शब्द से प्रधान ऋग्वेदादि चार वेदों का ही ग्रहण माना जाए तो ऋग्वेद की समस्त शाखाओं के अध्येता परस्पर सब्रह्मचारी होंगे, पर यह इष्ट नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म से वेद की तत् तत् शाखा का ही ग्रहण किया जाए तो केवल उस उस शाखा के अध्येता ही परस्पर सब्रह्मचारी होंगे, परन्तु इतने ही अर्थ में सब्रह्मचारी पद प्रयुक्त नहीं होता। अतः सूत्रकार ने "चरणे" विशेष पद पढ़ा है। एक मूल शाखा की अवान्तर शाखाओं का समूह चरण कहाता है। जैसे ऋग्वेद की शाकल आदि मुख्य पाँच शाखाएँ हुई। उनकी फिर अवान्तर शाखाएँ हुईं, वे सब अवान्तर शाखाएँ शाकल आदि मुख्य चरण शब्द से व्यवहृत होती हैं। इसी प्रकार वाजसनेय मुख्य विभाग की १५ माध्यन्दिन काण्व आदि अवान्तर शाखाएँ हुईं, ये सभी वाजसनेय चरण नाम से व्यवहृत होती हैं। इसी प्रकार तैत्तिरीय मैत्रायणी काठक आदि भी चरण शब्द हैं न कि शाखामात्र। इस प्रकार वाजसनेय चरण अन्तर्गत किन्हीं भी भिन्न भिन्न शाखाओं के अध्येता भी एक चरणान्तर्गत होने से परस्पर सब्रह्मचारी कहाते हैं ॥

विभाषोदरे ॥६।३।८७॥

विभाषा १।१॥ उदरे ७।१॥ *अनु०*—ये, समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उदरशब्द उत्तरपदे यप्रत्यये परतः समानशब्दस्य विभाषा स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सोदर्यः, समानोदर्यः ॥

भाषार्थः—[*उदरे*] उदर शब्द उत्तरपद रहते य प्रत्यय परे हो तो समान शब्द को स आदेश [*विभाषा*] विकल्प करके होता है ॥ समानोदर्यः में *समानोदरे शयित ओ चोदात्तः* (४।४।१०८) से यत् प्रत्यय तथा सोदर्यः में *सोदराद्यः* (४।४।१०९) से य प्रत्यय हुआ है ॥

दृग्दृशवतुषु ॥६।३।८८॥

दृग्दृशवतुषु ७।३॥ *स०*—दृक्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—दृक्, दृश, वतु इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सदृक्, सदृशः ॥

भाषार्थः—[*दृग्दृशवतुषु*] दृक्, दृश, वतु इनके उत्तरपद रहते समान शब्द को स आदेश हो जाता है ॥ *समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्* (वा० ३।२।६०) इस वार्त्तिक से समान उपपद रहते भी किन् तथा कञ् प्रत्यय होता है, अतः सदृक्, सदृशः बन गया। वतुप् प्रत्यय *यत्तदेतेभ्यः परिमाणे०* (५।२।३९) से यत् तद् एवं एतद् से ही होता है, अतः समान शब्द से उत्तर वतुप् सम्भव न होने से यहाँ वतुप् परे का उदाहरण नहीं दिया है। इस प्रकार वतुप् ग्रहण उत्तरार्थ है ॥

यहाँ से '*दृग्दृशवतुषु*' की अनुवृत्ति ६।३।९० तक जायेगी ॥

इदङ्किमोरीश्की ॥६।३।८९॥

इदङ्किमोः ६।२॥ ईश्की लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *स०*— इदम् च किम् च इदम्किमौ, तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः। ईश्० इत्यत्रापि इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—दृग्दृशवतुषु, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—इदम्, किम् इत्येतयोः ईश्, की इत्येतौ यथासंख्यमादेशौ भवतः दृग्दृशवतुषु परतः ॥ *उदा०*—ईदृक्, ईदृशः, इयान्। कीदृक्, कीदृशः, कियान् ॥

भाषार्थः—[*इदंकिमोः*] इदम् तथा किम् को यथासंख्य करके [*ईश्की*] ईश् तथा की आदेश हो जाते हैं, दृग् दृश तथा वतुप् परे

रहते ॥ ईदृक् ईदृशः कीदृक् कीदृशः में कञ् तथा क्विन् प्रत्यय पूर्व सूत्रानुसार जानें । इयान् कियान् की सिद्धि भाग २ परि० ५।२।४० पृ० ५४८ में देखें ॥

आ सर्वनाम्नः ॥६।३।९०॥

आ १।१॥ सर्वनाम्नः ६।१॥ *अनु०*—दृग्दृशवतुषु, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—सर्वनाम्नः आकारादेशो भवति दृग्दृशवतुषु परतः ॥ *उदा०*—तादृक्, तादृशः, तावान् । यादृक्, यादृशः, यावान् ॥

भाषार्थः-[*सर्वनाम्नः*] सर्वनाम संज्ञक शब्दों को [*आ*] आकारादेश होता है, दृग् दृश तथा वतुप् परे रहते ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से तद् यद् के अन्तिम अल् को आकारादेश होता है । पूर्ववत् कञ्, क्विन् प्रत्यय होंगे ॥

यहाँ से '*सर्वनाम्नः*' की अनुवृत्ति ६।३।९१ तक जायेगी ॥

विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये ॥६।३।९१॥

विष्वग्देवयोः ६।२॥ च अ०॥ टेः ६।१॥ अद्रि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ अञ्चतौ ७।१॥ वप्रत्यये ७।१॥ *स०*— विष्वक्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । वः प्रत्ययो यस्मात् स वप्रत्ययस्तस्मिन्...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सर्वनाम्नः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—विष्वक् देव इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च टेः अद्रीत्ययमादेशो भवति, अञ्चतौ वप्रत्ययान्त उत्तरपदे ॥ *उदा०*—विष्वगञ्चतीति विष्वद्र्यङ्, देवद्र्यङ् । सर्वनाम्नः—तद्र्यङ्, यद्र्यङ् ॥

भाषार्थः—[*विष्वग्देवयोः*] विष्वग् एवं देव शब्दों के [*च*] तथा सर्वनाम शब्दों के [*टेः*] टि को [*अद्रि*] अद्रि आदेश होता है, [*वप्रत्यये*] वप्रत्ययान्त [*अञ्चतौ*] अञ्चु धातु के परे रहते ॥ क्विप्, क्विन् का जो 'व' उसी का यहाँ वप्रत्यय से अभिप्राय है ॥ अञ्चु धातु से *ऋत्विग्दधृक्०* (३।२।५९) से क्विन् प्रत्यय होकर 'अङ्' बना है, इसकी सिद्धि भाग १ परि० ३।२।५९ में देखें । अब इस वप्रत्ययान्त अञ्चु के परे रहते विष्वक् के टि भाग 'अक्' को तथा देव के टि भाग 'अ' को 'अद्रि' आदेश होकर 'विष्व् अद्रि अङ् तथा देव् अद्रि अङ्' रहा । यणादेश होकर विष्वद्र्यङ् देवद्र्यङ् बन गया । तद् यद् से भी इसी प्रकार तद्र्यङ्, यद्र्यङ् की सिद्धि जानें ॥

यहाँ से '*अञ्चतौ वप्रत्यये*' की अनुवृत्ति ६।३।९४ तक जायेगी ॥

समः समि ॥६।३।९२॥

समः ६।१॥ समि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *अनु०*—अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—सम् इत्येतस्य समि इत्ययमादेशो भवति वप्रत्ययान्तेऽञ्चता वुत्तरपदे ॥ *उदा०*—सम्यङ्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः ॥

भाषार्थः—[*समः*] सम् को [*समि*] समि आदेश होता है, वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु के उत्तरपद रहते ॥ पूर्ववत् सिद्धि जानें ॥

तिरसस्तिर्यलोपे ॥६।३।९३॥

तिरसः ६।१॥ तिरि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अलोपे ७।१॥ *स०*—अलोप इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—तिरस् इत्येतस्य तिरि इत्ययमादेशो भवति वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतोऽलोपे सति ॥ *उदा०*—तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः ॥

भाषार्थः—[*तिरसः*] तिरस् को [*तिरि*] तिरि आदेश वप्रत्ययान्त अञ्चु के उत्तरपद रहते होता है, यदि इसका = अञ्चु का [*अलोपे*] लोप न हुआ हो तो ॥ तिरश्चा इत्यादि में अञ्चु के 'अ' का लोप *अचः* (६।४।१३८) से होता है, अतः 'अलोपे' कहकर इसी विषय का प्रतिषेध किया है ॥

सहस्य सध्रिः ॥६।३।९४॥

सहस्य ६।१॥ सध्रिः १।१॥ *अनु०*—अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—सहस्य सध्रिरित्ययमादेशो भवति वप्रत्ययान्तेऽञ्चतावुत्तरपदे ॥ *उदा०*—सध्र्यङ्, सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः, सध्रीचः॥

भाषार्थः—[*सहस्य*] सह शब्द को [*सध्रिः*] सध्रि आदेश वप्रत्ययान्त अञ्चु के उत्तरपद रहते होता है ॥ सध्रीचः में अचः (६।४।१३८) से अञ्चु के अ का लोप तथा चौ (६।३।१३६) से पूर्वपद को दीर्घ हुआ है ॥

यहाँ से '*सहस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।९५ तक जायेगी ॥

सध मादस्थयोश्छन्दसि ॥६।३।९५॥

सध लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ मादस्थयोः ७।२॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—माद० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सहस्य, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—माद स्थ इत्येतयोरुत्तरपदयोश्छन्दसि विषये सहस्य सध इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सधमादो द्युम्न्य एकास्ताः । सधस्थाः ॥

भाषार्थः—[*मादस्थयोः*] माद तथा स्थ उत्तरपद रहते [*छन्दसि*] वेद विषय में सह शब्द को [*सध*] सध आदेश होता है ॥

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ॥६।३।९६॥

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः ५।३॥ अपः ६।१॥ ईत् १।१॥ *स०*—द्विश्च[1] अन्तश्च उपसर्गश्च द्व्यन्तरुपसर्गास्तेभ्यः' 'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—द्वि अन्तर् इत्येताभ्यामुपसर्गाच्चोत्तरस्य 'अप्' इत्येतस्य ईकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—द्वीपम्, अन्तरीपम् । उपसर्गात्—नीपम्, वीपम्, समीपम् ॥

भाषार्थः—[*द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः*] द्वि अन्तर् तथा उपसर्ग से उत्तर [*अपः*] अप् शब्द को [*ईत्*] ईकारादेश हो जाता है ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से अप् के अकार को ई होता है। सिद्धियाँ भाग १ परि० १।१।५३ पृ० ७२७ में देखें ॥

यहाँ से '*अपः*' की अनुवृत्ति ६।३।९७ तक जायेगी ॥

ऊदनोर्देशे ॥६।३।९७॥

ऊत् १।१॥ अनोः ५।१॥ देशे ७।१॥ *अनु०*—अपः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अनोः उत्तरस्य अप् इत्येतस्य ऊकारादेशो भवति देशे वाच्ये ॥ *उदा०*—अनुगता आपोऽस्मिन् = अनूपो देशः ॥

भाषार्थः—[*अनोः*] अनु से उत्तर अप् शब्द को [*ऊत्*] ऊकारादेश होता है [*देशे*] देश को कहने में ॥ पूर्ववत् अप् के अ को ऊकार होता है ॥

---

१. शब्दस्वरूपापेक्षोऽयं प्रयोगः ।

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु ॥६।३।९८॥

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य ६।१॥ अन्यस्य ६।१॥ दुक् १।१॥ आशी···गच्छेषु ७।३॥ स०—न षष्ठी अषष्ठी, न तृतीया अतृतीया, नञ्तत्पुरुषः। अषष्ठी च अतृतीया च अषष्ठ्यतृतीये, तयोः तिष्ठतीति अषष्ठ्यतृतीयास्थः, तस्य·····इतेरतरद्वन्द्वगर्भतत्पुरुषः। आशीरा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—उत्तरपदे॥ *अर्थः*—आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इत्येतेषु परतः अषष्ठीस्थस्य अतृतीयास्थस्य चान्यशब्दस्य 'दुक्' आगमो भवति॥ *उदा०*—अन्या आशीः = अन्यदाशीः। अन्या आशा = अन्यदाशा। अन्या आस्था = अन्यदास्था। अन्य—आस्थितः = अन्यदास्थितः। अन्य उत्सुकः = अन्यदुत्सुकः। अन्या ऊतिः = अन्यदूतिः। अन्यः कारकः = अन्यत्कारकः। अन्यो रागः = अन्यद्रागः। अन्यस्मिन् भवः = अन्यदीयः॥

भाषार्थः—[*आशी··गच्छेषु*] आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इनके परे रहते [*अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य*] अषष्ठी स्थित तथा अतृतीयास्थित [*अन्यस्य*] अन्य शब्द को [*दुक्*] दुक् आगम होता है॥ अन्य दुक् आशीः = अन्यदाशीः। इसी प्रकार सबमें जानें। अन्यदीयः यहाँ *गहादिभ्यश्च* (४।२।१३७) से छ प्रत्यय हुआ है॥

यहाँ से '*अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य दुक्*' की अनुवृत्ति ६।३।९९ तक जायेगी॥

अर्थे विभाषा ॥६।३।९९॥

अर्थे ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य दुक्, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—अर्थशब्द उत्तरपदेऽषष्ठीस्थस्यातृतीयास्थस्यान्यस्य विभाषा दुगागमो भवति॥ *उदा०*—अन्यस्मै इदम् = अन्यदर्थम्। अन्यार्थम्॥

भाषार्थः—[*अर्थे*] अर्थ शब्द उत्तरपद में हो तो अषष्ठीस्थ तथा अतृतीयास्थ अन्य शब्द को [*विभाषा*] विकल्प करके दुक् आगम होता है॥

कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ॥६।३।१००॥

कोः ६।१॥ कत् १।१॥ तत्पुरुषे ७।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—उत्तरपदे ॥ अर्थः—अजादावुत्तरपदे तत्पुरुषे समासे कु इत्येतस्य कदित्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कुत्सितोऽजः = कदजः, कदश्वः कदुष्ट्रः, कदन्नम् ॥

भाषार्थः—[*कोः*] कु को [*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में [*अचि*] अजादि शब्द उत्तरपद हो तो [*कत्*] कत् आदेश होता है ॥ *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से कदजः आदि में समास हुआ है । *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से जश्त्व होकर त् को द् हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*कोः*' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक तथा '*कत्*' की ६।३।१०२ तक जायेगी ॥

रथवदयोश्च ॥६।३।१०१॥

रथवदयोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—रथ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कोः, कत्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—रथ वद इत्येतयोश्चोत्तरपदयोः कोः कदित्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—कद्रथः, कद्वदः ॥

भाषार्थः—[*रथवदयोः*] रथ तथा वद शब्द उत्तरपद में हो तो [च] भी कु को कत् आदेश होता है ॥

तृणे च जातौ ॥६।३।१०२॥

तृणे ७।१॥ च अ० ॥ जातौ ७।१॥ अनु०—कोः, कत्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—तृणशब्द उत्तरपदे कोः कदादेशो भवति जातावभिधेयायाम् ॥ *उदा०*— कत्तृणा नाम जातिः ॥

भाषार्थः—[*तृणे*] तृण शब्द उत्तरपद में हो तो [च] भी कु को कत् आदेश होता है [*जातौ*] जाति अभिधेय होने पर ॥

का पथ्यक्षयोः ॥६।३।१०३॥

का १।१॥ पथ्यक्षयोः ७।२॥ *स०*—पथ्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पथिन् अक्ष इत्येतयोरुत्तरपदयोः कोः

का इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—कुत्सितः पन्थाः = कापथः, कुत्सिते-अक्षिणी अस्य = काक्षः ॥

भाषार्थः—[*पथ्यक्षयोः*] पथिन् तथा अक्ष शब्द उत्तरपद हो तो कु शब्द को [*का*] का आदेश होता है ॥ कापथः में *ऋक्पूरब्धूः०* (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय तथा काक्षः में *बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०* (५।४।११३) से समासान्त षच् प्रत्यय हुआ है। का पथिन् अ = *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टि भाग का लोप होकर कापथः काक्षः बन गया ॥

यहाँ से '*का*' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी ॥

ईषदर्थे ॥६।३।१०४॥

ईषदर्थे ७।१॥ *स०*—ईषदः अर्थः ईषदर्थस्तस्मिन्......षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—का, कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ईषदर्थे वर्त्तमानस्य कोः का इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—ईषन्मधुरम् = कामधुरम्, कालवणम् ॥

भाषार्थः—[*ईषदर्थे*] ईषत् (थोड़ा) के अर्थ में वर्त्तमान कु शब्द को 'का' आदेश हो जाता है ॥ पूर्ववत् *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से तत्पुरुष समास उदाहरणों में जानें ॥

विभाषा पुरुषे ॥६।३।१०५॥

विभाषा १।१॥ पुरुषे ७।१॥ *अनु०*— का, कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पुरुषशब्द उत्तरपदे कोः का इत्ययमादेशो विकल्पेन भवति ॥ *उदा०*—कापुरुषः, कुपुरुषः ॥

भाषार्थः—[*पुरुषे*] पुरुष शब्द उत्तरपद हो तो [*विभाषा*] विकल्प से कु शब्द को 'का' आदेश हो जाता है ॥ जब का आदेश नहीं होगा तो कु ही रहेगा ॥ यहाँ भी तत्पुरुष समास पूर्ववत् जानें ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी ॥

कवं चोष्णे ॥६।३।१०६॥

कवम् १।१॥ च अ०॥ उष्णे ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, का, कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उष्णशब्द उत्तरपदे कोः कवमित्ययमादेशो भवति, का च विकल्पेन ॥ *उदा०*—कवोष्णम्, कोष्णम्, कदुष्णम् ॥

भाषार्थः—[*उष्णे*] उष्ण शब्द उत्तरपद रहते कु शब्द को [*कवम्*] कव आदेश [च] भी होता है, एवं विकल्प से का आदेश भी होता है ॥ 'कव' आदेश होकर कवोष्णम् तथा 'का' होकर कोष्णम् एवं पक्ष में जब 'का' आदेश नहीं हुआ तो अजादि उष्ण शब्द के परे रहते *कोः कत्तत्०* (६।३।१००) से कत् आदेश होकर कदुष्णम् बन गया ॥

यहाँ से '*कवम्*' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी ॥

पथि च च्छन्दसि ॥६।३।१०७॥

पथि ७।१॥ च अ०॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, कवम्, का, कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पथिन् शब्द उत्तरपदे छन्दसि विषये कोः कव, का इत्येतावादेशौ विकल्पेन भवतः ॥ *उदा०*—कवपथः, कापथः, कुपथः ॥

भाषार्थः—[*पथि*] पथिन् शब्द उत्तरपद रहते [च] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में कु को 'कव' तथा 'का' आदेश विकल्प करके होते हैं ॥ पक्ष में जब कव एवं का आदेश नहीं होंगे तो कु ही रह कर 'कुपथः' बनेगा ॥

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥६।३।१०८॥

पृषोदरादीनि १।३॥ यथोपदिष्टम् अ०॥ *स०*—पृषोदर आदिः येषाम् तानि पृषोदरादीनि, बहुव्रीहिः। यानि यानि (शिष्टैः) उपदिष्टानि यथोपदिष्टम्, *यथाऽसादृश्ये* (२।१।७) इति वीप्सायामव्ययीभावः ॥ *अर्थः*—पृषोदरप्रकाराणि शब्दरूपाणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि भवन्ति ॥ दिशिरत्रोच्चारणक्रियः, उपदिष्टान्युच्चारितानीत्यर्थः ॥ *उदा०*—पृषद् उदरं यस्य तत् पृषोदरम्। पृषद् उद्वानं यस्य तत् पृषोद्वानम्। उभयत्र तकारलोपः। वारिवाहको बलाहकः। पूर्वपदस्य वारिशब्दस्य 'ब' आदेशः उत्तरपदादेश्च लत्वम्। जीवनस्य मूतः जीमूतः। अत्र वनशब्दस्य लोपः। शवानां शयनं श्मशानम्। अत्र शवशब्दस्य 'श्म' आदेशः, शयनशब्दस्यापि 'शान' आदेशः ॥

भाषार्थः—[*पृषोदरादीनि*] पृषोदर इत्यादि शब्दरूप (शिष्टों के द्वारा) [*यथोपदिष्टम्*] जिस प्रकार उच्चरित हैं वैसे ही साधु माने जाते हैं ॥ अर्थात् जहाँ लोप-आगम-वर्ण विकार-वर्णविपर्यय आदि देखा जाये, किन्तु शास्त्र

द्वारा उसका विधान न हो, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट पुरुषों द्वारा उच्चरित होने के कारण साधु समझना चाहिये ॥ शिष्ट कौन होते हैं ? इस विषय में इसी सूत्र के महाभाष्य में कहा है—एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्र भवन्तः शिष्टाः ॥

अर्थात् इस आर्य निवास (आर्यावर्त देश) में रहनेवाले कुम्भीधान्य (जो घर में घड़ाभर ही अन्न रखते हैं) लोभरहित, बिना किसी कारण के अर्थात् निष्काम भाव से जो किसी विद्या में पारङ्गत हैं ऐसे व्यक्ति शिष्ट कहाते हैं ।

धर्मशास्त्रों में शिष्ट का लक्षण षडङ्गवेदवित् किया है ऐसे महाविद्वान् शिष्टपुरुषों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के यथार्थ ज्ञान के लिए ही भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी बनाई । इसीलिए महाभाष्य में कहा है—*शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी* (६।३।१०७)[1] ।

उपर्युक्त उदाहरणों में कहां किसका लोप वा आगम आदेश आदि हुआ है यह दर्शा दिया है ॥

संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहनन्यतरस्याम् ङौ ॥६।३।१०९॥

संख्याविसायपूर्वस्य ६।१॥ अह्नस्य ६।१॥ अहन् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ ङौ ७।१॥ *स०*—संख्या च विश्च सायश्च संख्याविसायम्, इत्येतत् पूर्वं यस्य स संख्याविसायपूर्वस्तस्य "द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अर्थः*—संख्या, वि, साय इत्येवंपूर्वस्य अह्न शब्दस्य स्थाने अहन् इत्ययमादेशो भवति विकल्पेन, ङौ परतः ॥ *उदा०*—द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः

---

१. आजकल के वैयाकरण महाभाष्यकार के 'शिष्टपरिज्ञानार्था अष्टाध्यायी' नियम को न मानकर ऋषिकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों की विवेचना भी अष्टाध्यायी के आधार पर करते हैं और जो शब्द अष्टाध्यायी के नियमों से सिद्ध नहीं होते उन्हें आर्ष प्रयोग अर्थात् असाधु प्रयोग मानते हैं । वस्तुतः यह प्रक्रिया शास्त्रविरुद्ध है । आर्ष शब्द सभी साधु हैं उनका साधुत्व इसी सूत्र से समझ लेना चाहिये ।

तस्मिन् द्व्यह्नि द्व्यहनि । त्र्यह्नि त्र्यहनि । व्यपगतमहो व्यह्नः तस्मिन् व्यह्नि व्यहनि । सायमह्नः = सायाह्नः । सायाह्नि, सायाहनि ॥ यदा 'अहन्' आदेशो न तदा द्व्यह्ने त्र्यह्ने सायाह्ने इति ॥

भाषार्थः—[*संख्याविसायपूर्वस्य*] संख्या, वि तथा साय पूर्व वाले [*अह्नस्य*] अह्न शब्द को [*अहन्*] अहन् आदेश [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके होता है [*ङौ*] ङि परे रहते ॥ द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः त्र्यह्नः में *तद्धितार्थोत्तर०* (२।१।५०) से समास, भवार्थ में उत्पन्न औत्सर्गिक अण् का *द्विगोर्लुगनपत्ये* (४।१।८८) से लुक् ५।४।८८ से अह्नादेश होगा, तथा द्व्यह्न त्र्यह्न से पुनः सप्तमी विभक्ति आने पर 'अह्न' को अहन् आदेश, *विभाषा ङिश्योः*(६।४।१३६) से विकल्प से अकार लोप होकर द्व्यह्नि द्व्यहनि बनेगा। सायाह्न में इसी सूत्र के ज्ञापक से एकदेशी समास जानना चाहिए ॥

[*दीर्घप्रकरणम्*]

ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥६।३।११०॥

ढ्रलोपे ७।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ दीर्घः १।१॥ अणः ६।१॥ *स०*—ढकारश्च रेफश्च ढ्रौ, तयोर्लोपो यस्मिन् स ढ्रलोपस्तस्मिन्...... द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—ढ्रलोपे पूर्वस्याणो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—ढलोपे—लीढम्, मीढम्, उपगूढम्, मूढः । रलोपे—नीरक्तम्, अग्नी रथः, इन्दू रथः, पुना रक्तं वासः, प्राता राजक्रयः ॥

भाषार्थः—[*ढ्रलोपे*] ढकार एवं रेफ का लोप हुआ है जिसमें उसके [*पूर्वस्य*] पूर्व [*अणः*] अण् को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ लिह् आस्वादने धातु से क्त होकर *हो ढः* (८।२।३१) *झषस्तथो०* (८।२।४०) *ष्टुना ष्टुः* (८।४।४०) लगकर 'लिढ् ढ' रहा । अब *ढो ढे लोपः* (८।३।१३) से एक ढ् का लोप होने से ढलोप से पूर्व अण् 'इ' को प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर लीढम् बन गया । इसी प्रकार मिह् सेचने से मीढम्, गुह् से उपगूढम्, मुह् से मूढः बनेगा । नीरक्तम् यहाँ 'निर् रक्तम्' ऐसी स्थिति में *कुगतिप्रा०* (२।२।१८) से समास तथा निर् के रेफ का *रो रि* (८।३।१४) से लोप हुआ है, अतः प्रकृत सूत्र से दीर्घ हो गया । इसी प्रकार अग्निस् = अग्निर् रथः, इन्दुर् रथः, सर्वत्र रेफ का लोप होकर दीर्घ हुआ है, ऐसा जानें ॥

यहाँ से '*ढ्रलोपे*' की अनुवृत्ति ६।३।१११ तक '*पूर्वस्य*' की ६।३।११२ तक एवं '*दीर्घः*' की ६।४।१८ तक तथा '*अणः*' की ६।४।२ तक जायेगी ॥

सहिवहोरोदवर्णस्य ॥६।३।१११॥

सहिवहोः ६।२॥ ओत् १।१॥ अवर्णस्य ६।१॥ *स०*—सहिश्च वहश्च सहिवहौ तयोः......इतरेतरद्वन्द्वः । अश्चासौ वर्णश्च, अवर्णस्तस्य...... कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ढ्रलोपे ॥ *अर्थः*—ढ्रलोपे सह् वह् इत्येतयोरवर्णस्यौकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—सोढा, सोढुम्, सोढव्यम् । वोढा, वोढुम्, वोढव्यम् ॥

भाषार्थः—ढकार और रेफ का लोप होने पर [*सहिवहोः*] सह तथा वह् धातु के [*अवर्णस्य*] अवर्ण को [*ओत्*] ओकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् लीढम् के समान सिद्धि जानें ॥

साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे ॥६।३।११२॥

साढ्यै अ० ॥ साढ्वा अ० ॥ साढा १।१॥ इति अ० ॥ निगमे ७।१॥ *अर्थः*— साढ्यै साढ्वा साढा इति निगमे निपात्यन्ते । साढ्यै इत्यत्र सहेः क्त्वाप्रत्ययः, क्त्वाप्रत्ययस्य ध्यैभावः, ओत्वाभावश्च निपात्यते । साढ्यै समन्तात् । साढ्वा इत्यत्र पूर्ववत् क्त्वाप्रत्यय ओत्वाभावश्च निपात्यते । साढ्वा शत्रून् । साढा इति तृनि[1] रूपमेतत्, ओत्वाभावश्च पूर्ववत् ॥

भाषार्थः—[*साढ्यै साढ्वासाढेति*] साढ्यै साढ्वा तथा साढा ये शब्द [*निगमे*] वेद में निपातन किये जाते हैं ॥ साढ्यै यहाँ क्त्वाप्रत्यय को ध्यैभाव तथा ओत्व जो कि *सहिवहो०* (६।३।१११) से प्राप्त था उसका अभाव निपातन है । साढ्वा में क्त्वा प्रत्यय है ही ओत्वाभाव पूर्ववत् है । साढा यह तृन् का रूप है, यहाँ भी ओत्वाभाव निपातित है । *ढ्रलोपे पूर्वस्य०* (६।३।१०९) से सर्वत्र दीर्घ हो ही जायेगा ॥

---

१. तृचीति काशिका । उभयथाऽपि शक्यमिह विज्ञातुम्, यद्युभयप्रत्ययस्वर उपलभ्येत वेदे ।

संहितायाम् ॥६।३।११३॥

संहितायाम् ७।१॥ *अर्थः*—संहितायामित्यधिकारः, आपादपरिसमाप्तेः ॥ *उदा०*—वक्ष्यति—*द्व्यचोऽतस्तिङः* (६।३।१३४) इति—विद्मा हि, वा सत्पतिं शूर गोनाम् ॥

भाषार्थः—[*संहितायाम्*] संहितायाम् यह अधिकार सूत्र है, पाद की समाप्ति पर्यन्त जायेगा ॥ उदाहरण में विद्मा को दीर्घ हुआ है ॥ संहितायाम् कहने से पदपाठ में तथा अवग्रह में दीर्घत्व नहीं रहेगा, यही प्रयोजन है । इसी प्रकार अन्य सूत्रों में भी 'संहितायाम्' अधिकार का प्रयोजन जान लेना चाहिये ॥

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ॥६।३।११४॥

कर्णे ७।१॥ लक्षणस्य ६।१॥ अविष्टा‥‥कस्य ६।१॥ *स०*—अविष्टाष्ट० इत्यत्र पूर्वं द्वन्द्वस्ततो नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पूर्वस्य दीर्घः, अणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक इत्येतान् शब्दान् वर्जयित्वा कर्णशब्द उत्तरपदे लक्षणवाचिनोऽणो दीर्घो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—दात्राकर्णः, द्विगुणाकर्णः, त्रिगुणाकर्णः, द्व्यङ्गुलाकर्णः, त्र्यङ्गुलाकर्णः ॥

भाषार्थः—[*अविष्टाष्ट‥‥कस्य*] विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक इन शब्दों को छोड़कर [*कर्णे*] कर्ण शब्द उत्तरपद रहते [*लक्षणस्य*] लक्षणवाची शब्दों के अण् को दीर्घ होता है संहिता के विषय में ॥ जिससे लक्षित किया जाये वह लक्षण होता है । दात्रमिव दात्रम् । दात्रं कर्णे यस्य स दात्राकर्णः, अर्थात् दरांती का चिह्न जिसके कान पर है, वह दात्राकर्णः है सो दात्र उसका लक्षण है । अतः लक्षणवाची माना जाने से दीर्घ हो गया है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी बहुव्रीहि समासादि सब कुछ जानें ॥

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ॥६।३।११५॥

नहिवृ‥‥निषु ७।३॥ क्वौ ७।१॥ *स०*—नहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥

ानु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नहि, वृति, वृषि, व्यधि, चि, सहि, तनि, इत्येतेषु क्विप्प्रत्ययान्तेषूत्तरपदेषु पूर्वस्याणो दीर्घो ावति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—नहि—उपानत्, परीणत्। वृति-ोवृत्, उपावृत्। वृषि—प्रावृट्, उपावृट्। व्यधि-मर्मावित्, हृदया-ात्, श्वावित्। रुचि-नीरुक्, अभीरुक्। सहि-ऋतीषट्। तनि-तरीतत्॥

भाषार्थः—[*नहि*···*तनिषु*] नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि, नि इन [*क्वौ*] क्विप्प्रत्ययान्त शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्व अण् को ार्घ हो जाता है संहिता के विषय में ॥ उपानत् यहाँ नह् धातु के ह् को हो धः (८।२।३४) से धत्व हुआ है, पश्चात् जश्त्व (८।२।३८) एवं चर्त्व ८।४।५५) होकर उप नत् प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर उपानत् बना है। परिणह्य-ाति परीणत् यहाँ *उपसर्गादसमासे०* (८।४।१४) से णत्व ही विशेष हुआ ै। *संपदादिभ्यः* क्विप् (वा० ३।३।९४) इस वार्त्तिक से क्विप् हुआ ै। नीवृत् यहाँ *अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते* (३।२।७५) से क्विप् हुआ है। सी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी क्विप् जानें। प्रावृट् यहाँ वृष् धातु ो ष् को जश्त्व डकार एवं चर्त्व टकार हुआ है। मर्मावित् यहाँ व्यध ातु को *ग्रहिज्या०* (६।१।१६) से संप्रसारण होता है। नीरुक् यहाँ रुच् ातु के च् को क् *चोः कुः* (८।२।३०) से हो जाता है। ऋतीषट् यहाँ हेः *पृतनर्ताभ्यां च* (८।३।१०६) को योगविभाग करके षत्व होता है। रीतत् यहाँ *गमादीनामिति वक्तव्यम्* (वा० ६।४।४०) इस वार्त्तिक से तन ो अनुनासिक का लोप हो जाता है॥

वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम् ॥६।३।११६॥

वनगिर्योः ७।२॥ संज्ञायाम् ७।१॥ कोटरकिंशुलकादीनाम् ६।३॥ ०—वन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। कोटरश्च किंशुलकश्च कोटरकिंशुलकौ, ौ आदी येषां ते कोटरकिंशुलकादयस्तेषाम्···द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ *अनु०*—र्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम्॥ *अर्थः*—वन गिरि इत्येतयोरुत्तर दयोर्यथासंख्यं कोटरादीनाम् किंशुलकादीनां च दीर्घो भवति, संज्ञायां षये ॥ *उदा०*—वने कोटरादीनाम्—कोटरावणम्, मिश्रकावणम्, ाध्रकावणम्, सारिकावणम्। गिरौ किंशुलकादीनाम्—किंशुलकागिरिः ाञ्जनागिरिः॥

भाषार्थः—[*वनगिर्योः*] वन तथा गिरि शब्द उत्तरपद रहते यथासंख्य करके [*कोट···दीनाम्*] कोटरादि एवं किंशुलकादि गणपठित शब्दों को [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में दीर्घ होता है ॥ अर्थात् वन परे रहते कोटरादियों को एवं गिरि परे रहते किंशुलकादियों को दीर्घ हो जाता है ॥ मिश्रकावणम् आदि में वन शब्द के नकार को *वनं पुरगामिश्रका०* (८।४।४) से णत्व होता है तथा सर्वत्र षष्ठीसमास है ॥

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ६।३।११९ तक जायेगी ॥

वले ॥६।३।११७॥

वले ७।१॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वले परतः संज्ञायां विषये पूर्वस्याणो दीर्घो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—आसुतीवलः, दन्तावलः, कृषीवलः ॥

भाषार्थः—[*वले*] वल परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है ॥ संज्ञा को कहने में ॥ वल से वलच् प्रत्यय लिया गया है, जो कि *रजःकृष्यासुति०* (५।२।११२) से होता है ॥

मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् ॥६।३।११८॥

मतौ ७।१॥ बह्वचः ६।१॥ अनजिरादीनाम् ६।३॥ *स०*—बह्वोऽचो यस्मिन् स बह्वच् तस्य···बहुव्रीहिः । अजिर आदिर्येषां ते अजिरादयः, न अजिरादयोऽनजिरादयस्तेषाम्···बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अजिरादिवर्जितस्य बह्वचो मतौ परतोऽणोदीर्घो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—उदुम्बरावती, मशकावती, वीरणावती, पुष्करावती, अमरावती ॥

भाषार्थः—[*अनजिरादीनाम्*] अजिरादियों को छोड़ कर [*मतौ*] मतुप् परे रहते [*बह्वचः*] बह्वच् शब्दों के अण् को दीर्घ होता है संज्ञा विषय में ॥ उदाहरणों में *नद्यां मतुप्* (४।२।८४) से मतुप् होता है । उदुम्बर मशक आदि शब्द बह्वच् हैं ही ॥

यहाँ से '*मतौ*' की अनुवृत्ति ६।३।११९ तक जायेगी ॥

शरादीनां च ॥६।३।११९॥

शरादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—शरा० इत्यत्र बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—

मतौ, संज्ञायाम्, पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—शरादीनां च मतौ दीर्घो भवति, संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—शरावती, वंशावती ॥

भाषार्थः—[*शरादीनाम्*] शरादियों को [च] भी संज्ञा विषय में मतुप् परे रहते दीर्घ होता है ॥ पूर्ववत् मतुप् प्रत्यय होकर *संज्ञायाम्* (८।२।११) से मतुप् के म को वत्व हुआ है ।

इको वहेऽपीलोः ॥६।३।१२०॥

इकः ६।१॥ वहे ७।१॥ अपीलोः ६।१॥ *स०*—अपीलोः इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—दीर्घः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पीलुवर्जितस्य इगन्तस्य पूर्वपदस्य वह उत्तरपदे दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—ऋषीवहम्, कपीवहम्, मुनीवहम् ॥

भाषार्थः—[*अपीलोः*] पीलु शब्द को छोड़कर जो [*इकः*] इगन्त पूर्वपद वाले शब्द उनको [*वहे*] 'वह' शब्द के उत्तरपद रहते दीर्घ होता है ॥ वह शब्द पचाद्यजन्त है । ऋषीवहम् आदि में षष्ठीसमास हुआ है ॥

उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ॥६।३।१२१॥

उपसर्गस्य ६।१॥ घञि ७।१॥ अमनुष्ये ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *स०*—अमनुष्य इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—घञन्त उत्तरपदेऽमनुष्येऽभिधेय उपसर्गस्याणो बहुलं दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—वीक्लेदः, वीमार्गः, अपामार्गः । न च भवति बहुलवचनात्—प्रसेवः, प्रसारः ॥

भाषार्थः—[*घञि*] घञन्त उत्तरपद रहते [*अमनुष्ये*] अमनुष्य अभिधेय होने पर [*उपसर्गस्य*] उपसर्ग के अण् को [*बहुलम्*] बहुल करके दीर्घ होता है ॥ वीक्लेदः वीमार्गः यहाँ क्लिद तथा मृजूष् धातु से *अकर्त्तरि च कारके०* (३।३।१९) से घञ् हुआ है । वीमार्गः यहाँ मृजू धातु को *मृजेर्वृद्धिः* (७।२।११४) से वृद्धि एवं *चजोः कु०* (७।३।५२) से कुत्व हुआ है ॥

यहाँ से '*उपसर्गस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।१२३ तक जायेगी ॥

इकः काशे ॥६।३।१२२॥

इकः ६।१॥ काशे ७।१॥ *अनु०*—उपसर्गस्य, दीर्घः, उत्तरप संहितायाम्॥ *अर्थः*—इगन्तस्य उपसर्गस्य काशशब्द उत्तरपदे दीर्घ भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—नीकाशः, वीकाशः, अनूकाशः ॥

भाषार्थः—[*इकः*] इगन्त उपसर्ग को [*काशे*] काश शब्द उत्तरप रहते दीर्घ होता है संहिता के विषय में ॥ काशृ दीप्तौ धातु से पचाद्य करके काश शब्द बना है ॥

यहाँ से '*इकः*' की अनुवृत्ति ६।३।१२३ तक जायेगी ॥

दस्ति ॥६।३।१२३॥

दः ६।१॥ ति ७।१॥ अनु०—इकः, उपसर्गस्य, दीर्घः, संहितायाम् । अर्थः—दा इत्येतस्य यस्तकारादिरादेशस्तस्मिन् परत इगन्तस्योपसर्गस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*— नीत्तम्, वीत्तम्, परीत्तम् ॥

भाषार्थः—[*दः*] दा के स्थान में हुआ जो [*ति*] तकारादि आदेश उस के परे रहते इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होता है ॥ नि दा क्त = यहाँ *अच उपसर्गात्तः* (७।४।४७) से दा धातु के अन्त्य अल् (१।१।५१) को तकारादेश होकर नि द् त् त रहा । *खरि च* (८।४।५४) से द् को त् एवं *झरो झरि सवर्णे* (८।४।६४) से एक तकार का लोप तथा प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर नीत्तम् वीत्तम् आदि बना ॥ 'दः' यहाँ स्थानि-आदेश संबन्ध में षष्ठी है, अतः 'दा के स्थान में जो तकारादि आदेश' ऐसा अर्थ किया है ॥

अष्टनः संज्ञायाम् ॥६।३।१२४॥

अष्टनः ६।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, संहितायाम्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अष्टन् इत्येतस्य उत्तरपदे परतः संज्ञायां विषये दीर्घ भवति ॥ *उदा०*—अष्टौ वक्राण्यस्य = अष्टावक्रः, अष्टाबन्धुरः, अष्टापदम् ।

भाषार्थः—[*अष्टनः*] अष्टन् शब्द को उत्तरपद परे रहते [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में दीर्घ होता है ॥ *नलोपः प्राति०* (८।२।७) से नकार लोप हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*अष्टनः*' की अनुवृत्ति ६।३।१२५ तक जायेगी ॥

छन्दसि च ॥६।३।१२५॥

छन्दसि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अष्टनः, पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे संहितायाम् ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये अष्टन् इत्येतस्य दीर्घो भवति, उत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् । अष्टाहिरण्या दक्षिणा । अष्टापदी देवता सुमती ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*च*] भी अष्टन् शब्द को दीर्घ हो जाता है, उत्तरपद परे रहते ॥ अष्टसु कपालेषु संस्कृतमष्टाकपालम् यहाँ *संस्कृतम्* (४।४।३) से अण् होकर उसका *द्विगोर्लुगनपत्ये* (४।१।८८) से लुक् हुआ है । अष्टौ पादा अस्या अष्टापदी यहाँ *पादस्य लोपो०* (५।४।१३८) से पाद शब्द के अ का लोप हुआ है, तथा *पादोऽन्यतरस्याम्* (४।१।८) से ङीप् हुआ है । अष्टाहिरण्या यहाँ अष्टौ हिरण्यानि परिमाणमस्य इस तद्धितार्थ में समास तथा *तदस्य परिमाणम्* (५।१।५६) से उत्पन्न प्रत्यय का *अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्* (५।१।२८) से लुक् होता है ॥

चितेः कपि ॥६।३।१२६॥

चितेः ६।१॥ कपि ७।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोणः संहितायाम् ॥ *अर्थः*—कपि परतश्चितिशब्दस्य दीर्घो भवति संहितायां विषये॥ *उदा०*—एका चितिरस्य = एकचितीकः, द्विचितीकः, त्रिचितीकः ॥

भाषार्थः—[*कपि*] कप् परे रहते [*चितेः*] चिति शब्द को दीर्घ हो जाता है, संहिता विषय में ॥ *स्त्रियाःपुंवद्०* (६।३।३२) से उदाहरणों में पुंवद्भाव हुआ है, तथा *शेषाद्विभाषा* (५।४।१५४) से कप् प्रत्यय होता है ॥

विश्वस्य वसुराटोः ॥६।३।१२७॥

विश्वस्य ६।१॥ वसुराटोः ७।२॥ *स०*—वसु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—विश्व इत्येतस्य वसु, राट् इत्येतयोरुत्तरपदयोः दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—विश्वं वसु यस्य स विश्वावसुः । विश्वस्मिन् राजते इति विश्वाराट् ॥

भाषार्थः—[*वसुराटोः*] वसु तथा राट् उत्तरपद रहते [*विश्वस्य*] विश्व शब्द को दीर्घ हो जाता है ॥ विश्वाराट् यहाँ राज् धातु से *सत्सूद्विष०*

(३।२।६१) से क्विप् हुआ है। सिद्धि (३।२।६१) इसी सूत्र के परिशि
में देखें ॥

यहाँ से '*विश्वस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।१२९ तक जायेगी ॥

नरे संज्ञायाम् ॥६।३।१२८॥

नरे ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—विश्वस्य, पूर्वस्य, दीर्घोणः उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नरशब्द उत्तरपदे संज्ञायां विषये विश्व शब्दस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—विश्वानरो नाम यस्य वैश्वानरिः पुत्रः ।

भाषार्थः—[*नरे*] नर शब्द उत्तरपद रहते [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में विश्व शब्द को दीर्घ होता है ॥

मित्रे चर्षौ ॥६।३।१२९॥

मित्रे ७।१॥ च अ०॥ ऋषौ ७।१॥ *अनु०*—विश्वस्य, पूर्वस्य, दीर्घोणः उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ऋषावभिधेये मित्रे चोत्तरपदे विश्वस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—विश्वामित्रो नाम ऋषिः ॥

भाषार्थः—[*मित्रे*] मित्र शब्द उत्तरपद रहते [*च*] भी [*ऋषौ*] ऋषि अभिधेय होने पर विश्व शब्द को दीर्घ हो जाता है ॥

मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ ॥६।३।१३०॥

मन्त्रे ७।१॥ सोमा·····स्य ६।१॥ मतौ ७।१॥ *स०*—सोम० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य इत्येतेषां मतुप् प्रत्यये परतो दीर्घो भवति मन्त्रविषये संहितायाम् ॥ *उदा०*—सोमावती, अश्वावती, इन्द्रियावती, विश्वदेव्यावती ॥

भाषार्थः—[*सोमा·····स्य*] सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य इन शब्दों को [*मतौ*] मतुप् प्रत्यय परे रहने पर दीर्घ हो जाता है, [*मन्त्रे*] मन्त्र विषय में ॥ उदाहरणों में *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् होगा ॥

यहाँ से '*मन्त्रे*' की अनुवृत्ति ६।३।१३१ तक जायेगी ॥

ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् ॥६।३।१३१॥

ओषधेः ६।१॥ च अ० ॥ विभक्तौ ७।१॥ अप्रथमायाम् ७।१॥ *स०*—

प्र० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—मन्त्रे, संहितायाम्, पूर्वस्य, ोर्घोणः ॥ *अर्थः*—अप्रथमायां विभक्तौ परत ओषधिशब्दस्य दीर्घो भवति न्त्रविषये ॥ *उदा०*—ओषधीभिरपीपतत् । नमः पृथिव्यै नम ोषधीभ्यः ॥

भाषार्थः—मन्त्र विषय में [*अप्रथमायाम्*] प्रथमा भिन्न [*विभक्तौ*] वेभक्ति के परे रहते [*ओषधेः*] ओषधि शब्द को [*च*] भी दीर्घ हो ाता है ॥

ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् ॥६।३।१३२॥

ऋचि ७।१॥ तुनु······णाम् ६।३॥ *स०*—तुनु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संहितायाम्, दीर्घोणः ॥ *अर्थः*—ऋचि विषये तु, नु, घ, मक्षु, ाङ्, कु, त्र, उरुष्य इत्येतेषां शब्दानां दीर्घो भवति संहितायाम् वेषये ॥ *उदा०*—आ तू न इन्द्र वृत्रहन् (ऋ० ४।३२।१) । नु—नू करणे ग—उत वा घा स्यालात् (ऋ० १।१०६।२) । मक्षु—मक्षू गोमन्तमीमहे (ऋ० ८।३३।३) तङ्—भरता जातवेदसम् (ऋ० १०।१७६।२) । कु—कूमनः । त्र— अत्रा गौः । उरुष्य—उरुष्या णोऽग्नेः ॥

भाषार्थः—[*तुनु······णाम्*] तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, त्र, उरुष्य इन शब्दों को [*ऋचि*] ऋचा विषय में दीर्घ हो जाता है संहिता विषय में ॥ लोट् लकार में *लोटो लङ्वत्* (३।४।८५) से लङ्वत् अतिदेश कर के मध्यम-पुरुष बहुवचन 'थ' को *तस्थस्थमिपां तांतंतामः* (३।४।१०१) से जो 'त' आदेश होता है, तथा उसको लङ्वत् होने से ङित् माना जाता है, उस 'थ' का यहाँ 'तङ्' से ग्रहण है ॥ अत्रा यह त्रलन्त (५।३।१०) का रूप है। *एतदोऽन्* (५।३।५) से त्रल् प्रत्यय करने पर अन् आदेश हुआ है। उरुष्या यहाँ पहले आत्मन उरुमिच्छति ऐसा विग्रह करके उरु शब्द से *सुप आत्मनः क्यच्* (३।१।८) से क्यच् प्रत्यय किया। पश्चात् *सर्वप्राति-पदिकेभ्यो लालसायासुग्वक्तव्यः* (वा० ७।१।५१) इस वार्त्तिक से सुक् आगम होकर उरु सुक् क्यच्=उरु स् य रहा। *सुषामादिषु च* (८।३।९८) से षत्व होकर लोट् मध्यमपुरुष एकवचन में *अतो हेः* (६।४।१०५) से हि का लुक् एवं दीर्घत्व होकर 'उरुष्या' बना है ॥

यहाँ से '*ऋचि*' की अनुवृत्ति ६।३।१३५ तक जायेगी ॥

इकः सुञि ॥६।३।१३३॥

इकः ६।१॥ सुञि ७।१॥ अनु०—ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम् दीर्घः ॥ अर्थः—इगन्तस्य सुञि परतो ऋग्विषये दीर्घो भवति संहित याम् विषये ॥ उदा०—अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३) । ऊ ऊ षु ण ऊतये ॥

भाषार्थः—[इकः] इगन्त शब्द को [सुञि] सुञ् परे रहते ऋच विषय में दीर्घ हो जाता है संहिता विषय में ॥ सुञ् यह निपात लिर गया है । सुञः (८।३।१०७) से सुञ् के सु को षत्व हुआ है । उससे पू इगन्त 'अभि' एवं 'उ' को प्रकृत सूत्र से दीर्घ हुआ है । न को ण नः धातुस्थो० (८।४।२६) से जानें ॥

द्व्यचोऽतस्तिङः ॥६।३।१३४॥

द्व्यचः ६।१॥ अतः ६।१॥ तिङः ६।१॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, तस्य द्व्यचः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम् दीर्घः ॥ अर्थः—द्व्यचस्तिङन्तस्य अत ऋग्विषये दीर्घो भवति संहिताय विषये ॥ उदा०—विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूरगोनाम् । विद्मा स तस्य पितरम् ॥

भाषार्थः—[द्व्यचः] दो अच् वाले [तिङः] तिङन्त के [अतः] अकार को ऋचा विषय में दीर्घ होता है संहिता विषय में ॥ विद्म यह लोट् लकार के 'मस्' का रूप है, उसे दीर्घ होकर विद्मा बना है ।

निपातस्य च ॥६।३।१३५॥

निपातस्य ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घोऽणः ॥ अर्थः—ऋग्विषये निपातस्य च दीर्घो भवति ॥ उदा०—एवा ते । अच्छा ते ॥

भाषार्थः—ऋचा विषय में [निपातस्य] निपात को [च] भी दीर्घ हो जाता है ॥ एव अच्छ चादि गण (१।४।५७) में पठित हैं, अतः निपात हैं ॥

अन्येषामपि दृश्यते ॥६।३।१३६॥

अन्येषाम् ६।३॥ अपि अ० ॥ दृश्यते क्रियापदम् ॥ *अनु०*—दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अन्येषामपि दीर्घो दृश्यते ॥ यस्य दीर्घो न विहितः, दृश्यते च प्रयोगे, सः अनेन सूत्रेण शिष्टप्रयोगादनुगन्तव्यः ॥ *उदा०*—केशाकेशि, कचाकचि, नारकः, पूरुषः ॥

भाषार्थः—[*अन्येषाम्*] अन्यों को (शब्दों को) [*अपि*] भी दीर्घ [*दृश्यते*] देखा जाता है, अर्थात् जिनको सूत्रों से दीर्घत्व नहीं कहा किन्तु देखा जाता है, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट प्रयोग मान कर साधु समझना चाहिये ॥ कचाकचि, केशाकेशि में *तत्र तेने०* (२।२।२७) से समास तथा इच् *कर्म०* (५।४।१२७) से समासान्त इच् प्रत्यय होता है ॥

चौ ॥६।३।१३७॥

चौ ७।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—चौ परतः पूर्वस्याणो दीर्घो भवति ॥ चौ इत्यनेन अञ्चतिर्लुप्तनकारो गृह्यते ॥ *उदा०*—दधीचः पश्य, दधीचा, दधीचे, मधूचः पश्य, मधूचा मधूचे ॥

भाषार्थः—[*चौ*] चु परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है ॥ चु से यहाँ नकार लोप की हुई अञ्चु धातु का ग्रहण है ॥ *अनिदितां०* (६।४।२४) से अञ्च् के नकार का लोप एवं *अचः* (६।४।१३८) से अकार लोप होकर अञ्चु का च् शेष रहता है। क्विन् प्रत्यय *ऋत्विग्दधृ०* (३।२।५९) से होता ही है। सो 'दधि च् शस्' = दीर्घ होकर दधीचः बन गया। इसी प्रकार मधूचः आदि में जानें ॥

संप्रसारणस्य ॥६।३।१३८॥

संप्रसारणस्य ६।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—संप्रसारणान्तस्य पूर्वपदस्याण उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—कारीषगन्धीपुत्रः, कारीषगन्धीपतिः, कौमुदगन्धीपुत्रः, कौमुदगन्धीपतिः ॥

भाषार्थः—[*संप्रसारणस्य*] सम्प्रसारणान्त पूर्वपद के अण् को उत्तरपद परे रहते दीर्घ होता है ॥ कारीषगन्ध्या की सिद्धि भाग २ परि० ४।१।७४ पृ०

५४१ में की गई है, अतः उसे वहीं समझ लें। आगे कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः, कारीषगन्ध्यायाः पतिः विग्रह करके कारीषगन्धीपुत्रः आदि बना है जिसकी सिद्धि ष्यङः सम्प्रसारणं० (६।१।१३) में स्पष्ट रूप से देखें कारीषगन्धि आदि शब्द सम्प्रसारणान्त हैं, अतः पुत्र पति शब्द उत्तरपद रहते प्रकृत सूत्र से दीर्घ हो गया है ॥

यहाँ से '*सम्प्रसारणस्य*' की अनुवृत्ति ६।४।२ तक जायेगी ॥

॥ *इति तृतीयः पादः* ॥

—:०:—

चतुर्थः पादः

अङ्गस्य ॥६।४।१॥

अङ्गस्य ६।१॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम् आसप्तमाध्यायपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽङ्गस्य इत्येवं तद्वेदितव्यम् ॥ *उदा०*—वक्ष्यति-हलः। हूतः, जीनः, संवीतः ॥

भावार्थः—[*अङ्गस्य*] 'अङ्गस्य' यह अधिकार सूत्र है। सप्तमाध्याय की समाप्ति (७।४।९७) पर्यन्त इसका अधिकार जायेगा सो आगे के सभी सूत्रों में यह बैठता जायेगा ॥ 'अङ्गस्य' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी है ॥ *यस्मात् प्रत्ययविधि०* (१।४।१३) से अङ्गसंज्ञा होती है। हूतः संवीतः की सिद्धि सूत्र ६।१।१५ में तथा जीनः की परि० ६।१।१६ में देखें ॥

हलः ॥६।४।२॥

हलः ५।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य, सम्प्रसारणस्य, दीर्घः, अणः ॥ *अर्थः*—अङ्गावयवाद् हलः परं यत् सम्प्रसारणम् अण् तदन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—हूतः, जीनः, संवीतः ॥

भाषार्थः—अङ्ग का अवयव जो [*हलः*] हल् उससे उत्तर जो सम्प्रसारण अण् तदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ॥ अर्थ करने में दो बार अङ्ग ग्रहण 'अङ्ग' शब्द की आवृत्ति करके किया है ॥ ह्वेञ् से 'हु त' बन जाने पर अङ्ग जो 'हु' उसका हल् अवयव 'ह्' है, उस ह् से उत्तर 'उ' सम्प्रसारण संज्ञक है, अतः तदन्त 'हु' अङ्ग को दीर्घ हो गया । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में सूत्रार्थ घटा लें ॥

'अणः' की अनुवृत्ति ६।३।१०९ से यहाँ तक आने पर भी उपयोगिता की दृष्टि से अर्थ में यहीं विशेषरूप से प्रदर्शित की है जो कि द्वितीयावृत्ति में समझ आ जायेगी ॥

नामि ॥६।४।३॥

नामि ७।१॥ अनु०—अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—नामि परतोऽङ्गस्य दीर्घो भवति ॥ उदा०—अग्नीनाम्, वायूनाम्, कर्तॄणाम् ॥

भाषार्थः—[*नामि*] नाम् परे रहते अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ॥ नाम् से नुट् आगम किया हुआ षष्ठी बहुवचन का आम् अभिप्रेत है । *ह्रस्वनद्यापो नुट्* (७।१।५४) से नुट् आगम होता है ॥

यहाँ से '*नामि*' की अनुवृत्ति ६।४।७ तक जायेगी ॥

न तिसृचतसृ ॥६।४।४॥

न अ० ॥ तिसृचतसृ लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ (*सुपां सुलुक्*० ७।१।३९ इत्यनेन) ॥ *स*०—तिसृ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—तिसृ, चतसृ इत्येतयोर्नामि परतो दीर्घो न भवति ॥ उदा०—तिसृणाम्, चतसृणाम् ॥

भाषार्थः—[*तिसृचतसृ*] तिसृ, चतसृ अङ्ग को नाम् परे रहते दीर्घ [न] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी प्रतिषेध कर दिया । त्रि तथा चतुर् को स्त्रीलिङ्ग में *त्रिचतुरोः स्त्रियां*० (७।२।९९) से तिसृ चतसृ आदेश होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है ॥

यहाँ से '*तिसृचतसृ*' की अनुवृत्ति ६।४।५ तक जायेगी ॥

छन्दस्युभयथा ॥६।४।५॥

छन्दसि ७।१॥ उभयथा अ० ॥ *अनु०*—तिसृचतसृ नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये तिसृ चतसृ इत्येतयोर्नामि परतः उभयथा दृश्यते, दीर्घश्चादीर्घश्चेत्यर्थः ॥ *उदा०*—तिसृणाम् मध्यन्दिने, तिसृणाम् मध्यन्दिने। चतसृणाम् मध्यन्दिने, चतसृणाम् मध्यन्दिने ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में तिसृ चतसृ अङ्ग को [*उभयथा*] दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ एवं अदीर्घ दोनों ही देखा जाता है ॥

यहाँ से '*छन्दस्युभयथा*' की अनुवृत्ति ६।४।६ तक जायेगी ॥

नृ च ॥६।४।६॥

नृ लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—छन्दस्युभयथा, नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—नृ इत्येतस्य अङ्गस्य नामि परत उभयथा भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—त्वं नृणां नृपते, त्वं नृणां नृपते ॥

भाषार्थः—[*नृ*] नृ अङ्ग को [*च*] भी नाम् परे रहते वेद विषय में दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ एवं अदीर्घ देखा जाता है ॥

नोपधायाः ॥६।४।७॥

न अविभक्त्यन्तं पदम् ॥ उपधायाः ६।१॥ *अनु०*—नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—नान्तस्याङ्गस्योपधायाः नामि परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—पञ्चानाम्, सप्तानाम्, नवानाम्, दशानाम् ॥

भाषार्थः—[*न*] नकारान्त अङ्ग की [*उपधायाः*] उपधा को नाम् परे रहते दीर्घ होता है ॥ पञ्चन्, सप्तन् आदि नकारान्त अङ्ग हैं, अतः उनकी उपधा (१।१।६४) को दीर्घ हो गया है। *षट्चतुर्भ्यश्च* (७।१।५५) से पञ्चानाम् आदि में आम् को नुट् आगम हुआ है। पञ्चन् नुट् आम् = पञ्चन् नाम् यहाँ *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप होकर पञ्चानाम् बन गया ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ६।४।१० तक तथा '*उपधायाः*' की ६।४।१८ तक जायेगी ॥

सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ ॥६।४।८॥

सर्वनामस्थाने ७।१॥ च अ० ॥ असंबुद्धौ ७।१॥ स०—असंबुद्धावित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—नोपधायाः, नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—सम्बुद्धिभिन्ने सर्वनामस्थाने च परतो नान्तस्याङ्गस्योपधायाः दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ । सामानि तिष्ठन्ति, सामानि पश्य ॥

भाषार्थः—[*असम्बुद्धौ*] सम्बुद्धिभिन्न [*सर्वनामस्थाने*] सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते [च] नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है ॥ सब सिद्धियाँ भाग १ परि० १।१।४२ पृ० ७११ में देखें । सामानि यहाँ 'शि' की *शि सर्व०* (१।१।४१) से सर्वनामस्थान संज्ञा है ॥

यहाँ से '*सर्वनामस्थाने*' की अनुवृत्ति ६।४।११ तक तथा '*असम्बुद्धौ*' की ६।४।१४ तक जायेगी ॥

वा षपूर्वस्य निगमे ॥६।४।९॥

वा अ०॥ षपूर्वस्य ६।१॥ निगमे ७।१॥ *स०*—षः पूर्वो यस्मात् स षपूर्वस्तस्य…बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ, नोपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—निगमविषये नोपधायाः षपूर्वस्याऽसंबुद्धौ सर्वनामस्थाने परतो वा दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत् (मै०सं० २।४।१, काठ० १२।१०) । स तक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत् । ऋभुक्षाणमिन्द्रम् । ऋभुक्षणमिन्द्रम् ॥

भाषार्थः—[*निगमे*] वेद विषय में नकारान्त अङ्ग के उपधाभूत [*षपूर्वस्य*] षकार है पूर्व में जिससे ऐसे अच् को सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान के परे रहते [*वा*] विकल्प से दीर्घ होता है ॥ तक्षन्, ऋभुक्षिन् शब्दों में 'क्ष' के 'अ' को विकल्प से दीर्घ हुआ है, क्योंकि इस अकार से पूर्व ष् है, एवं नकार की उपधा है । ऋभुक्षिन् में पहले *इतोत्सर्वना०* (७।१।८६) से इकार को अत्व होकर पश्चात् अ को दीर्घ हुआ है ॥

सान्तमहतः संयोगस्य ॥६।४।१०॥

सान्त लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ महतः ६।१॥ संयोगस्य ६।१॥ *स०*—सोऽन्ते यस्य स सान्तस्तस्य…बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सर्वनामस्थानेऽ-

सम्बुद्धौ, नोपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—सकारान्तस्य संयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घो भवति असंबुद्धौ सर्वनामस्थाने परतः ॥ *उदा०*—श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः । श्रेयांसि, पयांसि, यशांसि । महतः-महान्, महान्तौ, महान्तः ॥

भाषार्थः—[*सान्त*] सकारान्त [*संयोगस्य*] संयोग का और [*महतः*] महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है, संबुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर ॥ पयांसि यशांसि की सिद्धि भाग १ परि १।१।४६ पृ० ७१७ में देखें । श्रेयान् महान् आदि में सकार तकार का लोप *संयोगान्तस्य०* (८।२।२३) से होगा ॥

अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् ॥६।४।११॥

अप्तृन्तृच्‌...णाम् ६।३॥ *स०*—अप्तृन्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वनामस्थानेऽसम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—अप्, तृन्, तृच्, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ इत्येतेषामङ्गानामुपधायाः सम्बुद्धिभिन्ने सर्वनामस्थाने परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—अप्-आपः । तृन्-कर्त्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः, कर्त्तारम्, कर्त्तारौ । तृच्-कर्त्ता कर्त्तारौ सर्वमग्रे पूर्ववत् । स्वसृ—स्वसा, स्वसारौ । नप्तृ—नप्ता, नप्तारौ । नेष्टृ—नेष्टा, नेष्टारौ । त्वष्टृ—त्वष्टा, त्वष्टारौ । क्षत्तृ-क्षत्ता, क्षत्तारौ । होतृ—होता, होतारौ । पोतृ—पोता, पोतारौ । प्रशास्तृ—प्रशास्ता, प्रशास्तारौ ॥

भाषार्थः—[*अप्तृ...तॄणाम्*] अप्, तृन्, तृच् प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ इन अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते ॥ तृन् तथा तृच् प्रत्ययों में रूप की दृष्टि से कोई भेद नहीं स्वर का भेद है ॥ भाग १ परि० १।१।२ के चेता नेता के समान सिद्धियाँ जानें ॥

इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ॥६।४।१२॥

इन्हन्पूषार्यम्णाम् ६।३॥ शौ ७।१॥ *स०*—इन्ह० इत्यत्रेतरेतर द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन्

इत्येवमन्तानामङ्गानामुपधायाः शौ परतो दीर्घो भवति नान्यत्र ॥ उदा०—इन्—बहुदण्डीनि, बहुच्छत्रीणि । हन्—बहुवृत्रहाणि, बहुभ्रूणहाणि । पूषन्—बहुपूषाणि । अर्यमन्—बह्वर्यमाणि ॥

भाषार्थः—[*इन्हन्पूषार्यम्णाम्*] इन्प्रत्ययान्त हन् पूषन् अर्यमन् इन अङ्गों की उपधा को [*शौ*] शि विभक्ति परे रहते ही दीर्घ होता है ॥ दण्डिन् छत्रिन् शब्दों में मत्वर्थक इनि (५।२।११५) प्रत्यय हुआ है । सर्वत्र बहु शब्द के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है ॥ सिद्धि भाग १ परि० १।१।४१ के कुण्डानि के समान है । णत्व भी ८।४।२ से तथा बहुवृत्रहाणि में ८।४।१२ से हो जायेगा ॥

यहाँ से *इन्हन्पूषार्यम्णाम्*' की अनुवृत्ति ६।४।१३ तक जायेगी ॥

सौ च ॥६।४।१३॥

सौ ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—इन्हन्पूषार्यम्णाम्, असम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—सावसम्बुद्धौ परतः इन्हन्पूषार्यम्णामुपधाया दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—दण्डी, वृत्रहा, पूषा, अर्यमा ॥

भाषार्थः—सम्बुद्धिभिन्न [*सौ*] सु विभक्ति परे रहते [*च*] भी इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है ॥ *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप उदाहरणों में हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*सौ*' की अनुवृत्ति ६।४।१४ तक जायेगी ॥

अत्वसन्तस्य चाधातोः ॥६।४।१४॥

अत्वसन्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ अधातोः ६।१॥ *स०*—अतुश्च अस्च अत्वसौ तावन्ते यस्य स अत्वसन्तस्तस्य ...... द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः । न धातुरधातुस्तस्य ...... नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सौ, असम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—धातुभिन्नस्य अत्वन्तस्य असन्तस्य चाङ्गस्योपधायाः सावसम्बुद्धौ परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—डवतु—भवान् । क्तवतु—कृतवान् । मतुप्—गोमान्, यवमान् । असन्तस्य—सुपयाः, सुयशाः, सुस्रोताः ॥

भाषार्थः—[*अधातोः*] धातु भिन्न [*अत्वसन्तस्य*] अतु तथा अस्

अन्त वाले अङ्ग की उपधा को [च] भी दीर्घ होता है संबुद्धिभिन्न सु विभक्ति परे रहते। भवान् शब्द में *भातेर्डवतुप्* (उणा० १।६३) से डवतुप् प्रत्यय हुआ है। डवतुप् का अवतु शेष रहेगा, इस प्रकार भवत् शब्द अतु अन्त वाला है। शेष सिद्धि भाग १ परि० १।१।५ के कृतवान् के समान जानें। सुपयस् सुयशस् से सुपयाः सुयशाः आदि बनेंगे ॥

अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ॥६।४।१५॥

अनुनासिकस्य ६।१॥ क्विझलोः ७।२॥ क्ङिति ७।१॥ *स०*—क्विझलोः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित् तस्मिन्''' द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ *अनु०*—उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः॥ *अर्थः*—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्योपधाया दीर्घो भवति क्विप्रत्यये परतो झलादौ च क्ङिति॥ *उदा०*—प्रशान्, प्रतान्। झलादौ किति—शान्तः, शान्तवान्, शान्त्वा, शान्तिः। ङिति—शंशान्तः, तन्तान्तः॥

भाषार्थः—[*अनुनासिकस्य*] अनुनासिकान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है [*क्विझलोः*] क्वि तथा झलादि [*क्ङिति*] कित् ङित् परे रहते॥ प्रशान् प्रतान् में शमु तथा तमु धातु से क्विप् (३।२।७६) प्रत्यय हुआ है एवं *मो नो धातोः* (८।२।६४) से म् को न् होता है। शान्तः शान्तवान् में निष्ठा प्रत्यय एवं शान्तिः में झलादि क्तिन् प्रत्यय हुआ है। शंशान्तः तन्तान्तः यहाँ भी पूर्ववत् यङन्त शमु तथा तमु धातुओं से झलादि ङित् तस् प्रत्यय हुआ है। सिद्धि भाग १ परि० २।४।७४ के पापठीति के समान ही है, केवल यहाँ *नुगतोऽनुनासि०* (७।४।८५) से अभ्यास को नुक् आगम होता है, अतः अभ्यास को दीर्घ नहीं होता, यही विशेष है, तस् परे रहते तो प्रकृत सूत्र से दीर्घ होगा ही॥

यहाँ से '*क्विझलोः*' की अनुवृत्ति ६।४।२१ तक तथा '*क्ङिति*' की ६।४।१९ तक जायेगी॥

अज्झनगमां सनि ॥६।४।१६॥

अज्झनगमाम् ६।३॥ सनि ७।१॥ *स०*—अच् च हनश्च गम् च अज्झनगमः, तेषां'''इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—झलि, अङ्गस्य, दीर्घः॥ *अर्थः*—अजन्तानामङ्गानां हनिगम्योश्च झलादौ सनि परतो दीर्घो भवति॥

उदा०—अजन्तानाम्—चिचीषति, तुष्टूषति, चिकीर्षति, जिहीर्षति। हन्—जिघांसति। गम्—अधिजिगांसते॥

भाषार्थः—[*अज्झनगमाम्*] अजन्त अङ्ग तथा हन् एवं गम् अङ्ग को झलादि [*सनि*] सन् परे रहने पर दीर्घ होता है॥ चिचीषति आदि की सिद्धि भाग १ परि० १।२।६ पृ० ७६८ में देखें। अधिजिगांसते की सिद्धि भाग १ सूत्र २।४।४८ में देखें। इङादेश जो गमि वह यहाँ लिया गया है। हन् धातु से जिघांसति की सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है। केवल यहाँ *अभ्यासाच्च* (७।३।५५) से अभ्यास से उत्तर ह् को कुत्व घ् हुआ है। अभ्यास को चुत्व आदि पूर्ववत् हो जायेंगे॥

यहाँ से '*सनि*' की अनुवृत्ति ६।४।१७ तक जायेगी॥

तनोतेर्विभाषा ॥६।४।१७॥

तनोतेः ६।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—सनि, झलि, अङ्गस्य, दीर्घः॥ *अर्थः*—तनोतेरङ्गस्य झलादौ सनि परतो विभाषा दीर्घो भवति॥ *उदा०*—तितांसति, तितंसति॥

भाषार्थः—[*तनोतेः*] तन् अङ्ग को झलादि सन् परे रहते [*विभाषा*] विकल्प से दीर्घ होता है॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् सन्नन्त की सिद्धियों के समान हैं॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।४।१८ तक जायेगी॥

क्रमश्च क्त्वि ॥६।४।१८॥

क्रमः ६।१॥ च अ०॥ क्त्वि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, झलि, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः॥ *अर्थः*—क्रमेरङ्गस्य उपधाया विभाषा दीर्घो भवति झलादौ क्त्वा प्रत्यये परतः॥ *उदा०*—क्रन्त्वा, क्रान्त्वा॥

भाषार्थः—[*क्रमः*] क्रम अङ्ग की उपधा को [*च*] भी झलादि [*क्त्वि*] क्त्वा प्रत्यय परे रहते विकल्प से दीर्घ होता है॥

च्छ्वोः शूडनुनासिके च ॥६।४।१९॥

च्छ्वोः ६।२॥ शूठ् १।१॥ अनुनासिके ७।१॥ च अ०॥ *स०*—च्छश्च वश्च च्छ्वौ तयोः च्छ्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः। शश्च ऊठ् च शूठ्,

समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—क्झिलोः क्ङिति, अङ्गस्य ।। अर्थः—च्छ् इत्येतयोः स्थाने यथासंख्यं श् ऊठ् इत्येतौ आदेशौ भवतोऽनुनासिका प्रत्यये परतः, क्वौ झलादौ च क्ङिति ।। उदा०—अनुनासिके प्रत्यये-प्रश्नः, विश्नः । वकारस्य ऊठ्-स्योनः । क्वौ छस्य-शब्दप्राट्, गोविट् । वकारस्य क्वौ—अक्षद्यूः हिरण्यद्यूः । झलादौ किति छस्य—पृष्टः पृष्टवान् पृष्ट्वा । वकारस्य झलादौ किति—द्यूतः, द्यूतवान्, द्यूत्वा ।।

भाषार्थः—[च्छ्वोः] च्छ् और व् के स्थान में यथासंख्य करके [शूठ् श् और ऊठ् आदेश होते हैं [अनुनासिके] अनुनासिकादि प्रत्यय प रहते [च] तथा क्वि और झलादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते तुक् सहित जो छकार उसको यहाँ शकारादेश होता है ।।

यहाँ से 'च्छ्वोः अनुनासिके' की अनुवृत्ति ६।४।२१ तक तथा 'शू की ६।४।२० तक जायेगी ।।

ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ।।६।४।२०।।

ज्वरत्वरस्रिव्यविमवाम् ६।१।। उपधायाः ६।१।। च अ० ।। स०-ज्वर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—छ्वोः अनुनासिके शूठ्, क्झिलोः अङ्गस्य ।। अर्थः—ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव इत्येतेषामङ्गानां वकारस उपधायाश्च स्थाने ऊठ् इत्ययमादेशो भवति क्वौ परतो झलादावनुनासिकादे च प्रत्यये परतः ।। उदा०—ज्वर क्वौ—जूः जुरौ, जुरः । झलादौ—जूर्ति जूर्णः, जूर्णवान् । त्वर—तूः तुरौ, तुरः । तूर्त्तिः तूर्णः, तूर्णवान् । स्रिवि-स्रूः, स्रुवौ, स्रुवः । स्रूतिः, स्रूतः, स्रूतवान् । अव—ऊः, उवौ, उवः मव—मूः, मुवौ, मुवः । अनुनासिके—अवतेर्मनिन्प्रत्यये—ओम् ।।

भाषार्थः—[ज्वर···वाम्] ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव इन अङ्गों के वकार [च] तथा [उपधायाः] उपधा के स्थान में ऊठ् आदेश होता है क्वि तथा झलादि एवं अनुनासिकादि प्रत्ययों के परे रहते ।।

इस सूत्र में काशिका में क्ङिति की अनुवृत्ति भी लाये हैं, जो ठीक नहीं, क्योंकि अक्ङित् स्थल में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति देखी जात है । यथा—अव धातु से सितनिगमि० (उणा० १।६९) से तुन् प्रत्यय करके ओतुः में । 'अनुनासिके' की अनुवृत्ति तो लानी ही चाहिये

क्योंकि अव धातु से *अवतेष्टिलोपश्च* (*उणा०* १।१४२) से अनुनासिकादि मन् प्रत्यय के परे रहते प्रकृत सूत्र से उपधा एवं वकार को ऊठ् होकर मन् के टि का लोप होकर 'ओम्' शब्द सिद्ध होता है ॥ इस प्रकार अनुनासिकादि का एक उदाहरण ही सुलभ होने से दिखा दिया है, अन्यत्र भी इसी प्रकार हो सकता है ॥

जूः, जुरौ आदि में पूर्ववत् क्विप् प्रत्यय हुआ है। ज्वर्_ त्वर्_ (ञित्वरा) की उपधा 'व' का 'अ' है अतः उसको एवं व् को ऊठ् होकर ज् ऊठ् र् = जूर् = जूः बन गया। तूर्णः में इट् निषेध भी पक्ष में रुष्यमत्वर० (७।२।२८) से हुआ है। इसी प्रकार स्रिव् अव् मव् की उपधा क्रमशः इ, अ एवं म का अ है, अतः उपधा एवं वकार के स्थान में ऊठ् होकर स्रूः आदि प्रयोग बन गये। जूर्त्तिः आदि में झलादि क्तिन् आदि प्रत्यय परे हैं ही ॥ सामर्थ्य से यहाँ 'च्छ्वोः शूठ्' की अनुवृत्ति आने पर भी च्छ् एवं श् का सम्बन्ध सूत्रार्थ में नहीं बैठता, वकार एवं ऊठ् का ही लगता है ॥

राल्लोपः ॥६।४।२१॥

रात् ५।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—छ्वोः, अनुनासिके, क्विझलोः, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—रेफात् परयोः छ्वोर्लोपो भवति क्वौ झलादौ क्ङिति अनुनासिके च प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—क्वौ—मुर्छा—मूः, मुरौ, मुरः। झलादौ—मूर्त्तः, मूर्त्तवान् मूर्त्तिः। हुर्छा—हूः, हुरौ, हुरः। हूर्णः, हूर्णवान्, हूर्त्तिः। वकारस्य तुर्वी—तूः, तुरौ, तुरः। तूर्णः, तूर्णवान्, तूर्त्तिः। धुर्वी—धूः, धुरौ, धुरः। धूर्णः, धूर्णवान्, धूर्त्तिः ॥

भाषार्थः—[*रात्*] रेफ से उत्तर छकार और वकार का [*लोपः*] लोप हो जाता है कि तथा झलादि कित् ङित् अनुनासिकादि प्रत्ययों के परे रहते ॥ रेफ से उत्तर छकार को तुक् किसी सूत्र से विहित नहीं, अतः असम्भव होने से यहाँ रेफ से उत्तर केवल छकार का ही लोप हाता है न कि तुक् सहित का ॥ मुर्छा हुर्छा = मुर्छ्_ हुर्छ्_ धातुओं के छ् का लोप क्विप् परे रहते होकर मुर्_ हुर्_ रहा। शेष मूः आदि की सिद्धि भाग १ परि० ३।२।१७७ के धूः के समान जानें ॥ मूर्त्तः मूर्त्तवान् में *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से प्राप्त निष्ठा के नत्व का अभाव *न ध्याख्यापृमूर्च्छि०* (८।२।५७) से होता है। *आदितश्च* (७।२।१६) से

इट् प्रतिषेध तथा *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घत्व भी होगा। हूर्णः
वान् भी निष्ठा को नत्व करके इसी प्रकार बनेंगे॥

असिद्धवदत्राभात्॥६।४।२२॥

असिद्धवत् अ०॥ अत्र अ०॥ आ अ०॥ भात् ५।१॥ *स०*—न
असिद्धः, नञ्तत्पुरुषः॥ असिद्धेन तुल्यं वर्त्तत इत्यसिद्धवत्। सिद्धशब्द
निष्पन्नवचनः, यथा 'सिद्ध ओदनः' इति॥ आ भात् इत्यत्राभि
'आङ्'॥ *अर्थः*—आभात् अर्थाद् भाधिकारपर्यन्तमापादपरिसमा
सिद्धवदित्यधिकारो वेदितव्यः समानाश्रये॥ आभीयं शास्त्रं निष्पन्न
आभसंशब्दनाद् यदुच्यते तस्मिन् कर्त्तव्ये सिद्धकार्यं = स्वकार्यं
करोतीत्यर्थः॥ सूत्रे 'अत्र' शब्दोपादानं समानाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थ
समान एक आश्रयो निमित्तं यस्य तत् समानाश्रयम्॥ *उदा०*—
शाधि। आगहि, जहि॥

भाषार्थः—'आभात्' यहाँ आङ् अभिविधि में है, अतः 'आभ
से '*भस्य*' (६।४।१२९) का अधिकार जहाँ तक जाता है, अर्थात् 'पाद
समाप्ति पर्यन्त' ऐसा अर्थ होगा॥

[*आभात्*] भस्य के अधिकार पर्यन्त अर्थात् इस अध्याय की स
पर्यन्त [*अत्र*] समानाश्रय अर्थात् एक ही निमित्त होने पर आभीय
[*असिद्धवत्*] सिद्ध के समान नहीं होता, अर्थात् आभीय कार्य के
पर भी वह न होने जैसा इस सूत्र से माना जाता है॥ 'अत्र' का ग्र
यहाँ समानाश्रयत्व द्योतन के लिये है। समान = एक ही आश्रय = नि
है जिसका वह समानाश्रय हुआ। द्वितीयावृत्ति में प्रत्युदाहरण से
बात सुस्पष्ट हो जायेगी॥ 'असिद्धवत्' यह अधिकार पाद की सम
पर्यन्त जानना चाहिये॥

अस भुवि तथा शासु अनुशिष्टौ धातु के लोट् मध्यम पुरुष के
शाधि रूप हैं, अतः सिप् प्रत्यय आकर एवं सिप् को *सेर्ह्यपिच्च* (३।४।८७
हि आदेश तथा शप् का *अदिप्रभृतिभ्यः०* (२।४।७२) से लुक् होकर
हि, शास् हि रहा। अस् के अ का *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११)
लोप होकर स् हि रहा। *घ्वसोरेद्धावभ्या०* (६।४।११९) से उस
को भी एकार होकर 'ए हि'। इसी प्रकार *शा हौ* (६।४।३५) से श

के स्थान में 'शा' आदेश करने से 'शा हि' रहा। अब यहाँ दोनों स्थलों में *हुझल्भ्यो हेर्धिः* (६।४।१०१) से हि को धि प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि झल् से उत्तर 'हि' नहीं है, किन्तु जब प्रकृत सूत्र से आभीय कार्य धित्व करने में, आभीय कार्य एत्व (६।४।११९) एवं शा भाव (६।४।३५) असिद्ध अर्थात् अनिष्पन्न के समान माने गये तो *हुझल्भ्यो हेर्धिः* की दृष्टि में 'स् हि, शास् हि' ऐसा रूप ही दिखा, अतः एत्व शाभाव कर लेने पर भी हुझल्भ्यो० से झलन्त से उत्तर 'धि' होकर एधि, शाधि सिद्ध हो गये॥ आगहि जहि भी पूर्ववत् ही गम् तथा हन् के लोट् के रूप हैं। गम् के अनुनासिक का लोप *अनुदात्तोपदे०* (६।४।३७) से हुआ है, तथा शप् का *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से लुक् हो जायेगा। हन् को भी हि परे रहते *हन्तेर्जः* (६।४।३६) से ज आदेश हो जायेगा सो आगहि जहि ऐसे रूप बने, किन्तु यहाँ *अतो हेः* (६।४।१०५) से 'ग' तथा 'ज' अदन्त अङ्ग से उत्तर हि का लुक् भी प्राप्त हुआ जो कि इष्ट नहीं, तब प्रकृत सूत्र से आभीय कार्य *अतो हेः* की दृष्टि में आभीय कार्य अनुनासिक लोप एवं ज भाव असिद्ध हो गये, तो 'आ गम् हि, हन् हि' ऐसा रूप ही *अतो हेः* को दिखा, अब हि का लुक् करने में गम् हन् तो अदन्त हैं नहीं, अतः *अतो हेः* से हि का लुक् भी नहीं हुआ, यही इस सूत्र का प्रयोजन है॥

श्नान्नलोपः ॥६।४।२३॥

श्नात् ५।१॥ नलोपः १।१॥ *स०*—नकारस्य लोपः नलोपः षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अर्थः*—श्नादुत्तरस्य नकारस्य लोपो भवति॥ श्नादित्यनेन श्नम् उत्सृष्टमकारो गृह्यते॥ *उदा०*—अनक्ति, भनक्ति, हिनस्ति॥

भाषार्थः—[*श्नात्*] श्न से उत्तर [*नलोपः*] नकार का लोप हो जाता है॥ श्न से यहाँ श्नम् (३।१।७८) का ग्रहण है॥ अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु धातु से अनक्ति, भञ्जो आमर्दने से भनक्ति, हिसि हिंसायाम् से हिनस्ति बनता है। हिसि धातु में *इदितो नुम्०* (७।१।५८) से नुम् आगम होकर हिन्स् बना है। शेष कार्य भाग १ परि० १।१।४३ के भिनत्ति की सिद्धि के समान जानें। अ श्नम् ञ् ति = अन न्ज् ति यहाँ प्रकृत सूत्र से श्नम् से उत्तर न् (जो कि ज् के योग से 'ञ्' हो गया है) का लोप होगया। पश्चात् *चोः कुः* (८।२।३०) से ज् को ग्

एवं *खरि च* (८।४।५४) से क् होकर अनक्ति बन गया। भर्ना हिनस्ति में भी यही प्रक्रिया जानें ॥

यहाँ से '*नलोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।३३ तक जायेगी ॥

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ॥६।४।२४॥

अनिदिताम् ६।३॥ हलः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ क्ङिति ७।१ *स०*—इकार इत् येषां त इदितः, बहुव्रीहिः। न इदितोऽनिदितस्ते ''नञ्तत्पुरुषः। कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित् तस्मिन्' द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनिदित मङ्गानां हलन्तानामुपधाया नकारस्य लोपो भवति किति ङिति च प्रत्य परतः ॥ *उदा०*—किति—स्रस्तः, ध्वस्तः। स्रस्यते, ध्वस्यते। ङिति- सनीस्रस्यते, दनीध्वस्यते ॥

भाषार्थः—[*अनिदिताम्*] इकार जिनका इत् संज्ञक नहीं है, ऐ [*हलः*] हलन्त अङ्ग की [*उपधायाः*] उपधा के नकार का लोप होता [*क्ङिति*] कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते ॥ *स्रन्सु* ध्वन्सु धातुएँ अनिदि तथा हलन्त हैं, अतः इनके उपधा नकार का लोप हो गया है। क्त स्रस्तः एवं कर्म में यक् परे रहते स्रस्यते रूप बना है। यङ् परे रह नलोप होकर सनीस्रस्यते रूप बनेगा। इसकी सिद्धि भाग १ परि ३।१।२२ में प्रदर्शित पापच्यते के समान ही है। केवल यहाँ *नीग्वञ्चुस्रन्* ध्वन्सु० (७।४।८४) से अभ्यास को 'नीक्' का आगम होता है या विशेष है। नीक् का 'नी' शेष रहेगा ॥

यहाँ से '*उपधायाः*' की अनुवृत्ति ६।४।३४ तक जायेगी ॥

दंशसञ्जस्वञ्जां शपि ॥६।४।२५॥

दंशसञ्जस्वञ्जाम् ६।३॥ शपि ७।१॥ *स०*—दंश० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः *अनु०*—उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—दन्श, सञ्ज, ष्वञ्ज इत्येतेष मङ्गानामुपधाया नकारस्य लोपो भवति शपि परतः ॥ *उदा०*—दशति सजति। परिष्वजते ॥

भाषार्थः—[*दंशसञ्जस्वञ्जाम्*] दन्श, सञ्ज, ष्वञ्ज इन अङ्गों की उपध

नकार का लोप होता है [शपि] शप् प्रत्यय परे रहते ॥ षञ्ज एवं ष्वञ्ज के ष् को धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से स्, पुनः उपसर्ग से उत्तर उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से षत्व होकर परिष्वजते बनता है ॥

यहाँ से 'शपि' की अनुवृत्ति ६।४।२६ तक जायेगी ॥

रञ्जेश्च ॥६।४।२६॥

रञ्जेः ६।१॥ च अ०॥ *अनु०*—शपि, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—रञ्जेश्च उपधाया नकारस्य लोपो भवति शपि परतः ॥ *उदा०*—रजति, रजतः, रजन्ति ॥

भाषार्थः—[*रञ्जेः*] रञ्ज् अङ्ग की उपधा के नकार का [च] भी लोप होता है, शप् परे रहते ॥

यहाँ से '*रञ्जेः*' की अनुवृत्ति ६।४।२७ तक जायेगी ॥

घञि च भावकरणयोः ॥६।४।२७॥

घञि ७।१॥ च अ०॥ भावकरणयोः ७।२॥ *स०*—भाव० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—रञ्जेः, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भावकरणवाचिनि घञि च परतो रञ्जेरुपधाया नकारस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—भावे-आश्चर्यो रागः, विचित्रो रागः। करणे-रज्यतेऽनेनेति रागः ॥

भाषार्थः—[*भावकरणयोः*] भाववाची तथा करणवाची [*घञि*] घञ् के परे रहते [च] भी रञ्ज् धातु की उपधा नकार का लोप होता है ॥ करण में *हलश्च* (३।३।१२१) से घञ् होता है ॥

यहाँ से '*घञि*' की अनुवृत्ति ६।४।२९ तक जायेगी ॥

स्यदो जवे ॥६।४।२८॥

स्यदः १।१॥ जवे ७।१॥ *अनु०*—घञि, उपधायाः, नलोपः ॥ *अर्थः*—जवेऽभिधेये घञि परतः स्यद इति निपात्यते। निपातनेन स्यन्देर्नलोपो वृद्ध्यभावश्च भवति ॥ *उदा०*—गवां स्यदः=गोस्यदः, अश्वस्यदः ॥

भाषार्थः—[*जवे*] जव=वेग अभिधेय हो तो घञ् परे रहते [*स्यदः*] स्यद शब्द निपातन किया जाता है। स्यन्दू धातु के न् का लोप तथा

अत उपधायाः (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का अभाव यहाँ निपातन से होता है ॥ *भावे* (३।३।१८) से घञ् हो ही जायेगा ॥

अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः ॥६।४।२९॥

अवो·····श्रथाः १।३॥ स॰—अवोदै॰ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु॰—घञि, उपधायाः, नलोपः ॥ *अर्थः*—अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ, हिमश्रथ इत्येते निपात्यन्ते । अवोद इत्यत्र अवपूर्वस्य उन्देः घञि नलोपो निपात्यते । अवोदः । एध इत्यत्र इन्धेर्घञि नलोपो गुणश्च निपात्यते । एधः । ओद्म इत्यत्र उन्देरौणादिके (उणा॰ १।१४०) मन्प्रत्यये परतो नलोपो गुणश्च निपात्यते । ओद्मः । प्रश्रथ इत्यत्र प्रपूर्वस्य श्रन्थेर्घञि नलोपो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते । प्रश्रथः । हिमश्रथ इत्यत्र हिमपूर्वस्य श्रन्थेर्घञि नलोपो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते ॥

भाषार्थः—[*अवो·····श्रथाः*] अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ, हिमश्रथ ये शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ अवोद यहाँ अव पूर्वक उन्द धातु के नकार का लोप घञ् परे रहते निपातन किया गया है । एध यहाँ इन्ध धातु के न् का लोप एवं गुण घञ् परे रहते निपातन से किया गया है । *न धातुलोप॰* (१।१।४) से गुण का निषेध प्राप्त था, निपातन से प्राप्त करा दिया । ओद्म यहाँ उन्द धातु से *अर्तिस्तुसु॰* (*उणा॰* १।१४०) इस उणादि सूत्र से बाहुलक से हुये मन् प्रत्यय के परे रहते नलोप एवं गुण निपातन से किया जाता है । प्रश्रथ यहाँ प्रपूर्वक श्रन्थ धातु से घञ् परे रहते नलोप एवं *अत उपधायाः* (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का अभाव निपातन से होता है । हिमश्रथ यहाँ हिम पूर्वपद रहते श्रन्थ धातु से घञ् परे रहते पूर्ववत् नलोप एवं वृद्ध्यभाव निपातन है ॥

नाञ्चेः पूजायाम् ॥६।४।३०॥

न अ॰ ॥ अञ्चेः ६।१॥ पूजायाम् ७।१॥ *अनु॰*—उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पूजायामर्थे अञ्चेरङ्गस्योपधायाः नकारस्य लोपो न भवति ॥ *उदा॰*—अञ्चिता अस्य गुरवः । अञ्चितमिव शिरो वहति ॥

भाषार्थः—[*पूजायाम्*] पूजा अर्थ में [*अञ्चेः*] अञ्चु अङ्ग की उपधा

नकार का लोप [*न*] नहीं होता है ॥ *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से नकार लोप प्राप्त था इस सूत्र से निषेध कर दिया ॥ अञ्चिताः यहाँ *मतिबुद्धि०* (३।२।१८८) से क्त प्रत्यय होता है। *अञ्चेः पूजायाम्* (७।२।५३) से इट् आगम भी यहाँ होता है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।४।३२ तक जायेगी ॥

क्त्वि स्कन्दिस्यन्दोः ॥६।४।३१॥

क्त्वि ७।१॥ स्कन्दिस्यन्दोः ६।२॥ *स०*—स्कन्दि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—स्कन्द, स्यन्द इत्येतयोर्नकारलोपो न भवति क्त्वाप्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—स्कन्त्वा, स्यन्त्वा। स्यन्देरूदित्वात् पक्षे इडागमः—स्यन्दित्वा ॥

भाषार्थः—[*स्कन्दिस्यन्दोः*] स्कन्द तथा स्यन्द के नकार का लोप [*क्त्वि*] क्त्वा प्रत्यय परे रहते नहीं होता ॥ पूर्ववत् *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से प्राप्ति थी निषेध कर दिया। स्यन्द् धातु ऊदित् है, अतः *स्वरतिसूति०* (७।२।४४) से पक्ष में इट् आगम होकर स्कन्दित्वा रूप भी बनता है। इट् पक्ष में *न क्त्वा सेट्* (१।२।१८) से कित् का प्रतिषेध होने पर अकित् माना जाने से स्वयमेव नलोप का अभाव रहेगा ॥ स्कन्त्वा आदि में *खरि च* (८।४।५४) से द् को चर्त्व होकर *झरो झरि०* (८।४।६४) से एक त् का लोप होता है ॥

यहाँ से '*क्त्वि*' की अनुवृत्ति ६।४।३२ तक जायेगी ॥

जान्तनशां विभाषा ॥६।४।३२॥

जान्तनशाम् ६।३॥ विभाषा १।१ ॥ *स०*—ज अन्ते येषाम् ते जान्ताः, जान्ताश्च नश्च जान्तनशस्तेषाम्.......बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—क्त्वि, न, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जान्तानामङ्गानां नशेश्च क्त्वाप्रत्यये परतो विभाषा नकारलोपो न भवति ॥ *उदा०*—रञ्ज्—रङ्क्त्वा, रक्त्वा। भञ्ज्—भङ्क्त्वा, भक्त्वा। नश्—नंष्ट्वा, नष्ट्वा ॥

भाषार्थः—[*जान्तनशाम्*] जकारान्त अङ्ग के तथा नश् के नकार का लोप [*विभाषा*] विकल्प करके नहीं होता, अर्थात् होता है ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, विकल्प विधान कर दिया ॥ भङ्क्त्वा आदि में ज् को चोः कुः

(८।२।३०) एवं *खरि च* (८।४।५४) से क् होता है। न् को परसवर्णा होकर ङ् हो ही जायेगा। नश् धातु को क्त्वा परे रहते *मस्जिनशोर्झलि* (७।१।६०) से जो नुम् आगम होता है, उसी का यहाँ विकल्प से लो होता है। *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से श् को ष् एवं ष्टुत्व होकर नंष्ट्वा नष्ट्वा बनता है॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।४।३३ तक जायेगी॥

भञ्जेश्च चिणि ॥६।४।३३॥

भञ्जेः ६।१॥ च अ०॥ चिणि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—चिणि परतो भञ्जेश्च विभाषा नकारलोपो भवति॥ *उदा०*—अभाजि, अभञ्जि॥

भाषार्थः—[*भञ्जेः*] भञ्ज् अङ्ग के नकार का लोप [च] भी विकल्प से होता है [*चिणि*] चिण् प्रत्यय परे रहते॥ चिण् प्रत्यय कित् ङित् नहीं है, अतः नलोप की प्राप्ति ही नहीं थी, अतः यह अप्राप्त विभाषा है॥ *चिण् भावकर्मणोः* (३।१।६६) से चिण् प्रत्यय होता है। अभाजि में *अत उपधायाः* (७।२।११६) से वृद्धि हो जायेगी॥

शास इदङ्हलोः ॥६।४।३४॥

शासः ६।१॥ इत् १।१॥ अङ्हलोः ७।२॥ *स०*—अङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—उपधायाः, अङ्गस्य। क्ङिति इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥ *अर्थः*—शास उपधाया इकारादेशो भवति, अङि परतो हलादौ च क्ङिति॥ *उदा०*—अङ्—अन्वशिषत्, अन्वशिषताम्। हलादौ किति—शिष्टः, शिष्टवान्। ङिति—तौ शिष्टः, वयं शिष्मः॥

भाषार्थः—[*शासः*] शास् अङ्ग की उपधा को [इत्] इकारादेश हो जाता है [*अङ्हलोः*] अङ् तथा हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते॥ भाग १ परि० ३।१।५६ पृ० ८८१ में अशिषत् की सिद्धि देखें। यहाँ अनुपूर्वक प्रयोग है। निष्ठा में शिष्टः शिष्टवान् एवं तस् मस् में शिष्टः शिष्मः बने हैं। *सार्वधातुकमपित्* (१।२।४) से तस् मस् ङित् हैं, अतः हलादि ङित् प्रत्यय परे है ही। *शासिवसि०* (८।३।६०) से षत्व एवं ष्टुत्व ही विशेष है। शास् की उपधा 'आ' को सर्वत्र इत्व हुआ है॥

यहाँ से '*शासः*' की अनुवृत्ति ६।४।३५ तक जायेगी ॥

शा हौ ॥६।४।३५॥

शा १।१॥ हौ ७।१॥ *अनु०*—शासः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शासोऽङ्गस्य स्थाने हौ परतः शा इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—अनुशाधि, प्रशाधि ॥

भाषार्थः—शास् अङ्ग के स्थान में [*हौ*] हि परे रहते [*शा*] शा यह आदेश होता है ॥ सिद्धि *असिद्धवदत्राभात्* (६।४।२२) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*हौ*' की अनुवृत्ति ६।४।३६ तक जायेगी ॥

हन्तेर्जः ॥६।४।३६॥

हन्तेः ६।१॥ जः १।१॥ *अनु०*—हौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हन्तेरङ्गस्य स्थाने ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः ॥ *उदा०*—जहि शत्रून् ॥

भाषार्थः—[*हन्तेः*] हन् अङ्ग के स्थान में हि परे रहते [*जः*] ज यह आदेश होता है ॥ सिद्धि *असिद्धवद०* सूत्र में ही देखें ॥

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ॥६।४।३७॥

अनुदा···दीनाम् ६।३॥ अनुनासिक लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ लोपः १।१॥ झलि ७।१॥ क्ङिति ७।१॥ *स०*—अनुदात्त उपदेशे येषां ते अनुदात्तोपदेशाः, बहुव्रीहिः । तनोतिरादिर्येषां ते तनोत्यादयः, बहुव्रीहिः । अनुदात्तोपदेशाश्च वनतिश्च तनोत्यादयश्च अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादयस्तेषां···इतरेतरद्वन्द्वः । क्ङिति इत्यत्र पूर्ववत् समासो ज्ञेयः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—उपदेशे अनुदात्तानाम् अनुनासिकान्तानां वनतेः तनोत्यादीनां चाङ्गानां झलादौ क्ङिति प्रत्यये परतोऽनुनासिकस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—अनुदात्तोपदेशानाम्—यम्—यत्वा, यतः, यतवान्, यतिः । रमु—रत्वा, रतः, रतवान्, रतिः । वनतेः—वतिः । तनोत्यादीनाम्—ततः, ततवान्, क्षणु-क्षतः, क्षतवान्, ऋणु-ऋतः, ऋतवान्, । ङिति-अतत, अतथाः ॥

भाषार्थः—[*अनु···दीनाम्*] उपदेश में जो अनुदात्त अनुनासिकान्त उनके तथा वन एवं तनोत्यादि अङ्गों के [*अनुनासिक*] अनुनासिक का

[*लोपः*] लोप होता है, [*झलि क्ङिति*] झलादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते ॥ अनुनासिक का संबन्ध लोप के साथ और अनुदात्तोपदेश के साथ भी लगाना इष्ट है, अतः 'अनुनासिक' पद लुप्तविभक्तिक माना गया है। अनुदात्तोपदेश का विशेषण 'अनुनासिकानाम्' न बनाने पर मुक्त में म लोप प्राप्त होगा ॥ वन धातु से क्तिन् में वतिः रूप बना है। क्तिच् में तो *न क्तिचि दीर्घश्च* (६।४।३९) से अनुनासिक लोप निषेध कहा है अतः क्तिच् का रूप नहीं हो सकता। अतत, अतथाः की सिद्धि भाग १ सूत्र २।४।७८ में देखें। त तथा थास् *सार्वधातुकमपित्* (१।२।४) से ङित् हैं ॥

यहाँ से '*अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्*' की अनुवृत्ति ६।४।३९ तक तथा '*अनुनासिक लोपः*' की ६।४।४० तक जायेगी ॥

वा ल्यपि ॥६।४।३८॥

वा अ०॥ ल्यपि ७।१॥ *अनु०*—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामङ्गानां ल्यपि परतो विकल्पेन अनुनासिकलोपो भवति ॥ इयं व्यवस्थित-विभाषा, तेन मान्तानां विकल्पेन लोपो भवति नान्तानां तु नित्यमेव ॥ *उदा०*—प्रयत्य, प्रयम्य, प्ररत्य, प्ररम्य, प्रणत्य, प्रणम्य, आगत्य, आगम्य, आहत्य, प्रमत्य, प्रवत्य, वितत्य, प्रक्षत्य ॥

भाषार्थः—अनुदात्तोपदेश, वनति तथा तनोत्यादि अङ्गों के अनुनासिक का लोप [*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते [*वा*] विकल्प करके होता है ॥ यह व्यवस्थित विभाषा है, अतः मकारान्तों का विकल्प से लोप होता है नकारान्तों का नित्य ही लोप देखा जाता है ॥ सिद्धियां भाग १ परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें ॥

न क्तिचि दीर्घश्च ॥६।४।३९॥

न अ०॥ क्तिचि ७।१॥ दीर्घः १।१॥ च अ०॥ *अनु०*—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—क्तिचि परतोऽनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामङ्गानामनुनासिक लोपः दीर्घश्च न भवति ॥ *उदा०*—यन्तिः, वन्तिः, तन्तिः ॥

भाषार्थः—[*क्तिचि*] क्तिच् परे रहते अनुदात्तोपदेश, वनति तथा तनोत्यादि अङ्गों के अनुनासिक का लोप [*च*] तथा [*दीर्घः*] दीर्घ [*न*] नहीं होता है ॥ अनुनासिक लोप का प्रतिषेध कर देने पर *अनुनासिकस्य क्विझलोः०* (६।४।१५) से जो दीर्घत्व प्राप्त था उसका भी इस सूत्र से प्रतिषेध कर दिया गया ॥ *क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्* (३।३।१७४) से क्तिच् प्रत्यय होता है ॥

गमः क्वौ ॥६।४।४०॥

गमः ६।१॥ क्वौ ७।१॥ *अनु०*—अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—क्वौ परतो गमोऽनुनासिक लोपो भवति ॥ *उदा०*—अङ्गगत्, कलिङ्गगत्, अध्वानं गच्छन्तीति = अध्वगतो हरयः ॥

भाषार्थः—[*क्वौ*] क्वि परे रहते [*गमः*] गम् के अनुनासिक का लोप होता है ॥ झलादि प्रत्यय परे न होने से ६।४।३७ से अनुनासिक लोप प्राप्त नहीं था अतः विधान कर दिया है ॥ उदाहरणों में *क्विप् च* (३।२।७६) से क्विप् प्रत्यय तथा तुक् आगम पूर्ववत् होगा ॥

विड्वनोरनुनासिकस्यात् ॥६।४।४१॥

विड्वनोः ७।२॥ अनुनासिकस्य ६।१॥ आत् १।१॥ *स०*—विड्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य विटि वनि च प्रत्यये परत आकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अब्जाः, गोजाः, ऋतजाः, अद्रिजाः, गोषा इन्द्रो नृषा असि, कूपखाः, शतखाः, सहस्रखाः, दधिक्राः, अग्रेगा उन्नेतॄणाम् । वन्—विजावा, अग्रेजावा ॥

भाषार्थः—[*विड्वनोः*] विट् तथा वन् प्रत्यय परे रहते [*अनुनासिकस्य*] अनुनासिकान्त अङ्ग को [*आत्*] आकार आदेश होता है ॥ सिद्धियाँ भाग १ सूत्र ३।२।६७ में देखें । विजावा अग्रेजावा में वनिप् प्रत्यय *अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते* (३।२।७५) से होता है । सिद्धि भी उसी प्रकरण में देखें ॥

यहाँ से '*आत्*' की अनुवृत्ति ६।४।४५ तक जायेगी ॥

के तृच् का रूप है । *न पदान्त०* (१।१।५७) सूत्र के परिशिष्ट में धातु से चिकीर्ष बनाने की प्रक्रिया देखें । यहाँ तृच् आर्धधातुक के रहते 'ष' के 'अ' का *अतो लोपः* (६।४।४८) से लोप हुआ है । यङ् में भिदि धातु से 'बेभिद्य' रूप बन कर तृच् आर्धधातुक परे रहते *यस्य ह* से [1]यकार का लोप हुआ है, पश्चात् इट् आगमादि होकर बेभिदि रूप बन गया । कारणा हारणा की सिद्धि भाग १ सूत्र ३।३।१०७ में देखें

भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ॥६।४।४७॥

भ्रस्जः ६।१॥ रोपधयोः ६।२॥ रम् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०* रेफश्च उपधा च रोपधे तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आर्धधातु अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भ्रस्जो रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो विकल्प भवति, आर्धधातुके परतः ॥ *उदा०*—भ्रष्टा, भर्ष्टा । भ्रष्टुम्, भर्ष्टुम् भ्रष्टव्यम्, भर्ष्टव्यम् । भ्रज्जनम्, भर्ज्जनम् ॥

भाषार्थः—[*भ्रस्जः*] भ्रस्ज धातु के [*रोपधयोः*] रेफ तथा उप के स्थान में [*रम्*] रम् आगम [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता आर्धधातुक परे रहने पर ॥ रेफ एवं उपधा सकार के स्थान में रम् *मि* *चोऽन्त्यात् परः* (१।१।४६) से अन्त्य अच् अ से परे होकर भ् अ ज् तृच् = भ र् ज् तृ रहा । *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से ज् को ष् ष्टुत्व होकर भर्ष्टा बना । पक्ष में जब रम् आगम नहीं हुआ तो *स्* *संयोगा०* (८।२।२९) से सकार लोप एवं पूर्ववत् षत्व ष्टुत्व हो भ्रष्टा बन गया । भ्रज्जनम् भर्ज्जनम् में स् को *झलां जश् झ* (८।४।५२) से दकार एवं श्चुत्व होकर 'ज्' हो गया है ॥ रम् के र अकार उच्चारणार्थ रखा है [2] ॥

---

१. वस्तुतः यस्य हलः से अकार सहित 'य' सम्पूर्ण का लोप होता है, य् वर्ण का लोप होता है ये दोनों ही पक्ष माने गये हैं । किन्तु य् लोप करके पु अतो लोपः से लोप करने में प्रक्रिया गौरव होने 'य' समुदाय का ही लोप मान श्रेयस्कर है ॥

२. यहाँ रोपधयोः में षष्ठी विभक्ति होने से रम् आगम रेफ एवं उपधा के स्थ में भी होता है, तथा रम् में मित् होने से अन्त्य अच् भ्र के अ से परे भी होता है ये दोनों ही व्यवस्था षष्ठीनिर्देश एवं मित्करण इन दोनों बातों का सार्थक्य क के लिये एक ही साथ हो जाती हैं ॥

अतो लोपः ॥६।४।४८॥

अतः ६।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—आर्धधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्तस्याङ्गस्य आर्धधातुके परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—चिकीर्षिता, चिकीर्षितुम्, चिकीर्षितव्यम् । धिनोति, कृणोति ॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकारान्त अङ्ग का आर्धधातुक परे रहते [*लोपः*] लोप हो जाता है ॥ चिकीर्षिता आदि की सिद्धि ६।४।४६ सूत्र में ही देखें। धिनोति कृणोति की सिद्धि भाग १ परि० ३।१।८० में देखें। यहाँ 'उ' आर्धधातुक के परे रहते 'अ' का लोप हुआ है ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।५४ तक जायेगी ॥

यस्य हलः ॥६।४।४९॥

यस्य ६।१॥ हलः ५।१॥ *अनु०*—लोपः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य यशब्दस्य आर्धधातुके लोपो भवति ॥ *उदा०*—बेभिदिता, बेभिदितुम्, बेभिदितव्यम् ॥

भाषार्थः—[*हलः*] हल् से उत्तर [*यस्य*] 'य' का लोप होता है आर्धधातुक परे रहते ॥ सिद्धि ६।३।४६ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*हलः*' की अनुवृत्ति ६।४।५० तक जायेगी ॥

क्यस्य विभाषा ॥६।४।५०॥

क्यस्य ६।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—हलः, लोपः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य क्यस्य विभाषा लोपो भवति ॥ *उदा०*—समिधमात्मन इच्छति, समिद् इवाचरतीति वा = समिध्यिता, समिधिता । दृषद्यिता, दृषदिता ॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर [*क्यस्य*] क्य का [*विभाषा*] विकल्प से आर्धधातुक परे रहते लोप होता है ॥ क्य से सामान्य करके क्यच् क्यङ् का ग्रहण होता है ॥ *सुप आत्मनः०* (३।१।८) से क्यच् एवं *कर्तुः क्यङ्०* (३।१।११) से क्यङ् होता है ॥

णेरनिटि ॥६।४।५१॥

णेः ६।१॥ अनिटि ७।१॥ *स०*—न इट् यस्मिन्, तदनि तस्मिन् अनिटि, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लोपः, आर्धधातुके, अङ्गस्य *अर्थः*—अनिडादावार्धधातुके णेर्लोपो भवति ॥ *उदा०*—अततक्षत अररक्षत्, आटिटत्, आशिशत्। कारणा, हारणा। कारकः, हारकः कार्यते, हार्यते। ज्ञीप्सति ॥

भाषार्थः—[*अनिटि*] अनिडादि आर्धधातुक परे रहते [*णेः*] णि लोप होता है ॥ अततक्षत्, अररक्षत् की सिद्धि भाग १ परि० १।४ पृ० ८२१ में देखें। आटिटत्, आशिशत् की सिद्धि परि० १।१।५ पृ० ७५२ में देखें। कारणा हारणा की सिद्धि ३।३।१०७ सूत्र में देखें कारकः हारकः में णिच् लोप ही विशेष है। कार्यते हार्यते णिजन्त कर्म के रूप हैं। *अचो ञ्णिति* (७।२।११५) से कृ हृ को वृद्धि हुई है ज्ञीप्सति यहाँ ज्ञा धातु से णिच् एवं *अर्तिह्री०* (७।३।३६) से पुक् आग होकर ज्ञापि धातु बनी। ततः *मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा* (धातुपाठ भ्वा० से ज्ञा की मित् संज्ञा होकर *मितां ह्रस्वः* (६।४।९२) से ह्रस्व हो गय पश्चात् सन् प्रत्यय एवं द्वित्वादि होकर 'ज ज्ञप् इ स' रहा। णेरनि से णिलोप एवं *सनीवन्तर्ध०* (७।२।४९) से इट् आगम का अभाव होक 'ज ज्ञप् स' रहा। *आप्ज्ञप्यृधामीत्* (७।४।५५) से ज्ञप् के अ को ईत्व *अत्र लोपोऽभ्या०* (७।४।५८) से अभ्यास लोप होकर 'ज्ञीप् स' बना आगे ज्ञीप्सति बन गया ॥

यहाँ से '*णेः*' की अनुवृत्ति ६।४।५७ तक जायेगी ॥

निष्ठायां सेटि ॥६।४।५२॥

निष्ठायाम् ७।१॥ सेटि ७।१॥ *स०*—इटा सह सेट्, तस्मिन्.... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—णेः, लोपः ॥ *अर्थः*—सेटि निष्ठायां परतो णेर्लो भवति ॥ *उदा०*—कारितम्, हारितम्, गणितम्, लक्षितम् ॥

भाषार्थः—[*सेटि*] सेट् [*निष्ठायाम्*] निष्ठा परे रहते णि का लोप जाता है ॥ गण तथा लक्ष धातु चुरादि गण की हैं, अतः *सत्या* *चुरादिभ्यो णिच्* (३।१।२५) से णिच् हो गया ॥

जनिता मन्त्रे ॥६।४।५३॥

जनिता १।१॥ मन्त्रे ७।१॥ अनु०—णेः, लोपः ॥ *अर्थः*—मन्त्रविषये इडादौ तृचि परतः 'जनिता' इति निपात्यते ॥ *उदा०*—यो नः पिता जनिता (ऋ० १०।८२।३) ॥

भाषार्थः—[*मन्त्रे*] मन्त्र विषय में इडादि तृच् परे रहते [*जनिता*] जनिता यह निपातन है ॥ *णेरनिटि* (६।४।५१) से अनिट् आर्धधातुक परे रहते ही णिलोप प्राप्त था, इडादि आर्धधातुक में भी हो जाये अतः निपातन किया है ॥ जनिता में जो वृद्धि करके 'जान्' बना था उसे *जनीजॄष्०* (धा० पा०) से मित् होकर *मितां ह्रस्वः* (६।४।९२) से ह्रस्व हो गया है ॥

शमिता यज्ञे ॥६।४।५४॥

शमिता १।१॥ यज्ञे ७।१॥ अनु०—णेः, लोपः ॥ *अर्थः*—यज्ञकर्मणि इडादौ तृचि परतः 'शमिता' इति निपात्यते ॥ *उदा०*—शृतं हविः शमितः ॥

भाषार्थः—[*यज्ञे*] यज्ञ कर्म में इडादि तृच् परे रहते [*शामता*] 'शमिता' यह निपातन किया जाता है ॥ पूर्ववत् इडादि परे णिलोप प्राप्त नहीं था निपातन कर दिया ॥ 'शमितः' यह तृच्प्रत्ययान्त सम्बुद्ध्यन्त शब्द है । पूर्ववत् ह्रस्वत्व आदि जानें ॥

अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ॥६।४।५५॥

अय् १।१॥ आम···ष्णुषु ७।३॥ *स०*—आम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—णेः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु इत्येतेषु परतो णेरयादेशो भवति ॥ *उदा०*—आम्—कारयाञ्चकार, हारयाञ्चकार । अन्त-गण्डयन्तः, मण्डयन्तः । आलु-स्पृहयालुः, गृहयालुः । आय्य-स्पृहयाय्यः, गृहयाय्यः । इत्नु—स्तनयित्नुः । इष्णु—पोषयिष्णवः ॥

भाषार्थः—[*आम···ष्णुषु*] आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु इनके परे रहते णि को [*अय्*] अय् आदेश होता है ॥ *णेरनिटि* से णि का लोप प्राप्त था, तदपवाद अय् आदेश कह दिया ॥

यहाँ से '*अय्*' की अनुवृत्ति ६।४।५७ तक जायेगी ॥

ल्यपि लघुपूर्वात् ॥६।४।५६॥

ल्यपि ७।१॥ लघुपूर्वात् ५।१॥ *स०*—लघु पूर्वो यस्मात् स लघुपूर्वस्तस्मात्……बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अय्, णेः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—लघुपूर्वादुत्तरस्य णेः स्थाने ल्यपि परतो अयादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रशमय्य गतः, संदमय्य गतः, प्रबेभिदय्य गतः, प्रगणय्य गतः ॥

भाषार्थः—[*लघुपूर्वात्*] लघु है पूर्व में जिससे ऐसे वर्ण से उत्तर णि के स्थान में [*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते अयादेश हो जाता है ॥ प्रशमय्य आदि में पूर्ववत् मित् होने से *मितां ह्रस्वः* (६।४।९२) से उपधा को ह्रस्व हो जाता है। 'प्र शम् णि ल्यप्' यहाँ शम् अङ्ग के अन्त में म् वर्ण है, उससे पूर्व 'अ' लघु है, अतः 'लघुपूर्व में है जिस वर्ण से' यह कथन सङ्गत हो जाता है ॥ प्रबेभिदय्य यह यङन्त के णिजन्त का रूप है। *यस्य हलः* (६।४।४९) से यहाँ यङ् के य का लोप हुआ है। प्रगणय्य गण सङ्ख्याने धातु से बना है। गण धातु चुरादि गण में अदन्त पढ़ी है, अतः पूर्ववत् अकार लोप हो जायेगा ॥

यहाँ से '*ल्यपि*' की अनुवृत्ति ६।४।५९ तक जायेगी ॥

विभाषाऽऽपः ॥६।४।५७॥

विभाषा १।१॥ आपः ५।१॥ *अनु०*—ल्यपि, अय्, णेः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—ल्यपि परत आप उत्तरस्य णेर्विकल्पेनायादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रापय्य गतः, प्राप्य गतः ॥

भाषार्थः—[*आपः*] आप् से उत्तर ल्यप् परे रहते [*विभाषा*] विकल्प से णि के स्थान में अयादेश होता है ॥ आप्लृ लम्भने (चुरादि) आप्लृ व्याप्तौ (स्वादि) इन दोनों धातुओं का यहाँ आप् से ग्रहण है। स्वादि गण की आप्लृ से *हेतुमति* च (३।१।२६) से णिच् होगा ॥

युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि ॥६।४।५८॥

युप्लुवोः ६।२॥ दीर्घः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—युप्लु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ल्यपि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये यु प्लु इत्येतयोर्ल्यपि परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—दान्त्यनुपूर्वं वियूय। यत्रा नो दक्षिणा परिप्लूय ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*युप्लुवोः*] यु मिश्रणे तथा प्लुङ् गतौ धातु को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ल्यप् परे रहते ॥

यहाँ से '*दीर्घः*' की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी ॥

क्षियः ॥६।४।५९॥

क्षियः ६।१॥ *अनु०*—दीर्घः, ल्यपि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ल्यपि परतः क्षियश्च दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—प्रक्षीय ॥

भाषार्थः—[*क्षियः*] क्षि क्षये अथवा क्षि निवासगत्योः धातु को दीर्घ होता है, ल्यप् परे रहते ॥

यहाँ से '*क्षियः*' की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी ॥

निष्ठायामण्यदर्थे ॥६।४।६०॥

निष्ठायाम् ७।१॥ अण्यदर्थे ७।१॥ *स०*–ण्यतोऽर्थः ण्यदर्थः,षष्ठीतत्पुरुषः। न ण्यदर्थोऽण्यदर्थस्तस्मिन्''''नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*–क्षियः,दीर्घः,अङ्गस्य॥ *अर्थः*—ण्यदर्थो भावकर्मणी, ताभ्यामन्यत्र या निष्ठा तस्यां क्षियो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—आक्षीणः, प्रक्षीणः, परिक्षीणः, प्रक्षीणमिदं देवदत्तस्य ॥

भाषार्थः—[*अण्यदर्थे*] ण्यत् के अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान जो [*निष्ठायाम्*] निष्ठा उसके परे रहते क्षि अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ॥ ण्यत् प्रत्यय *कृत्याः* (३।१।९५) से कृत्यसंज्ञक होता है, अतः *तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः* (३।४।७०) से ण्यत् का अर्थ भाव तथा कर्म है, इस प्रकार 'अण्यदर्थे' कहने से 'भाव तथा कर्म से अन्यत्र' ऐसा अर्थ होगा ॥ यहाँ अकर्मक क्षि धातु होने से *गत्यार्थाकर्म०* (३।४।७२) से कर्त्ता में क्त प्रत्यय होता है। प्रक्षीणमिदं यहाँ *क्तोऽधिकरणे०* (३।४।७६) से अधिकरण में क्त हुआ है। निष्ठा को नत्व *क्षियो दीर्घात्* (८।२।४६) से तथा *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व होता है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी ॥

वाऽऽक्रोशदैन्ययोः ॥६।४।६१॥

वा० अ०॥ आक्रोशदैन्ययोः ७।२॥ *स०*—आक्रोश० इत्यत्रेतरेतर-

द्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायामण्यदर्थे, क्षियः, दीर्घः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—क्षि
निष्ठायामण्यदर्थे विकल्पेन दीर्घो भवति, आक्रोशे दैन्ये च गम्यमाने
उदा०—आक्रोशे—क्षितायुरेधि, क्षीणायुरेधि । दैन्ये-क्षितकः, क्षीण
क्षितोऽयं तपस्वी, क्षीणोऽयं तपस्वी ॥

भाषार्थः—क्षि अङ्ग को अण्यदर्थ निष्ठा के परे रहते [*आक्रो
दैन्ययोः*] आक्रोश तथा दैन्य गम्यमान होने पर [*वा*] विकल्प से दी
होता है ॥ क्षितायुः = क्षीण उम्र वाला तू एधि=हो जा, यह य
आक्रोश है । पूर्ववत् कर्त्ता में क्त जानें । दीर्घ पक्ष में पूर्ववत् णत्व
होता है । क्षीणकः आदि में क्षीण बनाकर आगे *अनुकम्पायाम्* (५।३।७
से 'क' प्रत्यय हुआ है ॥

स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्म्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ॥६।४।६२॥

स्य...सिषु ७।३॥ भावकर्म्मणोः ७।२॥ उपदेशे ७।१॥ अज्झ...दृ
६।३॥ वा अ०॥ चिण्वत् अ०॥ इट् १।१॥ च अ०॥ *स०*—स्यश्च सि
सीयुट् च तासिश्च स्य...तासयस्तेषु...। भावश्च कर्म च भावकर्म
तयो...। अच् च हनश्च ग्रहश्च दृश् च अज्झ...दृशस्तेषाम्...। सर्वत्रे
तरद्वन्द्वः ॥ चिणीव चिण्वत् *तत्र तस्येव* (५।१।११५) इति सप्तमीसमर्थ
वतिः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—स्य, सिच्, सीयुट्, तासि इत्ये
परतो भावकर्मविषयेषु उपदेशेऽजन्तानामङ्गानां हन, ग्रह, दृश इत्येतेषां
चिण्वत् कार्यं विकल्पेन भवति, इडागमश्च ॥ चिण्वद्भावविधानेन स
विधानात् यदा चिण्वत्कार्यं तदैव इडागमः ॥ उदा०—स्येऽजन्ताना
चायिष्यते, चेष्यते, अचायिष्यत अचेष्यत । दायिष्यते, दास्यते, अ
यिष्यत, अदास्यत । शामिष्यते, शमिष्यते, शमयिष्यते, अशामिष्यत, अश
ष्यत, अशमयिष्यत । हन्—घानिष्यते, हनिष्यते, अघानिष्यत, अह
ष्यत । ग्रह—ग्राहिष्यते, ग्रहीष्यते, अग्राहिष्यत, अग्रहीष्यत । दृश
दर्शिष्यते, द्रक्ष्यते, अदर्शिष्यत, अद्रक्ष्यत । सिचि-अजन्तानाम्—अ
यिषाताम्, अचेषाताम् । अदायिषाताम्, अदिषाताम् । अशामिषाता
अशमिषाताम्, अशमयिषाताम् । हन्—अघानिषाताम्, अवधिषाता
अहसाताम् । ग्रह्—अग्राहिषाताम्, अग्रहीषाताम् । दृश्—अदर्शिषाता

द्दक्षाताम्। सीयुटि-अजन्तानाम्—चायिषीष्ट, चेषीष्ट, दायिषीष्ट, ासीष्ट, शामिषीष्ट, शमिषीष्ट, शमयिषीष्ट। हन्—घानिषीष्ट, वधिषीष्ट। ाह—ग्राहिषीष्ट, ग्रहिषीष्ट। दृश्—दर्शिषीष्ट, दृक्षीष्ट। तासावजन्तानाम्—ायिता, चेता, दायिता, दाता, शामिता, शमिता, शमयिता। हन्—ानिता, हन्ता। ग्रह्—ग्राहिता, ग्रहीता। दृश्—दर्शिता, द्रष्टा॥

भाषार्थः—[*भावकर्मणोः*] भाव तथा कर्म विषयक [*स्य···सिषु*] स्य, सिच्, सीयुट् और तास् के परे रहते [*उपदेशे*] उपदेश में [*अज्झ··शाम्*] अजन्त धातुओं तथा हन्, ग्रह् एवं दृश् धातुओं को [*चिण्वत्*] चिण्वत् = चिण् के समान [*वा*] विकल्प से कार्य होता है, [*च*] तथा [*इट्*] इट् आगम भी होता है॥ चिण्वत् कार्य के साथ इट् का विधान होने से जिस पक्ष में चिण्वत् कार्य होता है, उसी पक्ष में इट् आगम होता है, ऐसा जानना चाहिये॥ इट् आगम स्य, सिच्, सीयुट् तास् को होता है, अङ्ग को नहीं॥ इस सूत्र से जो इट् का आगम होता है वह आभात् प्रकरणान्तर्गत होने से *णेरनिटि* (६।४।५१) की दृष्टि में असिद्ध माना जाने से 'शामिष्यते शमिष्यते' आदि णिजन्त प्रयोगों में णि का लोप हो जाता है। सप्तमाध्यायस्थ इडागम होने पर णिलोप नहीं हो सकता, यथा 'शमयिष्यते'। यह इस णि विधान का वैशिष्ट्य है॥ सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें॥

दीङो युडचि क्ङिति ॥६।४।६३॥

दीङः ५।१॥ युट् १।१॥ अचि ७।१॥ क्ङिति ७।१॥ *स०*—'क्ङिति' इत्यस्य विग्रहः पूर्ववज्ज्ञेयः॥ *अनु०*—अङ्गस्य, आर्धधातुके॥ *अर्थः*—अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतो दीङो युडागमो भवति॥ *उदा०*—उपदिदीये, उपदिदीयाते, उपदिदीयिरे॥

भाषार्थः—[*अचि*] अजादि [*क्ङिति*] कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते [*दीङः*] दीङ् धातु से उत्तर [*युट्*] युट् का आगम होता है॥ परि० १।२।६ पृ० ७६४ के ईधे के समान सिद्धि की प्रक्रिया समझें। यहाँ 'दीङः' में पञ्चमी होने से दीङ् धातु से उत्तर अजादि प्रत्यय को युट् आगम होता है ऐसा जानें॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ६।४।६४ तक तथा '*क्ङिति*' की ६।४।६८ तक जायेगी ॥

आतो लोप इटि च ॥६।४।६४॥

आतः ६।१॥ लोपः १।१॥ इटि ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—अचि, क्ङिति, आर्धधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आकारान्तस्याङ्गस्य इडादावार्ध-धातुके क्ङिति चाजादावार्धधातुके परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—इडादावार्धधातुके—पपिथ, तस्थिथ । कित्यजादौ—पपतुः पपुः, तस्थतुः तस्थुः, गोदः, कम्बलदः । ङिति—प्रदा, प्रधा ॥

भाषार्थः—[*इटि*] इडादि आर्धधातुक [*च*] तथा अजादि कित् ङित् आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते [*आतः*] आकारान्त अङ्ग का [*लोपः*] लोप होता है ॥ इट् का पृथक् ग्रहण अक्ङिदर्थ है ॥ पा तथा स्था धातु से लिट् लकार में सिप् को थल् (३।४।८२) तथा *ऋतो भारद्वाजस्य* (७।२।६३) के नियम से इट् आगम होकर 'प पा इ थ' रहा । प्रकृत सूत्र से अन्त्य आ (१।१।५१) का लोप होकर पपिथ तस्थिथ बन गया । पपतुः पपुः की सिद्धि परि० १।१।५८ पृ० ७४९ में देखें । गोदः कम्बलदः में *आतोऽनुपसर्गे कः* (३।२।३) से क प्रत्यय हुआ है । प्रदा प्रधा में *आतश्चोपसर्गे* (३।३।१०६) से अङ् ङित् प्रत्यय हुआ है । आकार लोप एवं टाप् होकर प्रदा प्रधा बनता है ॥

यहाँ से '*आतः*' की अनुवृत्ति ६।४।६८ तक जायेगी ॥

ईद्यति ॥६।४।६५॥

ईत् १।१॥ यति ७।१॥ *अनु०*—आतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आकारान्त-स्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति यति परतः ॥ *उदा०*—देयम्, धेयम्, हेयम्, स्थेयम् ॥

भाषार्थः—आकारान्त अङ्ग को [*ईत्*] ईकारादेश होता है [*यति*] यत् प्रत्यय परे रहते ॥ *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् प्रत्यय होता है । ३।१।९७ सूत्र के ही परिशिष्ट में गेयम् की सिद्धि के समान यहाँ सिद्धि जानें ॥

यहाँ से 'ईत्' की अनुवृत्ति ६।४।६६ तक जायेगी ॥

घुमास्थागापाजहातिसां हलि ॥६।४।६६॥

घुमा……साम् ६।३॥ हलि ७।१॥ स०—घु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्व: ॥ अनु०—ईत्, क्ङिति, आर्धधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—घुसंज्ञकानामङ्गानां मा, स्था, गा, पा, हा, सा इत्येतेषां च हलादौ क्ङित्यार्धधातुके परत ईकारादेशो भवति॥ उदा०—घु—दीयते, धीयते। देदीयते, देधीयते। मा—मीयते, मेमीयते। स्था—स्थीयते, तेष्ठीयते। गा—गीयते, जेगीयते।[1] अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्। पा—पीयते, पेपीयते। हा—हीयते, जेहीयते। सा—अवसीयते, अवसेषीयते॥

भाषार्थ:—[घुमा……साम्] घुसंज्ञक मा, स्था, गा, पा, ओहाक् त्यागे तथा षो अन्तकर्मणि इन अङ्गों को [हलि] हलादि कित् ङित् आर्धधातुक के परे रहते ईकारादेश होता है॥ दीयते धीयते यहाँ कर्म में लकार हुआ है। देदीयते यह यङन्त का रूप है। इसी प्रकार मीयते मेमीयते आदि में जानें। अध्यगीष्ट की सिद्धि भाग १ परि० १।२।१ में देखें। जहाति से यहाँ ओहाक् त्यागे का ग्रहण है। षो धातु को धात्वादे:० (६।१।६२) से स तथा आदेच उप० (६।१।४४) से आत्व होता है। तेष्ठीयते यहाँ शर्पूर्वा: खय: (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहता है॥

यहाँ से 'घुमास्थागापाजहातिसाम्' की अनुवृत्ति ६।४।६९ तक जायेगी॥

एर्लिङि ॥६।४।६७॥

ए: १।१॥ लिङि ७।१॥ अनु०—घुमास्थागापाजहातिसाम्, क्ङिति, आर्धधातुके, अङ्गस्य॥ अर्थ:—क्ङित्यार्धधातुके लिङि परत: घुमास्थागापाजहातिसामङ्गानां एकारादेशो भवति॥ उदा०—देयात्, मेयात्, धेयात्, स्थेयात्, गेयात्, पेयात्, अवसेयात्॥

भाषार्थ:—कित् ङित् [लिङि] लिङ् आर्धधातुक परे रहते घु, मा, स्था, गा, पा, हा तथा सा इन अङ्गों को [ए:] एकारादेश हो जाता है॥

---

१. 'गामादाग्रहणेष्वविशेष:' इति परिभाषया इङादेशोऽपि गृह्यते।

आशीर्लिङ् ३।४।११६ से आर्धधातुक और *किदाशिषि* (३।४।१०४) से कित् होता है सो उसी के उदाहरण हैं। अन्य कोई विशेष सिद्धि में नहीं है। मेयात् मा माने का रूप है॥ ङित् की अनुवृत्ति होने पर भी असम्भव होने से उसके उदाहरण नहीं बनते॥

यहाँ से '*एर्लिङि*' की अनुवृत्ति ६।४।६८ तक जायेगी॥

वान्यस्य संयोगादेः ॥६।४।६८॥

वा अ० ॥ अन्यस्य ६।१॥ संयोगादेः ६।१॥ *स०*—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्य······बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—एर्लिङि, आतः, आर्धधातुके, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—घ्वादिभ्योऽन्यस्य संयोगादेराकारान्तस्याङ्गस्य किङत्यार्धधातुके लिङि परत एत्वं भवति विकल्पेन॥ *उदा०*—ग्लेयात्, ग्लायात्, म्लेयात्, म्लायात्॥

भाषार्थः—घु, मा, स्था से [*अन्यस्य*] अन्य जो [*संयोगादेः*] संयोग आदि वाला आकारान्त अङ्ग उसको कित् ङित् लिङ् आर्धधातुक परे रहते [*वा*] विकल्प से एकारादेश होता है॥ ग्लै म्लै धातु संयोगादि हैं, इनको पूर्ववत् आत्व तथा *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से यासुट् परे अन्त्य अल् को एत्व होता है॥ 'अन्यस्य' यहाँ प्रकृत में कहे घु मा स्था आदि की अपेक्षा से ही रखा है, अतः 'घ्वादियों से जो अन्य' यह अर्थ हुआ है॥

न ल्यपि ॥६।४।६९॥

न अ०॥ ल्यपि ७।१॥ *अनु०*—घुमास्थागापाजहातिसाम्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—ल्यपि प्रत्यये परतो घुमास्थागापाजहातिसां यदुक्तं तन्न भवति॥ *उदा०*—प्रदाय, प्रधाय, प्रमाय, प्रस्थाय, प्रगाय, प्रपाय, प्रहाय, अवसाय॥

भाषार्थः—घु, मा, स्था आदियों को [*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते जो कुछ कहा है वह [*न*] नहीं होता॥ *घुमास्था०* (६।४।६६) से ईत्व कहा था उसीका निषेध कर दिया॥

यहाँ से '*ल्यपि*' की अनुवृत्ति ६।४।७० तक जायेगी॥

मयतेरिदन्यतरस्याम् ॥६।४।७०॥

मयतेः ६।१॥ इत् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—ल्यपि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—मयतेरङ्गस्य इकारादेशो भवति, ल्यपि परतोऽन्यतरस्याम् ॥ *उदा०*—अपमित्य, अपमाय ॥

भाषार्थः—[*मयतेः*] मेङ् प्रणिदाने अङ्ग को [*इत्*] इकारादेश [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके होता है ल्यप् परे रहते ॥ अपमित्य अपमाय यहाँ *उदीचां माङो०* (३।४।१९) से क्त्वा' प्रत्यय हुआ है, शेष सिद्धि परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें ॥

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ॥६।४।७१॥

लुङ्लङ्लृङ्क्षु ७।३॥ अट् १।१॥ उदात्तः १।१॥ *स०*—लुङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—लुङ् लङ् लृङ् इत्येतेषु परतोऽङ्गस्य 'अट्' आगमो भवति, उदात्तश्च स भवति ॥ *उदा०*—लुङ्—अकार्षीत्, अहार्षीत् । लङ्—अकरोत्, अहरत् । लृङ्—अकरिष्यत्, अहरिष्यत् ॥

भाषार्थः—[*लुङ्लङ्लृङ्क्षु*] लुङ्, लङ् तथा लृङ् के परे रहते अङ्ग को [*अट्*] अट् का आगम होता है, और वह अट् [*उदात्तः*] उदात्त भी होता है ॥ अकार्षीत् अहार्षीत् की सिद्धि भाग १ परि० १।१।१ पृ० ६६६ में की है । अकरिष्यत् की सिद्धि भी परि० १।४।१३ में देखें । अट् कृ उ ति = अकर् उ त् = अकरोत् बना । इसी प्रकार शप् विकरण होकर अहरत् बना ॥

यहाँ से '*लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः*' की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी ॥

आडजादीनाम् ॥६।४।७२॥

आट् १।१॥ अजादीनाम् ६।३॥ *स०*—अच् आदिर्येषां तानि अजादीनि तेषाम् 'बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लुङ्लङ्लृङ्क्षु, उदात्तः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अजादीनामङ्गानां 'आट्' आगमो भवति, लुङ्लङ्लृङ्क्षु परत उदात्तश्च स भवति ॥ *उदा०*—लुङ्—ऐक्षिष्ट, ऐहिष्ट, औब्जीत्,

औम्भीत्। लङ्—ऐक्षत, ऐहत, औब्जत्, औम्भत्। लृङ्—ऐक्षिष्यत, ऐहिष्यत, औब्जिष्यत्, औम्भिष्यत्॥

भाषार्थः—[*अजादीनाम्*] अच् आदि वाले अङ्ग को [*आट्*] आट् का आगम होता है, लुङ् लङ् लृङ् इनके परे रहते, और वह आट् उदात्त भी होता है॥ सम्पूर्ण सिद्धियाँ *आटश्च* (६।१।८७) सूत्र में देखें॥

यहाँ से '*आट्*' की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी॥

छन्दस्यपि दृश्यते ॥६।४।७३॥

छन्दसि ७।१॥ अपि अ०॥ दृश्यते क्रियापदम्॥ *अनु०*—आट्, उदात्तः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये आडागमो दृश्यते यत्र विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यत इत्यर्थः॥ आडजादीनामित्युक्तमनजादीनामपि दृश्यते॥ *उदा०*—सुरुचो वेन आवः। आनक्। आयुनक्॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*अपि*] भी आट् आगम [*दृश्यते*] देखा जाता है॥ अर्थात् *आडजादीनाम्* से अजादियों से आट् आगम कहा है, अनजादियों से भी देखा जाता है॥ आवः की सिद्धि भाग १ परि० २।४।८० में देखें, तथा णश् धातु से आनक् की सिद्धि भी प्रणक् के समान वहीं देखें। युजिर् योगे से लङ् में श्नम् विकरण होकर आयुनक् बनेगा। *चोः कुः* (८।२।३०) से कुत्व गकार एवं चर्त्व होकर ककार हुआ है॥

न माङ्योगे ॥६।४।७४॥

न अ०॥ माङ्योगे ७।१॥ *स०*—माङो योगः माङ्योगस्तस्मिन्'' षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः, आट्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—लुङ्-लङ्लृङ्क्षु परतो यौ अट् आट् आगमावुक्तौ तौ माङ्योगे न भवतः॥ *उदा०*—मा भवान् कार्षीत्, मा भवान् हार्षीत्। मा स्म करोत्, मा स्म हरत्। मा भवान् ईहिष्ट। मा स्म भवान् ईहत। मा स्म भवान् ईक्षत॥

भाषार्थः—लुङ् लङ् लृङ् परे रहते जो अट् आट् आगम कहे हैं वे [*माङ्योगे*] माङ् के योग में [*न*] नहीं होते॥ मा भवान् 'कार्षीत्' 'ईहिष्ट' यहाँ *माङि लुङ्* (३।३।१७५) से लुङ् हुआ है, तथा मा स्म 'करोत्, ईहत, ईक्षत' यहाँ *स्मोत्तरे लङ् च* (३।३।१७६) से लङ् हुआ है। ईह् इट् सिच् त = ईहिष्त = ईहिष्ट बन गया॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी॥

बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ॥६।४।७५॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अमाङ्योगे ७।१॥ अपि अ० ॥ स०—माङो योगः माङ्योगः, षष्ठीतत्पुरुषः, न माङ्योगोऽमाङ्योगस्तस्मिन्.... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः, आट्, अङ्गस्य, माङ्योगे, न ॥ अर्थः—लुङ्लङ्लृङ्क्षु छन्दसि विषये माङ्योगेऽपि बहुलमडाटौ भवतः, अमाङ्योगेऽपि न भवतः ॥ उदा०—अमाङ्योगे—जनिष्ठा उग्रः (ऋ० १०।७३।१) काममूनयीः। काममदर्दयीत्। माङ्योगे—मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः। मा अभित्थाः। मा आवः ॥

भाषार्थः—लुङ् लङ् लृङ् परे रहने पर [छन्दसि] वेद विषय में माङ् का योग होने पर अट् आट् आगम [बहुलम्] बहुल करके होते हैं और [अमाङ्योगे] माङ् का योग न होने पर [अपि] भी नहीं होते। जन् धातु से लुङ् में थास् विभक्ति आकर जनिष्ठाः बना है। यहाँ माङ् का योग न होने पर भी अट् आगम नहीं हुआ है। काममूनयीः, अर्दयीत् की सिद्धि सूत्र ३।१।५१ में देखें। डुवप् धातु से अवाप्सुः की सिद्धि परि० ३।४।१०९ के अकार्षुः के समान जानें। यहाँ माङ् के योग में पूर्व सूत्र से अट् आगम प्राप्त नहीं था, इस सूत्र से बहुल कहने से हो गया। भिद् धातु से थास् में अभित्थाः बना है। यहाँ झलो झलि (८।२।२६) से सिच् का लोप होता है। आवः की सिद्धि पूर्वोक्त प्रदर्शित परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से 'बहुलं छन्दसि' की अनुवृत्ति ६।४।७६ तक जायेगी ॥

इरयो रे ॥६।४।७६॥

इरयोः ६।२॥ रे लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०—बहुलं छन्दसि ॥ अर्थः—इरे इत्येतस्य छन्दसि विषये बहुलं रे इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—गर्भं प्रथमं दध्र आपः (ऋ० १०।८२।५)। यास्यऽपरिदध्रे। न च भवति बहुलवचनात्—परमाया धियोग्निकर्माणि चक्रिरे ॥

भाषार्थः—[इरयोः] इरे के स्थान में वेद में बहुल करके [रे] रे आदेश होता है ॥ इरे से यहाँ लिटस्तझयो० (३।४।८१) वाला इरेच् गृहीत है। 'दधा इरे' यहाँ रे भाव कर लेने पर अनजादि परे होने से

आतो लोप इटि च (६।४।६४) से आकारलोप नहीं प्राप्त था, सो *असिद्धवदत्राभात्* (६।४।२२) से असिद्ध होने से (इरे मानकर) हो जाता है ॥

विशेषः—'इरयोः' में द्विवचन इसलिये निर्दिष्ट है कि रे भाव कर लेने के पश्चात् सेट् धातुओं को इट् आगम होने पर जो पुनः 'इरे' रूप बन जाता है, उसको भी इस सूत्र से पुनः 'रे' भाव हो जाये, अर्थात् जो 'झ' के स्थान में इरेच् तथा जो बाद में 'रे' को इट् आगम करके 'इरे' बना हुआ रूप दोनों को रे भाव हो जाये। इस प्रकार यहाँ इरेश्च इरेश्च = इरयोः ऐसा एकशेष (१।२।६४) करके निर्देश है ॥

अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥६।४।७७॥

अचि ७।१॥ श्नुधातुभ्रुवाम् ६।३॥ य्वोः ६।२॥ इयङुवङौ १।२॥ *स०*—श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च श्नुधातुभ्रुवस्तेषां'''। इश्च उश्च यू तयोः'''। इयङ् च उवङ् च इयङुवङौ। सर्वत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्नुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तधातोः भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्य इयङ् उवङ् इत्येतावादेशौ भवतोऽचि परतः ॥ *उदा०*—श्नुप्रत्ययान्तस्य—आप्नुवन्ति, राध्नुवन्ति, शक्नुवन्ति। इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः—चिक्षियतुः, चिक्षियुः, लुलुवतुः, लुलुवुः, नियौ, नियः, लुवौ, लुवः,। भ्रू—भ्रुवौ, भ्रुवः ॥

भाषार्थः—[*श्नुधातुभ्रुवाम्*] श्नु प्रत्ययान्त अङ्ग तथा [*य्वोः*] इवर्णान्त उवर्णान्त धातु एवं भ्रू शब्द को [*इयङुवङौ*] इयङ् उवङ् आदेश होते हैं [*अचि*] अच् परे रहते ॥ यहाँ 'य्वोः' इवर्ण उवर्ण, धातु का ही विशेषण है, क्योंकि श्नु भ्रू तो उवर्णान्त हैं ही। *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से इवर्ण के स्थान में इयङ् तथा उवर्ण के स्थान में उवङ् यथासंख्य करके होता है। आप्नुवन्ति आदि श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग हैं। णी तथा लू धातु से क्विप् में नियौ, नियः, लुवौ, लुवः बना है ॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक तथा '*य्वोः*' की ६।४।७८ तक एवं '*इयङुवङौ*' की ६।४।८० तक जायेगी ॥

अभ्यासस्यासवर्णे ॥६।४।७८॥

अभ्यासस्य ६।१॥ असवर्णे ७।१॥ *स०*—अस० इत्यत्र नञ्-

तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अचि, य्वोः, इयङुवङौ ॥ *अर्थः*—इवर्णान्तस्योवर्णान्तस्याभ्यासस्य असवर्णेऽचि परत इयङ् उवङ् इत्येतावादेशौ भवतः ॥ *उदा०*—इयेष, उवोष, इयर्त्ति ॥

भाषार्थः—इवर्णान्त उवर्णान्त [*अभ्यासस्य*] अभ्यास को [*असवर्णे*] सवर्ण भिन्न अच् परे रहते इयङ् उवङ् आदेश होते हैं ॥ उवोष की सिद्धि परि० ३।१।३८ पृ० ८७२ में देखें, तद्वत् इषु धातु से इयेष की सिद्धि जानें। ऋ गतौ धातु से *जुहोत्यादिभ्यः श्लुः* (२।४।७५) से शप् को श्लु एवं द्वित्वादि करके लट् लकार में इयर्त्ति की सिद्धि जानें। अभ्यास को *उरत्* (७।४।६६) से अत्व, रपरत्व तथा *अर्त्तिपिपर्त्योश्च* (७।४।७७) से इत्व होकर 'इ ऋ ति' रहा। अब इयङ् होकर इय् ऋ ति=गुण होकर इयर्त्ति बन गया। *अचो रहाभ्यां०* (८।४।४५) से त् को द्वित्व भी हो जाता है ॥

स्त्रियाः ॥६।४।७९॥

स्त्रियाः ६।१॥ *अनु०*—अचि, इयङ् ॥ *अर्थः*—स्त्री इत्येतस्य अजादौ प्रत्यये परत इयङादेशो भवति ॥ *उदा०*—स्त्रियौ, स्त्रियः ॥

भाषार्थः—[*स्त्रियाः*] स्त्री शब्द को अजादि प्रत्यय परे रहते इयङ् आदेश होता है ॥ पूर्ववत् ईकार को इयङ् होता है ॥

यहाँ से '*स्त्रियाः*' की अनुवृत्ति ६।४।८० तक जायेगी ॥

वाऽम्शसोः ॥६।४।८०॥

वा अ० ॥ अम्शसोः ७।२॥ *स०*—अम्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्त्रियाः, इयङ् ॥ *अर्थः*—अमि शसि च परतः स्त्रियाः वा इयङादेशो भवति ॥ *उदा०*—स्त्रीं पश्य, स्त्रियं पश्य। शस्—स्त्रीः पश्य, स्त्रियः पश्य ॥

भाषार्थः—[*अम्शसोः*] अम् तथा शस् विभक्ति परे रहते स्त्री शब्द को [*वा*] विकल्प से इयङ् आदेश होता है ॥

इणो यण् ॥६।४।८१॥

इणः ६।१॥ यण् १।१॥ *अनु०*—अचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इणोऽङ्गस्य यणादेशो भवति अचि परतः ॥ *उदा०*—यन्ति, यन्तु, आयन् ॥

भाषार्थः—[*इणः*] इण् अङ्ग को [*यण्*] यणादेश होता है, अच् परे रहते ॥ *अचिश्नुधातु०* (६।४।७७) का यह अपवाद है ॥ यन्ति लट् प्रथम पुरुष बहुवचन, यन्तु लोट् बहुवचन, एवं आयन् लङ् बहुवचन का रूप है। आयन् में *असिद्धवद०* (६।४।२२) से यण् के असिद्धवत् होने से *आडजादीनाम्* (६।४।७२) से आट् आगम हुआ है। *अदिप्रभृतिभ्यः०* (२।४।७२) से शप् का लुक् हुआ है ॥

यहाँ से '*यण्*' की अनुवृत्ति ६।४।८७ तक जायेगी ॥

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥६।४।८२॥

एः ६।१॥ अनेकाचः ६।१॥ असंयोगपूर्वस्य ६।१॥ *स०*—न एकः अनेकः, नञ्तत्पुरुषः। अनेकोऽच् यस्मिन् स अनेकाच् तस्य ...... बहुव्रीहिः। अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्मात् स असंयोगपूर्वस्तस्य ...... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अचि, यण्, अङ्गस्य। *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) इत्यतः 'धातोः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—धातोरवयवः संयोगः पूर्वो यस्मादिवर्णान्न भवति तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽचि परतो यणादेशो भवति ॥ *उदा०*—निन्यतुः, निन्युः, उन्न्यौ, उन्न्यः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः ॥

भाषार्थः—धातु का अवयव जो [*असंयोगपूर्वस्य*] संयोग, वह पूर्व में नहीं है जिस [*एः*] इवर्ण के तदन्त [*अनेकाचः*] अनेक अच् वाले अङ्ग को अच् परे रहते यणादेश होता है ॥ 'नी नी अतुस्' यहाँ धातु का अवयव जो 'ई' उससे पूर्व संयोग नहीं है, तथा 'नी नी' अङ्ग अनेकाच् भी है, अतः अच् परे रहते यणादेश हो गया है। यहाँ 'असंयोगपूर्व' को धातु के अवयव इवर्ण का विशेषण बनाना है, न कि अङ्ग का। इससे 'उत् + नी' में त्न् का संयोग होने पर भी धातु भाग जो 'नी' उसका अवयव रूप संयोग नहीं है, क्योंकि त् उपसर्ग का अवयव है ॥ *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) का अपवाद यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य*' की अनुवृत्ति ६।४।८७ तक जायेगी ॥

ओः सुपि ॥६।४।८३॥

ओः ६।१॥ सुपि ७।१॥ *अनु०*—अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य, अचि,

यण्, अङ्गस्य । धातोः इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—धात्ववयवः संयोगः पूर्वो यस्मादुवर्णान्न भवति तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽजादौ सुपि परतो यणादेशो भवति ॥ *उदा०*—खलप्वौ, खलप्वः । शतस्वौ, शतस्वः । सकृल्ल्वौ, सकृल्ल्वः ।

भाषार्थः—धातु का अवयव जो संयोग वह पूर्व में नहीं है जिस [*ओः*] उवर्ण के, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को अजादि [*सुपि*] सुप् परे रहते यणादेश होता है ॥ खलं पुनातीति खलपूः यहाँ *अन्येभ्योऽपि०* (३।२।१७८) से तथा शतं सूत इति शतसूः यहाँ *सत्सूद्विष०* (३।२।६१) से क्विप् प्रत्यय हुआ है। यहाँ भी धात्ववयव संयोग उवर्ण से पूर्व नहीं है, तथा खलपूः, शतसूः अनेकाच् अङ्ग हैं। सकृल्लू यहाँ सकृत् के त् को *तोर्लि* (८।४।५९) से परसवर्ण ल् हुआ है। यहाँ भी संयोग धातु का अवयव नहीं है ॥

यहाँ से '*सुपि*' की अनुवृत्ति ६।४।८५ तक जायेगी ॥

वर्षाभ्वश्च ॥६।४।८४॥

वर्षाभ्वः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सुपि, अचि, यण्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वर्षाभू इत्येतस्याङ्गस्य अजादौ सुपि परतो यणादेशो भवति ॥ *उदा०*—वर्षाभ्वौ वर्षाभ्वः ॥

भाषार्थः—[*वर्षाभ्वः*] वर्षाभू इस अङ्ग को [*च*] भी अजादि सुप् परे रहते यणादेश होता है ॥

न भूसुधियोः ॥६।४।८५॥

न अ० ॥ भूसुधियोः ६।२॥ *स०*—भू० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुपि, अचि, यण्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भू, सुधी इत्येतयोरङ्गयोर्यणादेशो न भवति अजादौ सुपि परतः ॥ *उदा०*—प्रतिभुवौ, प्रतिभुवः, सुधियौ, सुधियः ॥

भाषार्थः—[*भूसुधियोः*] भू तथा सुधी अङ्ग को यणादेश [*न*] नहीं होता, अजादि सुप् परे रहते ॥ प्रतिभू शब्द से *भुवः संज्ञा०* (३।२।१७९) से क्विप् हुआ है। 'भू' को *ओः सुपि* से यणादेश की प्राप्ति थी, तथा

'सुधी' को *एरनेकाचो०* (६।४।८२) से यण् प्राप्त था, निषेध कर दिया, तब यथाप्राप्त *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) से इयङ् उवङ् आदेश ही होता है ॥

यहाँ से '*भूसुधियोः*' की अनुवृत्ति ६।४।८६ तक जायेगी ॥

छन्दस्युभयथा ॥६।४।८६॥

छन्दसि ७।१॥ उभयथा अ० ॥ *अनु०*—भूसुधियोः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये भू सुधी इत्येतयोरङ्गयोरुभयथा दृश्यते ॥ *उदा०*—वनेषु चित्रं विभ्वं विशे (ऋ० ४।६।१), विशे विभुवम् । सुध्यो हव्यमग्ने, सुधियो हव्यमग्ने ॥

भाषार्थः—भू सुधी इन अङ्गों को [*छन्दसि*] वेद विषय में [*उभयथा*] दोनों प्रकार से देखा जाता है, अर्थात् यणादेश होता भी है एवं नहीं भी होता । जब यणादेश नहीं होगा तो इयङ् उवङ् हो ही जायेंगे ॥

हुश्नुवोः सार्वधातुके ॥६।४।८७॥

हुश्नुवोः ६।२॥ सार्वधातुके ७।१॥ *स०*—हुश्च श्नुश्च हुश्नुवौ तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य, अचि, यण्, अङ्गस्य । *ओः सुपि* (६।४।८३) इत्यतः 'ओः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—हु इत्येतस्य श्नुप्रत्ययान्तस्य चानेकाचोऽङ्गस्य योऽसंयोगपूर्व उकारस्तस्य स्थाने यणादेशो भवति अजादौ सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—जुह्वति, जुह्वतु । श्नुप्रत्ययान्तस्य—सुन्वन्ति, सुन्वन्तु ॥

भाषार्थः—[*हुश्नुवोः*] हु तथा श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग को संयोगपूर्व में नहीं है जिससे ऐसा जो उवर्ण उसको अजादि [*सार्वधातुके*] सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते यणादेश होता है ॥ पूर्ववत् इयङ् उवङ् का अपवाद यह सूत्र भी है ॥ असंयोगपूर्व उवर्ण का, तथा अनेकाच् अङ्ग का विशेषण है । वह उवर्ण हु एवं श्नुप्रत्यय का ही होना चाहिये ॥

जुहोति की सिद्धि भाग १ परि १।१।६० में की है, तद्वत् बहुवचन में झि को *अदभ्यस्तात्* (७।१।४) से अत् आदेश होकर जुह्वति जुह्वतु की सिद्धि जानें । सुन्वन्ति सुन्वन्तु की सिद्धि भाग १ परि० १।१।५ पृ० ६७०–६८० में देखें ॥

भुवो वुग् लुङ्लिटोः ॥६।४।८८॥

भुवः ६।१॥ वुक् १।१॥ लुङ्लिटोः ७।२॥ *स०*—लुङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भुवोऽङ्गस्य वुक् आगमो भवति लुङि लिटि चाजादौ प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—लुङि—अभूवन्, अभूवम् । लिटि—बभूव, बभूवतुः, बभूवुः ॥

भाषार्थः—[*भुवः*] भू अङ्ग को [*वुक्*] वुक् आगम होता है [*लुङ्लिटोः*] लुङ् तथा लिट् अजादि प्रत्यय के परे रहते ॥ बभूव की सिद्धि भाग १ परि० १।२।६ में देखें। अभूवन् अभूवम् की सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है, लुङ् लकार में सिद्धि बहुत बार दिखा ही आये हैं। 'अन्ति' तथा अम् (मिप् के स्थान में हुआ) अजादि प्रत्यय परे हैं ही। *गातिस्थाघु०* (२।४।७७) से यहाँ सिच् लुक् होता है ॥

ऊदुपधाया गोहः ॥६।४।८९॥

ऊत् १।१॥ उपधायाः ६।१॥ गोहः ६।१॥ *अनु०*—अचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—गोहोऽङ्गस्योपधाया ऊकारादेशो भवति, अजादौ प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—निगूहति, निगूहकः, निगूही, निगूहं निगूहम्, निगूहन्ति ॥

भाषार्थः—[*गोहः*] गोह् अङ्ग की [*उपधायाः*] उपधा को [*ऊत्*] ऊकारादेश होता है अजादि प्रत्यय परे रहते ॥ गुहू संवरणे धातु को यहाँ गुण करके 'गोह्' निर्देश किया है, अतः जहाँ गुहू को गोह् ऐसा रूप बनेगा, वहीं ऊकारादेश होगा ॥ निगूही में *सुप्यजातौ०* (३।२।७८) से णिनि हुआ है। निगूहं निगूहम् में *आभीक्ष्ण्ये०* (३।४।२२) से णमुल् तथा *आभीक्ष्ण्ये०* (वा० ८।१।१२) से द्वित्व हुआ है। शेष स्पष्ट ही हैं ॥

यहाँ से 'ऊत्' की अनुवृत्ति ६।४।९१ तक तथा '*उपधायाः*' की ६।४।१०० तक जायेगी ॥

दोषो णौ ॥६।४।९०॥

दोषः ६।१॥ णौ ७।१॥ *अनु०*—ऊत्, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दोष उपधाया ऊकार आदेशो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—दूषयति, दूषयतः, दूषयन्ति ॥

भाषार्थः—[*दोषः*] दोष अङ्ग की उपधा को ऊकार आदेश होता है [*णौ*] णि परे रहते ॥ दुष वैकृत्ये धातु को गुण करके दोष यह निर्देश है ॥

यहाँ से '*णौ*' की अनुवृत्ति ६।४।९४ तक तथा '*दोषः*' की ६।४।९१ तक जायेगी ॥

वा चित्तविरागे ॥६।४।९१॥

वा अ० ॥ चित्तविरागे ७।१॥ *स०*—चित्तस्य विरागः = अप्रीतता चित्तविरागस्तस्मिन्'''॥ *अनु०*—दोषो णौ, ऊत्, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—चित्तविरागेऽर्थे दोष उपधाया वा ऊकारादेशो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—चित्तं दूषयति, चित्तं दोषयति । प्रज्ञां दूषयति, प्रज्ञां दोषयति ॥

भाषार्थः—[*चित्तविरागे*] चित्त के विराग = अप्रीति = विकार अर्थ में दोष अङ्ग की उपधा को णि परे रहते [*वा*] विकल्प से ऊकारादेश होता है ॥ चित्तं दूषयति का तात्पर्य है—चित्त को विमुख करता है ॥

मितां ह्रस्वः ॥६।४।९२॥

मिताम् ६।३॥ ह्रस्वः १।१॥ *स०*—म् इत् येषां ते मितस्तेषाम्''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—मितामङ्गानामुपधाया ह्रस्वो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—घटयति, व्यथयति, जनयति, रजयति, शमयति, ज्ञपयति ॥

भाषार्थः—[*मिताम्*] मित् अङ्ग की उपधा को [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है, णि परे रहते ॥ धातुपाठ के अन्तर्गत भ्वादिगण में मित् धातुयें कौन २ हैं यह बताया है यथा—*घटादयो मितः*, *जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च* इत्यादि । इन्हीं सूत्रों से ये सब धातुयें मित् होकर प्रकृत सूत्र से इनके उपधा को ह्रस्व हो जाता है, अर्थात् *अत उपधायाः* से हुई वृद्धि को ह्रस्व होता है ॥

यहाँ से '*मिताम्*' की अनुवृत्ति ६।४।९३ तक जायेगी ॥

चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम् ॥६।४।९३॥

चिण्णमुलोः ७।२॥ दीर्घः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—चिण्०

इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—मिताम्, णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—मितामङ्गानामुपधायाः चिण्परे णमुल्परे च णौ परतो दीर्घो भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*— अशमि, अशामि, अतमि, अतामि । शमंशमम्, शामंशामम्, तमंतमम् तामंतामम् ॥

भाषार्थः—मित् अङ्ग की उपधा को [*चिण्णमुलोः*] चिण्परक तथा णमुल्परक णि परे रहते [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ शम् धातु से णिच् होकर तथा च्लि के स्थान में *चिण् भाव०* (३।१।६६) से चिण् होकर अ शाम् इ चिण् त रहा । *णेरनिटि* (६।४।५१) से णि लोप तथा प्रकृत सूत्र से दीर्घविकल्प एवं *चिणो लुक्* (६।४।१०४) से त लोप होकर अशमि, अशामि बना । शमंशमम् आदि में *आभीक्ष्ण्ये०* (३।४।२२) से णमुल् हुआ है । णि लोप पूर्ववत् हो ही जायेगा ॥

खचि ह्रस्वः ॥६।४।९४॥

खचि ७।१॥ ह्रस्वः १।१॥ अनु०—णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अङ्गस्योपधायाः खच्परे णौ परतो ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*— द्विषन्तपः, परन्तपः, पुरन्दरः ॥

भाषार्थः—[*खचि*] खच्परक णि परे रहते अङ्ग की उपधा को [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है ॥ द्विषन्तपः परन्तपः में *द्विषत्परयोस्तापेः* (३।२।३९) से खच् प्रत्यय एवं पुरन्दरः में पूः *सर्वयोर्दा०* (३।२।४१) से खच् प्रत्यय होता है । सिद्धि तत्तत् सूत्रों में ही देखें ॥

यहाँ से '*ह्रस्वः*' की अनुवृत्ति ६।४।९७ तक जायेगी ॥

ह्लादो निष्ठायाम् ॥६।४।९५॥

ह्लादः ६।१॥ निष्ठायाम् ७।१॥ अनु०—ह्रस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—निष्ठायां परतः ह्लादोऽङ्गस्योपधाया ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—प्रह्लन्नः, प्रह्लन्नवान् ॥

भाषार्थः—[*ह्लादः*] ह्लाद अङ्ग की उपधा को [*निष्ठायाम्*] निष्ठा परे रहते ह्रस्व हो जाता है ॥ उदाहरणों में *रदाभ्यां०* (८।२।४२) से निष्ठा के तकार एवं दकार को 'न्' हुआ है । *श्वीदितो०* (७।२।१४) से इट् निषेध भी हो जाता है ॥

छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ॥६।४।९६॥

छादेः ६।१॥ घे ७।१॥ अद्व्युपसर्गस्य ६।१॥ *स०*—द्वौ उपसर्गौ यस्मिन् स द्व्युपसर्गः, बहुव्रीहिः । न द्व्युपसर्गः अद्व्युपसर्गस्तस्मिन्... नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अद्व्युपसर्गस्य छादेरङ्गस्योपधायाः घप्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—उरश्छदः, प्रच्छदः, दन्तच्छदः ॥

भाषार्थः—[*अद्व्युपसर्गस्य*] दो उपसर्गों से युक्त नहीं है जो ऐसे [छादेः] छादि अङ्ग की उपधा को [घे] घ प्रत्यय परे रहने पर ह्रस्व होता है ॥ उरश्छदः आदि की सिद्धि भाग १ परि० ३।३।११८ में देखें। इन उदाहरणों में कहीं पर भी दो उपसर्गों से युक्त छादि अङ्ग नहीं है ॥

यहाँ से 'छादेः' की अनुवृत्ति ६।४।९७ तक जायेगी ॥

इस्मन्त्रन्क्विषु च ॥६।४।९७॥

इस्मन्त्रन्क्विषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—इस्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छादेः, ह्रस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छादेरङ्गस्योपधाया इस्, मन्, त्रन्, क्वि इत्येतेषु परतो ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—छदिः, छद्म, छत्रम्, धामच्छत्, उपच्छत् ॥

भाषार्थः—[*इस्मन्त्रन्क्विषु*] इस्, मन्, त्रन्, क्वि इन प्रत्ययों के परे रहते [च] भी छादि अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है ॥ छदिः यहाँ *अर्चिशुचिहुसृपिछादि०* (*उणा०* २।१०८) इस उणादि से इसि प्रत्यय हुआ है। छद्म में *सर्वधातुभ्यो मनिन्* (*उणा०* ४।१४५) से मनिन् हुआ है। छत्रम् में *सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्* (*उणा०* ४।१५९) से ष्ट्रन् प्रत्यय हुआ है। ष्ट्रन् का 'त्र' शेष रह जाता है। षकार (जिसके योग से ष्टुत्व हुआ था) के हट जाने से ष्टुत्व भी हट जाता है, सो ट्र का त्र रूप रहेगा। धामच्छत् में *क्विप् च* (३।२।७६) से क्विप् होता है। णि का लोप पूर्ववत् *णेरनिटि* (६।४।५१) से होगा ॥

गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ॥६।४।९८॥

गमहनजनखनघसाम् ६।३॥ लोपः १।१॥ क्ङिति ७।१॥ अनङि ७।१॥ *स०*—गमहन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य

स क्ङित् तस्मिन्…द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः। न अङ् अनङ् तस्मिन्…नञ्-तत्पुरुषः॥ *अनु०*—अचि, उपधायाः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—गम, हन, जन, खन, घस् इत्येतेषामङ्गानामुपधाया लोपो भवति, अजादौ क्ङिति अनङि परतः॥ *उदा०*—गम-जग्मतुः, जग्मुः। हन-जघ्नतुः, जघ्नुः। जन-जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे। खन-चख्नतुः, चख्नुः। घस्-जक्षतुः, जक्षुः, अक्षन्नमीमदन्त पितरः॥

भाषार्थः—[*गम…साम्*] गम, हन, जन, खन, घस् इन अङ्गों की उपधा का [*लोपः*] लोप हो जाता है, [*अनङि*] अङ् भिन्न अजादि [*क्ङिति*] कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो॥ अङ् प्रत्यय अजादि एवं ङित् है, अतः उपधा लोप प्राप्त था निषेध कर दिया॥ भाग १ परि० १।१।५७ पृ० ७४८-४९ में जक्षतुः जक्षुः एवं 'अक्षन्' की सिद्धि देखें, तथा जग्मतुः जग्मुः की परि० १।१।५८ में देखें। इसी प्रकार जघ्नतुः चख्नतुः बनेंगे। जघ्नतुः में *अभ्यासाच्च* (७।३।५५) से अभ्यास को कुत्व होता है। जज्ञे में *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९) से श्चुत्व हुआ है। आत्मनेपद में *लिटस्तझयो०* (३।४।८१) आदि हो जायेंगे॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक तथा '*क्ङिति*' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी॥

तनिपत्योश्छन्दसि ॥६।४।९९॥

तनिपत्योः ६।२॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—तनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—लोपः, क्ङिति, उपधायाः, अचि, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—तनि, पति इत्येतयोश्छन्दसि विषये उपधाया लोपो भवति, अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतः॥ *उदा०*—वितत्निरे कवयः (ऋ० १।१६४।५)। शकुना इव पप्तिम (ऋ० ६।१०७।२०)॥

भाषार्थः—[*तनिपत्योः*] तन् तथा पत् अङ्ग की उपधा का लोप होता है, [*छन्दसि*] वेद विषय में अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते॥ तन् तन् इरेच्=त तन् इरे, उपधा अकार का लोप होकर वितत्निरे बना। पत् पत् म=प प् त् म, इडागम होकर पप्तिम बना॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक जायेगी॥

घसिभसोर्हलि च ॥६।४।१००॥

घसिभसोः ६।२॥ हलि ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—घसि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, लोपः, क्ङिति, उपधायाः, अचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—घसि भस इत्येतयोश्छन्दसि विषये उपधाया लोपो भवति, हलादौ अजादौ च क्ङिति प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (य० १८।९)। बब्धां ते हरी धानाः (नि० ५।१२)। अजादौ—बप्सति॥

भाषार्थः—[*घसिभसोः*] घस् तथा भस् अङ्ग की उपधा का लोप [*हलि*] हलादि [*च*] तथा अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते होता है वेद विषय में ॥ सग्धिः तथा बब्धाम् की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें ॥ भस् धातु से झि को अत् आदेश (७।१।४) तथा श्लौ (६।१।१०) से भस् को द्वित्व एवं अभ्यास कार्य होकर 'बभस् अति' रहा, उपधा लोप होकर तथा *खरि च* (८।४।५४) से भ् को चर्त्व पकार होकर बप्सति बन गया ॥

यहाँ से '*हलि*' की अनुवृत्ति ६।४।१०१ तक जायेगी ॥

हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥६।४।१०१॥

हुझल्भ्यः ५।३॥ हेः ६।१॥ धिः १।१॥ *स०*—हुश्च झलश्च हुझलस्तेभ्यः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—हलि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हु इत्येतस्मात् झलन्तेभ्यश्चोत्तरस्य हलादेर्हेः स्थाने 'धि' इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—जुहुधि । झलन्तेभ्यः—भिन्द्धि, छिन्द्धि ॥

भाषार्थः—[*हुझल्भ्यः*] हु तथा झलन्त से उत्तर हलादि [*हेः*] हि के स्थान में [*धिः*] धि आदेश होता है ॥ जुहुधि की सिद्धि परि० ३।३।१६६ पृ० ९११ में देखें। भि श्नम् द् हि=भि न द् हि यहाँ *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से न के अ का लोप एवं हि को धि होकर भिन्द्धि छिन्द्धि बन गया ॥

यहाँ से '*हेर्धिः*' की अनुवृत्ति ६।४।१०३ तक जायेगी ॥

श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि ॥६।४।१०२॥

श्रुशृणुपॄकृवृभ्यः ५।३॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—श्रुशृणु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—हेर्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्रु, शृणु, पॄ,कृ, वृ इत्येतेभ्य

य छन्दसि विषये हेर्धिरादेशो भवति ॥ उदा०—श्रुधी हवम्
१।२।१) शृणुधी गिरः (ऋ० ८।८४।३) रायस्पूर्द्धि (ऋ० १।३६।१२)
कृधि (ऋ० ८।७५।११) अपावृधि ॥

भाषार्थः—[श्रुशृणुपॄकृवृभ्यः] श्रु, शृणु, पॄ, कृ तथा वृ से उत्तर
सि] वेद विषय में हि को धि आदेश होता है ॥ श्रुधि में शप्
न्दस लोप होता है। इसी प्रकार पूर्द्धि, कृधि, वृधि में भी शप् लुक् होता
शप् के अभाव में अन्यविकरण नहीं होते। शृणुधी में श्रुवः शृ च
।७४) से शृ आदेश तथा श्नु प्रत्यय होता है। अन्येषामपि दृश्यते
।१३५) से श्रुधी शृणुधी में धि को दीर्घ हुआ है। पूर्द्धि में पॄ धातु
उदोष्ठ्यपू० (७।१।१०२) से उत्व रपरत्व तथा हलि च (८।२।७७)
र्घ होता है। उरु अस्माकं कृधि उरुणस्कृधि यहाँ बहुवचनस्य०
।२१) से अस्माकं को नस् आदेश तथा नश्च धातु० (८।४।२६) से
हुआ है। उरुणः के विसर्जनीय को यहाँ कृधि परे रहते कःकरत्०
३।५०) से सत्व हुआ है ॥ अपावृधि वृञ् अथवा वृङ् का रूप है।
का मानने पर व्यत्यय से परस्मैपद छन्द में होगा ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ६।३।१०३ तक जायेगी ॥

अङितश्च ॥६।४।१०३॥

अङितः ६।१॥ च० अ० ॥ स०—ङ इत् यस्य स ङित्, न ङित्
ङत् तस्य' 'बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—छन्दसि, हेर्धिः ॥
ः—अङितश्च हेर्धिरादेशो भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—सोमं
न्धि (ऋ० १।९१।१३) अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्रयन्धि। युयोध्यस्मज्जुहु-
मेनः (य० ४०। १६) ॥

भाषार्थः—[अङितः] अङित् हि को [च] भी धि आदेश होता है,
विषय में ॥ वा छन्दसि (३।४।८८) से हि को विकल्प से अपित्
ा है, सो अपित् पक्ष में 'हि' सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से ङित्वत्
गा तथा पित् पक्ष में ङित् नहीं होगा, इस प्रकार जिस पक्ष में ङित्
ीं होगा उसी पक्ष में अङित् हि के होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति
गी ॥ रम धातु से रारन्धि बना है। यहाँ व्यत्यय से परस्मैपद होता
, तथा बहुलं छन्दसि (२।४।७६) से शप् को श्लु एवं तुजादीनां दीर्घो०

(६।१।७) से अभ्यास को दीर्घ होता है। *अनुदात्तोपदेश०* (६।४।३७) से 'हि' के अङित् होने से ही मकार लोप नहीं होता। प्रयन्धि यहाँ यम के शप् का *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से लुक् होता है। युयोधि यहाँ शप् को श्लु होने से द्विर्वचन तथा पित् पक्ष में अङित् होने से गुण होता है॥

चिणो लुक् ॥६।४।१०४॥

चिणः ५।१॥ लुक् १।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य॥ *अर्थः*—चिण उत्तरस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति॥ *उदा०*—अकारि, अहारि, अलावि, अपाचि॥

भाषार्थः—[*चिणः*] चिण् से उत्तर प्रत्यय का [*लुक्*] लुक् (अदर्शन) होता है॥ *प्रत्ययस्य लुक्०* (१।१।६०) से प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् संज्ञा कही है, अतः यहाँ लुक् कहने से प्रत्यय का ही अदर्शन समझा जायेगा। *चिण् भाव०* (३।१।६६) से उदाहरणों में चिण् हुआ है, उस चिण् से उत्तर त का प्रकृत सूत्र से लुक् हो जाता है॥

यहाँ से '*लुक्*' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक जायेगी॥

अतो हेः ॥६।४।१०५॥

अतः ५।१॥ हेः ६।१॥ *अनु०*—लुक्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य हेर्लुक् भवति॥ *उदा०*—पच, पठ, गच्छ, धाव॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकारान्त अङ्ग से उत्तर [*हेः*] हि का लुक् हो जाता है॥ विभक्ति विपरिणाम होकर अर्थानुसार 'अङ्गस्य' पञ्चमी विभक्ति में बदल जाता है॥

यहाँ से '*हेः*' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक जायेगी॥

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ॥६।४।१०६॥

उतः ५।१॥ च अ०॥ प्रत्ययात् ५।१॥ असंयोगपूर्वात् ५।१॥ *स०*—अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्मात् स असंयोगपूर्वस्तस्मात् 'बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—हेः, लुक्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—असंयोगपूर्वो यः प्रत्ययोकारस्तदन्तादङ्गात्परस्य हेर्लुक भवति॥ *उदा०*—चिनु, सुनु, कुरु॥

भाषार्थः—[*असंयोगपूर्वात्*] संयोग पूर्व में नहीं है जिससे ऐसा जो

[उतः] उकार तदन्त [प्रत्ययात्] जो प्रत्यय, तदन्त अङ्ग से उत्तर [च] भी हि का लुक् हो जाता है ॥ कुरु में कृ को गुण रपरत्व कर लेने पर *अत उत्सार्वधातुके* (६।४।११०) से उत्व होता है ॥

यहाँ 'असंयोगपूर्व' उकार का विशेषण है न कि उकारान्त प्रत्यय का इसलिए 'आप्नुहि' में नु प्रत्ययावयव उकार से पूर्व प् न् का संयोग होने से हि का लुक् नहीं होता। उकारान्त प्रत्यय का विशेषण बनाने पर 'नु' प्रत्यय से पूर्व संयोग न होने के कारण यहाँ भी लुक् प्राप्त हो जाता, अतः असंयोगपूर्वग्रहण उकार का विशेषण माना गया है ॥

यहाँ से '*उतः प्रत्ययात्*' की अनुवृत्ति ६।४।११० तक तथा '*असंयोगपूर्वात्*' की ६।४।१०७ तक जायेगी ॥

लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः ६।४।१०७॥

लोपः १।१॥ च अ० ॥ अस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ म्वोः ७।२॥ *स०*—मश्च वश्च म्वौ, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उतः प्रत्ययात्, असंयोगपूर्वात्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—असंयोगपूर्वो योऽयमुकारो तदन्तस्य प्रत्ययस्य लोपो भवति विकल्पेन, मकारादौ वकारादौ च प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—सुन्वः, सुनुवः, तन्वः, तनुवः। सुन्मः, सुनुमः, तन्मः, तनुमः ॥

भाषार्थः—असंयोगपूर्व [*अस्य*] इस उकारान्त प्रत्यय का [*लोपः*] लोप [च] भी [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है [*म्वोः*] मकारादि तथा वकारादि प्रत्ययों के परे रहते ॥ सुनुतः की सिद्धि परि० १।१।५ में की है तद्वत् वस् मस् परे रहते यहाँ भी जानें। *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) के नियम से प्रत्यय के अन्त्य उकार का लोप होता है। तन्वः तन्मः में उकारमात्र ही विकरण है उसका लोप होता है ॥ सामर्थ्य से असंयोगपूर्वात् आदि पद भी षष्ठ्यन्त में यहाँ बदल जाते हैं ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।१०९ तक तथा '*म्वोः*' की ६।४।१०८ तक जायेगी ॥

नित्यं करोतेः ॥६।४।१०८॥

नित्यम् १।१॥ करोतेः ५।१॥ *अनु०*—लोपः, म्वोः, उतः प्रत्ययात्,

अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वकारमकारादौ प्रत्यये परतः करोतेरुत्तरस्य उकारप्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति ॥ *उदा०*—कुर्वः, कुर्मः ॥

भाषार्थः—वकारादि मकारादि प्रत्यय परे रहते [*करोतेः*] कृ अङ्ग से उत्तर उकार प्रत्यय का [*नित्यम्*] नित्य ही लोप हो जाता है ॥ पूर्ववत् उकार का लोप, एवं *अत उत्सार्व०* (६।४।११०) से उत्व होगा। कर् उ मस् = कुरु मस् = कुर्मः ॥

यहाँ से '*नित्यम्*' की अनुवृत्ति ६।४।१०९ तक तथा '*करोतेः*' की ६।४।११० तक जायेगी ॥

ये च ॥६।४।१०९॥

ये ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—नित्यम् करोतेः, लोपः, उतः प्रत्ययात्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—यकारादौ च प्रत्यये परतः करोतेरुत्तरस्योकारस्य प्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति ॥ *उदा०*—कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः ॥

भाषार्थः—[*ये*] यकारादि प्रत्यय परे रहते [*च*] भी कृ अङ्ग से उत्तर उकार प्रत्यय का नित्य ही लोप होता है ॥ कृ उ यासुट् सुट् ति = कर् उ यास् स् त् यहाँ उत्व (६।४।११०) तथा उकार लोप होकर कुर् या स् स् त् रहा, पश्चात् *लिङः सलोपो०* (७।२।७९) से दोनों सकारों का लोप होकर कुर्यात् आदि रूप बने। कुर्युः में झेर्जुस् (३।४।१०८) एवं *उस्यपदान्तात्* (६।१।९३) सूत्र विशेष लगेंगे ॥

अत उत्सार्वधातुके ॥६।४।११०॥

अतः ६।१॥ उत् १।१॥ सार्वधातुके ७।१॥ *अनु०*—करोतेः, उतः प्रत्ययात्, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—उकारप्रत्ययान्तस्य करोतेरकारस्य स्थाने उकार आदेशो भवति, क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—कुरुतः, कुर्वन्ति ॥

भाषार्थः—उकारप्रत्ययान्त कृ अङ्ग के [*अतः*] अकार के स्थान में [*उत्*] उकारादेश हो जाता है, कित् ङित् [*सार्वधातुके*] सार्वधातुक परे रहते ॥ कृ को गुण रपरत्व करने पर 'अ' के स्थान में उत्व होता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।२।४ में देखें ॥

यहाँ से '*सार्वधातुके*' की अनुवृत्ति ६।४।११८ तक जायेगी ॥

श्नसोरल्लोपः ॥६।४।१११॥

श्नसोः ६।२॥ अल्लोपः १।१॥ स०—श्नश्च अश्च श्नसौ (शकन्ध्वादिवत् पररूपम्) तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः। अतो लोपः, अल्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सार्वधातुके, क्ङिति, ॥ *अर्थः*—श्नस्यास्तेश्चाकारस्य लोपो भवति सार्वधातुके क्ङिति परतः ॥ *उदा०*—रुन्धः, रुन्धन्ति। भिन्तः, भिन्दन्ति। अस्तेः—स्तः, सन्ति ॥

भाषार्थः—[*श्नसोः*] श्नम् प्रत्यय तथा अस् धातु के [*अल्लोपः*] अकार का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ परि० १।१।४६ के रुणद्धि के समान रुन्धः में सब कार्य जानें, केवल यहाँ श्न के अ का लोप तस् ङित् सार्वधातुक परे रहते होता है। नकार को अनुस्वार (८।३।२४) तथा परसवर्ण (८।४।५८) हो कर पुनः नकार होता है अतः न् के असिद्ध (८।२।१) होने से णत्व भी नहीं होता है। स्तः सन्ति की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।११२ तक जायेगी ॥

श्नाभ्यस्तयोरातः ॥६।४।११२॥

श्नाभ्यस्तयोः ६।२॥ आतः ६।१॥ स०—श्ना० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लोपः, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्ना इत्येतस्य अभ्यस्तानाञ्चाङ्गानामाकारस्य लोपो भवति सार्वधातुके क्ङिति परतः ॥ *उदा०*—लुनते, लुनताम्, अलुनत। अभ्यस्तानाम्—मिमते, मिमताम्, अमिमत। संजिहते, संजिहताम्, समजिहत ॥

भाषार्थः—[*श्नाभ्यस्तयोः*] श्ना तथा अभ्यस्तसंज्ञक के [*आतः*] आकार का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ यद्यपि कित् ङित् सामान्य सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते आकार का लोप कहा है, तथापि उत्तर सूत्र में हलादि कित् ङित् सार्वधातुक में ईकारादेश का विधान होने से यहाँ अजादि सार्वधातुक में ही यह विधि जाननी चाहिये ॥ परि० १।३।१४ भाग १ में व्यतिलुनते की सिद्धि की है, तद्वत् लुनते, (बहुवचन) लुनताम्, (लोट् में *आमेतः* ३।४।९० लगकर) की सिद्धि जानें। माङ् माने धातु को श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व एवं अभ्यास को *भृञामित्* (७।४।७६) से इत्व होकर 'मि मा अ ते' रहा। उभे *अभ्यस्तम्*

(६।१।५) से अभ्यस्त संज्ञा होकर प्रकृत सूत्र से आकार लोप करके मिमते बन गया। इसी प्रकार मिमताम्, अमिमत (लङ्) तथा ओहाङ् गतौ धातु से संजिहते आदि भी समझें॥

यहाँ से '*श्नाभ्यस्तयोः*' की अनुवृत्ति ६।४।११२ तक तथा '*आतः*' की ६।४।११४ तक जायेगी॥

ई हल्यघोः ॥६।४।११३॥

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ हलि ७।१॥ अघोः ६।१॥ *स०*—न घुः अघुः, तस्य ̈ ̈ नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—श्नाभ्यस्तयोः, आतः, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—घुवर्जितानां श्नान्तानामङ्गानामभ्यस्तानाञ्च आतः स्थाने ईकारादेशो भवति हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः॥ *उदा०*—लुनीतः पुनीतः, लुनीथः पुनीथः, लुनीते पुनीते। अभ्यस्तानाम्—मिमीते, मिमीषे, मिमीध्वे, संजिहीते, संजिहीध्वे॥

भाषार्थः—[*अघोः*] घु संज्ञक को छोड़ कर जो श्नान्त अङ्ग एवं अभ्यस्तसंज्ञक अङ्ग उनके आकार के स्थान में [*ई*] ईकारादेश होता है [*हलि*] हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते॥ भाग १ परि० १।३।१८ में परिक्रीणीते की सिद्धि की है, तद्वत् लुनीते पुनीते आदि भी जानें। परस्मैपद में तस् थस् हलादि ङित् (१।२।४) सार्वधातुक परे रहते लुनीतः लुनीथः आदि की सिद्धि जानें। मिमीते आदि में पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य होगा॥

यहाँ से '*हलि*' की अनुवृत्ति ६।४।११६ तक जायेगी॥

इद्दरिद्रस्य ॥६।४।११४॥

इत् १।१॥ दरिद्रस्य ६।१॥ *अनु०*—हलि, आतः, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—दरिद्रातेरातो हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परत इकारादेशो भवति॥ *उदा०*—दरिद्रितः, दरिद्रिथः, दरिद्रिवः, दरिद्रिमः॥

भाषार्थः—[*दरिद्रस्य*] दरिद्रा धातु के आकार[1] के स्थान में [*इत्*] इकारादेश होता है, हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते॥

---

१. आकार की अनुवृत्ति के बिना भी अलोन्त्यस्य के नियम से अन्त्य आकार को ही ईकारादेश होगा, अतः अनुवृत्ति स्पष्टार्थ है।

यहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ६।४।११६ तक जायेगी ॥

भियोऽन्यतरस्याम् ॥६।४।११५॥

भियः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—इत्, हलि, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भी इत्येतस्याङ्गस्य विकल्पेन इकारादेशो भवति, हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—बिभितः बिभीतः, बिभिथः, बिभीथः, बिभिवः बिभीवः, बिभिमः बिभीमः ॥

भाषार्थः—[*भियः*] भी अङ्ग को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते इकारादेश होता है ॥ पक्ष में दीर्घ ही रहेगा। अभ्यास कार्य एवं द्वित्व पूर्ववत् जानें। अन्त्य अल् 'ई' को इकार आदेश होगा ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।४।११७ तक जायेगी ॥

जहातेश्च ॥६।४।११६॥

जहातेः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, इत्, हलि, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जहातेश्च इकारादेशो भवति विकल्पेन हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—जहितः, जहीतः, जहिथः, जहीथः ॥

भाषार्थः—[*जहातेः*] ओहाक् त्यागे अङ्ग को [च] भी इकारादेश विकल्प से होता है, हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ *ई हल्यघोः* से अभ्यस्त के अ को नित्य ईत् प्राप्त था, सो इत् अभाव पक्ष में ईत् ही होता है। भाग १ पृ० ७५५ के जुहोति के समान द्वित्वादि कार्य जानें ॥

यहाँ से '*जहातेः*' की अनुवृत्ति ६।४।११८ तक जायेगी ॥

आ च हौ ॥६।४।११७॥

आ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ हौ ७।१॥ *अनु०*—जहातेः, इत्, अन्यतरस्याम् ॥ *अर्थः*—जहातेराकारश्चान्तादेशो अन्यतरस्यां भवति इकारश्च हौ परतः ॥ *उदा०*—जहाहि, जहिहि, जहीहि ॥

भाषार्थः—ओहाक् अङ्ग को [*आ*] आकार आदेश विकल्प से होता है [च] तथा इकार आदेश भी विकल्प से होता है [*हौ*] हि परे

रहते ॥ पूर्वसूत्र में इकारादेश विकल्प से कहा है, यहाँ आकारादेश का भी विकल्प से विधान किया, अतः पक्ष में पूर्ववत् ईकारादेश (६।४।११३) होकर तीन रूप बनते हैं ॥

लोपो यि ॥६।४।११८॥

लोपः १।१॥ यि ७।१॥ *अनु०*-जहातेः, सार्वधातुके, क्ङिति ॥ *अर्थः*—जहातेर्लोपो भवति यकारादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः ॥

भाषार्थः—ओहाक् अङ्ग का [*लोपः*] लोप होता है [*यि*] यकारादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य आकार का लोप हो जायेगा ॥

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ॥६।४।११९॥

घ्वसोः ६।२॥ एत् १।१॥ हौ ७।१॥ अभ्यासलोपः १।१॥ च अ० ॥ *स०*—घ्वसोः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। अभ्यासस्य लोपः अभ्यासलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—अङ्गस्य, क्ङिति ॥ *अर्थः*—घुसंज्ञकानामङ्गानामस्तेश्च एकारादेशो भवति हौ क्ङिति परतोऽभ्यासलोपश्च ॥ *उदा०*—देहि, धेहि। अस्तेः—एधि ॥

भाषार्थः—[*घ्वसोः*] घुसंज्ञक अङ्ग को एवं अस् को [*एत्*] एकारादेश [*च*] तथा [*अभ्यासलोपः*] अभ्यास का लोप होता है [*हौ*] हि क्ङित् परे रहते ॥ हि ङित् सार्वधातुक है। देहि धेहि की सिद्धि भाग १ परि० १।१।१९ में देखें, तथा एधि की सिद्धि *असिद्धवदत्रा०* (६।४।२२) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*एत् अभ्यासलोपश्च*' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी ॥

अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥६।४।१२०॥

अतः ६।१॥ एकहल्मध्ये ७।१॥ अनादेशादेः ६।१॥ लिटि ७।१॥ *स०*—एकश्च एकश्च एकौ। एकौ च तौ हलौ च एकहलौ, कर्मधारयस्तत्पुरुषः। एकहलोर्मध्यः एकहल्मध्यः, तस्मिन् ''षष्ठीतत्पुरुषः। अविद्यमान आदेश आदिर्यस्य स

अनादेशादिस्तस्य' ' 'बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—लिटि परतः अनादेशादेरङ्गस्य एकहल्मध्ये = असहाययोर्हलोर्मध्ये योऽकारस्तस्य एकारादेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतः ॥ *उदा०*—रेणतुः, रेणुः, येमतुः, येमुः, पेचतुः, पेचुः, देमतुः, देमुः ॥

भाषार्थः—लिट् परे रहते [*अनादेशादेः*] अनादेशादि अङ्ग के (अर्थात् लिट् परे जिस अङ्ग के आदि को आदेश नहीं हुआ है) [*एकहल्मध्ये*] एक = असहाय = (अकेले दो) हलों के बीच में वर्त्तमान जो [*अतः*] अकार उसको एकारादेश तथा अभ्यासलोप हो जाता है कित् ङित् [*लिटि*] लिट् परे रहते ॥ एक शब्द यहाँ असहायवाची है ॥ रण धातु को द्वित्वादि होकर 'र रण अतुस्' रहा। अब यहां 'रण्' अङ्ग के आदि 'र' को लिट् को मानकर आदेश नहीं हुआ है, अतः यह अनादेशादि अङ्ग है, एवं 'रण्' के र का अ, र् तथा ण् इन असहाय हलों के बीच में है। इस प्रकार अकार के एकहल्मध्य होने से अभ्यास लोप एवं अकार को एत्व प्रकृत सूत्र से हो गया है। इसी प्रकार येमतुः आदि में जानें ॥ 'लिटि' पद की आवृत्ति करने से एक 'लिटि' का संबन्ध 'अनादेशादेः' के साथ होता है और दूसरे का 'क्ङिति' के साथ। अनादेशादेः के साथ लिटि का संबन्ध इसलिए किया जाता है कि जो धातु को आदि आदेश लिट् निमित्तक नहीं होते सामान्य होते हैं उनमें निषेध न हो। यथा षध = सध—सेधतुः, सेधुः, णम = नम—नेमतुः नेमुः ये सत्व नत्व सामान्य आदेश हैं।

यहाँ से '*अतः लिटि*' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक तथा '*एकहल्मध्ये अनादेशादेः*' की ६।४।१२१ तक जायेगी ॥

थलि च सेटि ॥६।४।१२१॥

थलि ७।१॥ च अ० ॥ सेटि ७।१॥ *अनु०*—अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—थलि च सेटि परतोऽनादेशादेरङ्गस्यासहाययोर्हलोर्मध्ये वर्त्तमानस्याकारस्य स्थाने एकारादेशो भवत्यभ्यासलोपश्च ॥ *उदा०*—पेचिथ, शेकिथ ॥

भाषार्थः—[*सेटि*] सेट् [*थलि*] परे रहते [*च*] भी अनादेशादि

अङ्ग के दो असहाय हलों के मध्य में वर्त्तमान जो अकार उसके स्थान में एकार आदेश हो जाता है, तथा अभ्यास का लोप होता है ।। पेचिथ शेकिथ की सिद्धि परि० ३।४।११५ में देखें ।। थल् कित् ङित् नहीं है, अतः इस सूत्र का आरम्भ अकिङदर्थ है ।।

यहाँ से '*थलि च सेटि*' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी ।।

तॄफलभजत्रपश्च ।।६।४।१२२।।

तॄफलभजत्रपः ६।१।। च अ० ।। *स०*—तॄ च फलश्च भजश्च त्रपश्च तॄ... त्रपम् तस्य ''समाहारो द्वन्द्वः ।। *अनु०*—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत् , अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—तॄ, फल, भज, त्रप इत्येतेषामङ्गानामकारस्य स्थाने एकारादेशो भवति अभ्यासलोपश्च क्ङिति लिटि-परतस्थलि च सेटि ।। *उदा०*—तेरतुः, तेरुः, तेरिथ । फेलतुः फेलुः फेलिथ । भेजतुः, भेजुः, भेजिथ । त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे ।।

भाषार्थः—[*तॄफलभजत्रपः*] तॄ, फल, भज, त्रप इन अङ्गों के अकार के स्थान में [च] भी एकारादेश तथा अभ्यासलोप होता है, कित् ङित् लिट् परे रहते तथा सेट् थल् परे रहते ।। तेरतुः में तॄ को गुण ऋच्छत्यॄताम् (७।४।११) से होता है, अतः *न शसदद०* (६।४।१२६) से तॄ को अभ्यासलोप तथा एत्व प्रतिषेध प्राप्त था, यहाँ विधान कर दिया । फल से फल निष्पत्तौ एवं ञिफला विशरणे दोनों का ग्रहण होता है । फल तथा भज को अभ्यास कार्य होकर 'प ब' आदि को ये आदेश होते हैं, अतः आदेशादि होने से अप्राप्ति थी तथा त्रप धातु में आकार अनेक हल्मध्य वाला है, अतः उसे पूर्वसूत्र से प्राप्ति नहीं थी, सो सर्वत्र विधान कर दिया ।।

राधो हिंसायाम् ।। ६।४।१२३।।

राधः ६।१।। हिंसायाम् ७।१।। *अनु०*—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—हिंसायामर्थे राधोऽअङ्गस्यावर्णस्य स्थाने एकार आदेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि ।। *उदा०*—अपरेधतुः, अपरेधुः, अपरेधिथ ।।

भाषार्थः—[*हिंसायाम्*] हिंसा अर्थ में वर्त्तमान [*राधः*] राध अङ्ग

के अवर्ण के स्थान में एकार आदेश तथा अभ्यासलोप होता है, कित् ङित् लिट् परे रहते तथा सेट् थल् परे रहते ॥ ६।४।१२० से अकार के स्थान में एत्व प्राप्त था, आकार के स्थान में प्राप्त नहीं था, अतः कह दिया। यहाँ तपरत्वनिर्दिष्ट 'अतः' की अनुवृत्ति होने पर भी राध में ह्रस्व अकार का संभव न होने से दीर्घ आकार को ही एत्व होता है ॥

वा जॄभ्रमुत्रसाम् ॥६।४।१२४॥

वा अ० ॥ जॄभ्रमुत्रसाम् ६।३॥ *स०*—जॄ च भ्रमुश्च त्रस् च जॄभ्रमुत्रसस्तेषाम्...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत् अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जॄ, भ्रमु, त्रस्, इत्येतेषामङ्गानामतः स्थाने एकारादेशो वा भवति, अभ्यासलोपश्च क्ङिति लिटि परतस्थलि च सेटि ॥ *उदा०*—जेरतुः, जेरुः, जेरिथ। पक्षे न भवति—जजरतुः, जजरुः, जजरिथ। भ्रेमतुः भ्रेमु भ्रेमिथ। पक्षे—बभ्रमतुः, बभ्रमुः, बभ्रमिथ। त्रेसतुः, त्रेसुः, त्रेसिथ। पक्षे—तत्रसतुः, तत्रसुः, तत्रसिथ ॥

भाषार्थः—[*जॄभ्रमुत्रसाम्*] जॄ, भ्रमु, त्रस् इन अङ्गों के अकार के स्थान में एत्व तथा अभ्यासलोप [*वा*] विकल्प से होता है, कित् ङित् लिट् परे रहते तथा सेट् थल् परे रहते ॥ पूर्ववत् जॄ को *ऋच्छत्यॄताम्* से गुण होता है, अतः *न शसदद०* से गुणकृत अकार होने से निषेध प्राप्त था विधान कर दिया। इसी प्रकार भ्रम् धातु के आदेशादि और अनेक हल्मध्य होने से, एवं त्रस् में अनेकहल्मध्य अकार होने से एत्वाभ्यासलोप प्राप्त नहीं था सो विकल्प से प्राप्त करा दिया ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ६।४।१२५ तक जायेगी ॥

फणां च सप्तानाम् ॥६।४।१२५॥

फणाम् ६।३॥ च अ० ॥ सप्तानाम् ६।३॥ *अनु०*—वा, अतः लिटि, थलि च सेटि, एत् अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—फणादीनां सप्तानां धातूनामवर्णस्य स्थाने वा एकार आदेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि ॥ *उदा०*—फेणतुः, फेणुः, फेणिथ। पक्षे—पफणतुः, पफणुः, पफणिथ। राजृ—रेजतुः, रेजुः, रेजिथ। पक्षे—रराजतुः, रराजुः, रराजिथ। टुभ्राजृ—भ्रेजे, भ्रेजाते,

भ्रेजिरे। पक्षे— बभ्राजे, बभ्राजाते, बभ्राजिरे। टुभ्राशृ—भ्रेशे, भ्रेशाते, भ्रेशिरे। पक्षे— बभ्राशे, बभ्राशाते, बभ्राशिरे। टुभ्लाशृ—भ्लेशे, भ्लेशाते, भ्लेशिरे। पक्षे—बभ्लाशे, बभ्लाशाते, बभ्लाशिरे। स्यमु—स्येमतुः, स्येमुः, स्येमिथ। पक्षे—सस्यमतुः, सस्यमुः, सस्यमिथ। स्वन—स्वेनतुः, स्वेनुः, स्वेनिथ। पक्षे—सस्वनतुः, सस्वनुः, सस्वनिथ॥

भाषार्थः—[*फणाम्*] फण आदि [*सप्तानाम्*] सात (अर्थात् फण से लेकर कुल सात) धातुओं के अवर्ण के स्थान में [*च*] भी विकल्प से एत्व तथा अभ्यास लोप होता है, कित् ङित् लिट् तथा सेट् थल् परे रहते॥ बहुवचन निर्देश से यहाँ आदि अर्थ लिया जाता है अतः 'फणादि जो सात धातुएँ' ऐसा अर्थ होगा। कहीं आदेशादि एवं कहीं पर अनेकहल्मध्य और कहीं दीर्घ आकार होने से एत्वाभ्यास लोप की प्राप्ति नहीं थी, सो विधान कर दिया॥

न शसददवादिगुणानाम् ॥६।४।१२६॥

न अ०॥ शसददवादिगुणानाम् ६।३॥ *स०*—वकार आदिर्यस्य स वादिः, बहुव्रीहिः। शसश्च ददश्च वादिश्च गुणश्च शसददवादिगुणास्तेषाम् ... इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत् अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—शस, दद इत्येतयोर्वकारादीनां च धातूनां गुणशब्देनाभिनिर्वृत्तस्य च योऽकारस्तस्य स्थाने एकारादेशोऽभ्यासलोपश्च न भवति, लिटि क्ङिति थलि च सेटि परतः॥ *उदा०*—विशशसतुः, विशशसुः, विशशसिथ। ददे, ददाते ददिरे। वादीनाम्—ववमतुः, ववमुः, ववमिथ। गुणस्य—विशशरतुः, विशशरुः, विशशरिथ, लुलविथ, पुपविथ॥

भाषार्थः—[*शसददवादिगुणानाम्*] शस दद तथा वकार आदि वाली एवं गुण ऐसा उच्चारण करके गुणादेश द्वारा निष्पन्न जो अकार उसके स्थान में एत्व तथा अभ्यासलोप कित् ङित् लिट् एवं थल् परे रहते [*न*] नहीं होता है॥ 'गुण' शब्द से यहाँ 'गुण करके जो निष्पन्न अकार' ऐसा अर्थ अभिप्रेत है। यथा शृ को गुण करके जो शर् का अकार हुआ उसको एत्व अभ्यासलोप नहीं होता, एवं लू को गुण तथा अवादेश करके जो अकार निष्पन्न हुआ उसको भी नहीं होता॥ *अत एकहल्०* (६।४।१२०) से सर्वत्र प्राप्ति थी, निषेध कर दिया॥

अर्वणस्त्रसावनञः ॥६।४।१२७॥

अर्वणः ६।१॥ तृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ असौ ७।१॥ अनञः ५।१॥ स०—असौ, अनञ इत्युभयत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—नञा रहितस्य अर्वन् इत्येतस्याङ्गस्य तृ इत्ययमादेशो भवति, सुश्चेत्ततः परो न भवति ॥ *उदा०*—अर्वन्तौ, अर्वन्तः, अर्वन्तम्, अर्वन्तौ, अर्वतः, अर्वता अर्वद्भ्याम्, अर्वद्भिः । अर्वती, आर्वतम् ॥

भाषार्थः—[*अर्वणः*] अर्वन् अङ्ग को [*तृ*] तृ आदेश होता है, यदि अर्वन् शब्द से परे [*असौ*] सु न हो, तथा वह अर्वन् अङ्ग [*अनञः*] नञ् से उत्तर भी न हो ॥ *अलोन्त्यस्य* से अन्त्य अल् न् को तृ आदेश होकर अर्वतृ रहा । ऋकार की इत् संज्ञा होने से *उगिदचां०* (७।१।७०) से नुम् आगम होकर अर्वन्त् औ = अर्वन्तौ बना । *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् होकर अर्वती, तथा अपत्यार्थ विवक्षा में अण् होकर आर्वतम् बन गया ॥

यहाँ से 'तृ' की अनुवृत्ति ६।४।१२८ तक जायेगी ॥

मघवा बहुलम् ॥६।४।१२८॥

मघवा, सुब्व्यत्ययेनात्र षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—तृ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—मघवन् इत्येतस्याङ्गस्य बहुलं तृ इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः, मघवन्तम्, मघवन्तौ, मघवतः, मघवता । मघवती, माघवतम् । बहुलवचनात् न च भवति—मघवा मघवानौ, मघवानः मघवानम् मघवानौ मघोनः मघोना इत्यादयः । स्त्रियाम्—मघोनी, माघवनम् ॥

भाषार्थः—[*मघवा*] मघवन् अङ्ग को [*बहुलम्*] बहुल करके तृ आदेश होता है ॥ मघवान् की सिद्धि में नुमादि कार्य परि० १।१।५ में प्रदर्शित चितवान् के समान जानें । जब तृ आदेश नहीं होगा तो परि० १।१।४२ में प्रदर्शित 'राजा' के समान मघवा की सिद्धि होगी । मघवती माघवतम् में पूर्ववत् कार्य जानें ॥

भस्य ॥६।४।१२९॥

भस्य ६।१॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम् आ अध्यायपरिसमाप्तेः । यदित

ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो भस्य इत्येवं तद् वेदितव्यम् ।। उदा०—वक्ष्यति पादः पत्—द्विपदः पश्य, द्विपदा कृतम् ।।

भाषार्थः—*भस्य* यह अधिकार सूत्र है। अध्याय की समाप्ति पर्यन्त (६।४।१७५) जायेगा, अतः आगे [*भस्य*] भ संज्ञक को ऐसा अर्थ सर्वत्र सूत्रों में होता जायेगा ।। *यचि भम्* (१।४।१८) से यकारादि अजादि सर्वनामस्थान भिन्न स्वादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व की भ संज्ञा कही है, अतः द्विपदः द्विपदा में शस् एवं टा परे रहते पूर्व की भ संज्ञा होकर *पादः पत्* से पाद् शब्द को पद् आदेश हो गया है ।।

पादः पत् ।।६।४।१३०।।

पादः ६।१।। पत् १।१।। *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—पाद्शब्दान्तस्याङ्गस्य भस्य पद् इत्ययमादेशो भवति।। *उदा०*—द्विपदः पश्य, द्विपदा, द्विपदे, द्विपदिकां ददाति, त्रिपदिकां ददाति, वैयाघ्रपद्यः ।।

भाषार्थः—भसंज्ञक [*पादः*] पाद् शब्द को [*पत्*] पत् आदेश हो जाता है ।। पाद् शब्द यहाँ अकार लोप किया हुआ लिया गया है। द्वौ पादौ अस्य द्विपाद् , यहाँ *संख्यासुपूर्वस्य* (५।४।१४०) से 'पाद' के 'द' के 'अ' का लोप होता है। द्विपदिकाम् यहाँ *पादशतस्य०* (५।४।१) से वुन् प्रत्यय एवं द के अ का लोप होता है। वैयाघ्रपद्यः यहाँ *पादस्य लोपो०* (५।४।१३८) से अकार लोप हुआ है, इस प्रकार सर्वत्र हलन्त पाद् शब्द है। वैयाघ्रपद्यः में यञ् (४।१।१०५) परे रहते पाद् की भ संज्ञा है, सो पत् आदेश हो गया ।। समास में ही पाद के अकार का सर्वत्र लोप होता है, अतः 'पाद्शब्दान्त' ऐसा अर्थ किया है। '*निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति*' इस नियम से सूत्र में निर्दिष्ट शब्द पाद् को ही पत् आदेश होगा न कि सम्पूर्ण तदन्त शब्द को ।।

वसोः सम्प्रसारणम् ।।६।४।१३१।।

वसोः ६।१।। सम्प्रसारणम् १।१।। *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—वस्वन्तस्याङ्गस्य भस्य सम्प्रसारणं भवति ।। *उदा०*—विदुषः पश्य। विदुषा, विदुषे। पेचुषः पश्य, पेचुषा, पेचुषे। ययुषः ।।

भाषार्थः—[*वसोः*] वसु अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग को [*सम्प्रसारणम्*]

सम्प्रसारण होता है ॥ विद ज्ञाने धातु से शतृ (३।२।१२४) प्रत्यय होकर 'विद् शतृ शस्' रहा। *विदेः शतुर्वसुः* (७।१।३६) से शतृ के स्थान में १।१।५४ से वसु आदेश होकर 'विद् वस् शस्' रहा। अब भ संज्ञा होकर सम्प्रसारण एवं (८।३।५६) षत्व होकर विदुषः बना। इसी प्रकार पच् धातु से लिट् होकर तथा लिट् के स्थान में *क्वसुश्च* (३।२।१०७) से क्वसु होकर पच् क्वसु रहा। लिट्स्थानी क्वसु होने से लिट् के सब कार्य द्वित्वादि होकर 'प पच् वस्' रहा। *अत एकहल्०* (६।४।१२०) से अभ्यास लोप एवं एत्व होकर 'पेच् वस् शस्' रहा। सम्प्रसारण होकर पेचुषः बन गया। या से कसु होकर या या कसु = य या वसु शस् = य या उस् अस् यहाँ *आतो लोप इटि च* (६।४।६४) से आकारलोप होकर ययुषः बना। सम्प्रसारण हो जाने पर वलादि आर्धधातुक न होने से ७।२।६७ से इट् नहीं होता ॥

यहाँ से '*सम्प्रसारणम्*' की अनुवृत्ति ६।४।१३३ तक जायेगी ॥

वाह ऊठ् ॥६।४।१३२॥

वाहः ६।१॥ ऊठ् १।१॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम्, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वाह् इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस्य ऊठ् इत्येतत् सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा, प्रष्ठौहे। दित्यौहः, दित्यौहा, दित्यौहे ॥

भाषार्थः—[*वाहः*] वाह् अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण-संज्ञक [ऊठ्] ऊठ् होता है। ऊठ् के सम्प्रसारणसंज्ञक होने से जिस प्रकार सम्प्रसारण 'यण्' के स्थान में होता है, उसी प्रकार ऊठ् भी यण् के स्थान में अर्थात् 'व्' को होता है, अन्यथा *अलोन्त्यस्य* से अन्त्य अल् को होता। सिद्धियाँ *एत्येधत्यूठ्सु* (६।१।८६) सूत्र में देखें ॥

श्वयुवमघोनामतद्धिते ॥६।४।१३३॥

श्वयुवमघोनाम् ६।३॥ अतद्धिते ७।१॥ *स०*—श्वा च युवा च मघवा च श्वयुवमघवानस्तेषां ''इतरेतरद्वन्द्वः। अतद्धित इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम्, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्वन्, युवन्, मघवन् इत्येतेषां भसंज्ञकानामङ्गानामतद्धिते प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—शुनः, शुना, शुने। यूनः, यूना, यूने। मघोनः, मघोना, मघोने ॥

भाषार्थः—[*श्वयुवमघोनाम्*] श्वन्, युवन्, मघवन् इन भसंज्ञक अङ्गों को [*अतद्धिते*] तद्धित भिन्न प्रत्यय परे रहते संप्रसारण होता है ॥ युवन् के व् को सम्प्रसारण 'उ' होकर सवर्णदीर्घत्व होता है, तथा मघवन् को सम्प्रसारण होकर *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश हो जाता है। सम्प्रसारण करने पर *सम्प्रसारणाच्च* (६।१।१०४) सूत्र लग ही जायेगा ॥

अल्लोपोऽनः ॥६।४।१३४॥

अल्लोपः १।१॥ अनः ६।१॥ *स०*—अतो लोपोऽल्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः* –अन इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस्य अकारलोपो भवति ॥ *उदा०*—राज्ञः पश्य, राज्ञा, राज्ञे। तक्ष्णः, तक्ष्णा, तक्ष्णे ॥

भाषार्थः—[*अनः*] अन् है अन्त में जिसके ऐसे भसंज्ञक अङ्ग के [*अल्लोपः*] अकार का लोप होता है ॥ राजन् शस् यहाँ अकार लोप होने पर श्चुत्व (८।४।३९) होकर राज्ञः बना। तक्षन् शस् = तक्ष्न् अस् = तक्ष्णः णत्व होकर बन गया ॥

यहाँ से '*अत्*' की अनुवृत्ति ६।४।१३८ तक, तथा '*लोपः*' की ६।४।१४५ तक एवं '*अनः*' की ६।४।१३७ तक जायेगी ॥

षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि ॥६।४।१३५॥

षपूर्वहन्धृतराज्ञाम् ६।३॥ अणि ७।१॥ *स०*—षकारः पूर्वो यस्मिन् स षपूर्वः, बहुव्रीहिः। षपूर्वश्च हन् च धृतराजा च षपूर्वहन्धृतराजानस्तेषाम् 'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अल्लोपोनः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—षकारपूर्वस्य हनो धृतराज्ञश्च अङ्गस्य भस्य अनोऽकारस्य अणि परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—षपूर्व—उक्ष्णोऽपत्यम् = औक्ष्णः, ताक्ष्णः। हन्—भ्रूणं हतवान् = भ्रौणघ्नः। धृतराजन्—धार्तराज्ञः ॥

भाषार्थः—[*षपूर्वहन्धृतराज्ञाम्*] षकार पूर्व में है जिसके ऐसा जो अन्, तथा हन् एवं धृतराजन् भ संज्ञक अङ्ग उसके अकार का लोप होता है, [*अणि*] अण् परे रहते ॥ *अन्* (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव होने से *अल्लोपोऽनः* से अकारलोप प्राप्त नहीं था, इसलिये यह सूत्र है ॥ उक्षन् तक्षन् शब्द षकार पूर्व अन् वाले हैं, अतः अपत्यार्थक (४।१।९२)

अण् के परे रहते अकार लोप हो गया है। भ्रौणघ्नः में ब्रह्मभ्रूण० (३।२।८७) से क्विप् करके पश्चात् अण् (४।१।६२) हुआ है। हो हन्तेर्ञ्णि० (७।३।५४) से यहाँ ह् को कुत्व भी हो जाता है। धृतराजन् शब्द में भी बहुव्रीहि समास होकर पूर्ववत् अण् प्रत्यय परे अकार लोप एवं श्चुत्व होकर धार्तराज्ञः बना है ॥

विभाषा ङिश्योः ॥६।४।१३६॥

विभाषा १।१॥ ङिश्योः ७।२॥ स०—ङिश्योः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अल्लोपोऽनः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ङि शी इत्येतयोः परतः अन्नन्तस्याङ्गस्य विकल्पेनाकारलोपो भवति ॥ *उदा०*—ङि—राज्ञि, राजनि, साम्नि, सामनि। शी—साम्नी, सामनी ॥

भाषार्थः—[*ङिश्योः*] ङि तथा शी विभक्ति परे रहते अन् अन्त वाले अङ्ग के अकार का लोप [*विभाषा*] विकल्प से हो जाता है॥ 'सामन् औ' यहाँ *नपुंसकाच्च* (७।१।१९) से औ को शी तथा म के अ का लोप होकर साम्नी बना। पक्ष में सामनी बनेगा॥

न संयोगाद्वमन्तात् ॥६।४।१३७॥

न अ० ॥ संयोगात् ५।१॥ वमन्तात् ५।१॥ *स०*—वश्च मश्च वमौ, वमौ अन्ते यस्य स वमन्तः, तस्मात्'''द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अल्लोपोऽनः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वकारान्तात् मकारान्तात् संयोगादुत्तरस्य अनोऽकारस्य लोपो न भवति ॥ *उदा०*—वकारान्तात्—पर्वणा, पर्वणे, अथर्वणा, अथर्वणे। मकारान्तात्—चर्मणा, चर्मणे ॥

भाषार्थः—[*वमन्तात्*] वकार तथा मकार अन्त में है जिसके ऐसे [*संयोगात्*] संयोग से उत्तर (तदन्त भसंज्ञक) अन् के अकार का लोप [*न*] नहीं होता॥ पर्वन् अथर्वन् में र् तथा व् का संयोग है उससे उत्तर जो अन् उसका लोप नहीं हुआ। इसी प्रकार चर्मन् में र् तथा म् का संयोग है। *अल्लोपोऽनः* से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया॥

अचः ॥६।४।१३८॥

अचः ६।१॥ *अनु०*—अल्लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अच इत्यय-

मञ्चतिर्लुप्तनकारो गृह्यते, तदन्तस्याञ्चतेर्भस्य अकारस्य लोपो भवति ॥ उदा०—दधीचः पश्य, दधीचा, दधीचे। मधूचः पश्य, मधूचा, मधूचे ॥

भाषार्थः—अञ्चु धातु के नकार का लोप करके अचः यह निर्देश किया गया है ॥ भसंज्ञक लुप्तनकार वाले [अचः] अञ्चु के अकार का लोप होता है ॥ सिद्धियाँ ६।३।१३६ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*अचः*' की अनुवृत्ति ६।४।१३८ तक जायेगी ॥

उद ईत् ॥६।४।१३९॥

उदः ५।१॥ ईत् १।१॥ *अनु०*—अचः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—उद् उत्तरस्य भसंज्ञकस्याच ईकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—उदीचः, उदीचा, उदीचे ॥

भाषार्थः—[उदः] उत् (उपसर्ग) से उत्तर भसंज्ञक (अञ्चु) अच् को [ईत्] ईकारादेश होता है ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से आदि अक्षर 'अ' को 'ई' होगा ।

आतो धातोः ॥६।४।१४०॥

आतः ६।१॥ धातोः ६।१॥ *अनु०*—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—कीलालपः पश्य, कीलालपा, कीलालपे, शुभंयः पश्य, शुभंया, शुभंये ॥

भाषार्थः—[*आतः*] आकारान्त जो [*धातोः*] धातु तदन्त भसंज्ञक अङ्ग के आकार का लोप होता है ॥ यहाँ आकारान्त पा या धातुओं से *आतो मनिन्क्वनि०* (३।२।७४) से विच् प्रत्यय उदाहरणों में होता है, अतः उदाहरणों में आकारान्त धातु के आकार का (१।१।५१) लोप प्रकृत सूत्र से हुआ है ॥

मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः ॥६।४।१४१॥

मन्त्रेषु ७।३॥ आङि ७।१॥ आदेः ६।१॥ आत्मनः ६।१॥ *अनु०*—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आङि परतो मन्त्रेषु आत्मन आदेर्लोपो भवति ॥ *उदा०*—त्मना देवेषु (ऋ० ७।७।१) त्मना सोमेषु ॥

भाषार्थः—[*मन्त्रेषु*] मन्त्र विषय में [*आङि*] आङ् (टा) परे रहते [*आत्मनः*] आत्मन् शब्द के [*आदेः*] आदि का (आकार का) लोप होता है ॥ पूर्वाचार्यों की टा तृतीया एकवचन के लिये 'आङ्' यह संज्ञा है ॥

ति विंशतेर्डिति ॥६।४।१४२॥

ति लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ विंशतेः ६।१॥ डिति ७।१॥ अनु०—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भसंज्ञकस्य विंशतेस्तिशब्दस्य डिति प्रत्यये परतो लोपो भवति ॥ उदा०—विंशत्या क्रीतः = विंशकः । विंशतिरधिकाऽस्मिन् = विंशं शतम् । विंशतेः पूरणो विंशः । एकविंशः ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक [*विंशतेः*] विंशति अङ्ग के [*ति*] ति का [*डिति*] डित् प्रत्यय परे रहते लोप होता है ॥ विंशकः में *विंशतित्रिंशद्भ्यां०* (५।१।२४) से ड्वुन् डित् प्रत्यय हुआ है, तथा विंशम् में *शदन्तविंशतेश्च* (५।२।४६) से ड प्रत्यय हुआ है, एवं विंशः, एकविंशः में *तस्य पूरणे डट्* (५।२।४८) से डट् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*डिति*' की अनुवृत्ति ६।४।१४३ तक जायेगी ॥

टेः ॥६।४।१४३॥

टेः ६।१॥ *अनु०*—डिति, लोपः, भस्य अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति, डिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—कुमुद्वान्, नड्वान् , वेतस्वान्, उपसरजः, मन्दुरजः, त्रिंशता क्रीतः त्रिंशकः ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक अङ्ग की [*टेः*] टि का लोप होता है, डित् प्रत्यय के परे रहते ॥ कुमुद्वान् नड्वान् में *कुमुदनडवेत०* (४।२।८६) से ड्मतुप् प्रत्यय होता है, अतः कुमुद के टि (१।१।६३) भाग 'अ' का लोप होता है । सिद्धि उसी प्रकरण में देखें । उपसरजः में *सप्तम्यां जनेर्डः* (३।२।९७) से ड प्रत्यय हुआ है । त्रिंशकः में पूर्ववत् ड्वुन् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*टेः*' की अनुवृत्ति ६।४।१४५ तक जायेगी ॥

नस्तद्धिते ॥६।४।१४४॥

नः ६।१॥ तद्धिते ७।१॥ अनु०—टेः, लोपः, भस्य अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—

नकारान्तस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति तद्धिते परतः ॥ उ
अग्निशर्मणोऽपत्यम् = आग्निशर्म्मिः, औडुलोमिः ॥

भाषार्थः—[*नः*] नकारान्त भसंज्ञक अङ्ग के टि भाग का लो
है [*तद्धिते*] तद्धित परे रहते ॥ अग्निशर्मन् तथा उडुलोमन् :
बाह्वादिभ्यश्च (४।१।९६) से इञ् तद्धित प्रत्यय हुआ है, अतः उस
रहते टि भाग 'अन्' का लोप हो गया है ॥

यहाँ से '*तद्धिते*' की अनुवृत्ति ६।४।१४९ तक जायेगी ॥

अह्नष्टखोरेव ॥६।४।१४५॥

अह्नः ६।१॥ टखोः ७।२॥ एव अ० ॥ *स०*—टश्च खश्च
तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिते, टेर्लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अ*
अहन् इत्येतस्याङ्गस्य टखोरेव परतः टेर्लोपो भवति ॥ *उदा०*—द्व
त्र्यहः । खे—द्वे अह्नी अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा द्व्यहीनः, त्र्य
अह्नां समूहः क्रतुः = अहीनः क्रतुः ॥

भाषार्थः—[*अह्नः*] अहन् इस अङ्ग के टि भाग को [*टखोः*]
तथा ख तद्धित प्रत्यय परे रहते [*एव*] ही लोप होता है ॥ नान्त ह
से पूर्व सूत्र से ही टिलोप प्राप्त था, नियमार्थ यह सूत्र है अ
ट ख परे ही लोप होगा, अन्य किसी के परे नहीं होगा ॥

द्व्यहः त्र्यहः की सिद्धि भाग १ परि० २।१।२२ में देखें । द्व्यही
में *रात्र्यहः०* (५।१।८६) से ख प्रत्यय होता है, तथा अहीनः में *अह*
खः क्रतौ (*वा०* ४।२।४१) इस वार्त्तिक से ख प्रत्यय होता है ॥

ओर्गुणः ॥६।४।१४६॥

ओः ६।१॥ गुणः १।१॥ *अनु०*—तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—
उवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य गुणो भवति तद्धिते परतः ॥ *उदा०*—
बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्प्पासः, कमण्डलव्या
मृत्तिका, परशव्यः, औपगवः, कापटवः ॥

भाषार्थः—[*ओः*] उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग को [*गुणः*] गुण होता
है, तद्धित परे रहते ॥ बाभ्रव्यः, माण्डव्यः की सिद्धि भाग २ सूत्र

४।१।१०६ में देखें। शङ्कव्यम् आदि में उगवादिभ्यो यत् (५।१।२) से यत् प्रत्यय होगा, सिद्धि बाभ्रव्यः के समान है। औपगवः, कापटवः की सिद्धि परि० १।१।१ पृ० ६६२ में देखें॥

यहाँ से 'ओः' की अनुवृत्ति ६।४।१४७ तक जायेगी॥

ढे लोपोऽकद्र्वाः ॥६।४।१४७॥

ढे ७।१॥ लोपः १।१॥ अकद्र्वाः ६।१॥ स०—अकद्र्वा इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—ओः, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—कद्रूवर्जितस्योवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य ढे परतो लोपो भवति॥ *उदा०*—कामण्डलेयः, जाम्बेयः, माद्रबाहेयः, शैतिबाहेयः॥

भाषार्थः—[*अकद्र्वाः*] कद्रू को छोड़कर जो उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग उसका [*ढे*] ढ तद्धित प्रत्यय परे रहते [*लोपः*] लोप होता है॥ कामण्डलेयः में *चतुष्पाद्भ्यो ढञ्* (४।१।१३५) से ढञ् प्रत्यय हुआ है। मद्रबाहु शब्द से *बाह्वन्तात्०* (४।१।६७) से ऊङ् प्रत्यय करके तदन्त से *स्त्रीभ्यो ढक्* (४।१।१२०) से ढक् हुआ है॥ अन्त्य अल् का लोप सर्वत्र जानें। जम्बू शृगाल का तथा कमण्डलु शितिबाहु शब्द पशु विशेष के वाचक हैं।

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।१५६ तक जायेगी॥

यस्येति च ॥६।४।१४८॥

यस्य ६।१॥ ईति ७।१। च अ०॥ स०—इश्च अश्च यम्, (यणादेशे कृते) तस्य''समाहारद्वन्द्वः॥ *अनु०*—लोपः, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—इवर्णान्तस्य अवर्णान्तस्य चाङ्गस्य भस्य ईकारे तद्धिते च परतो लोपो भवति॥ *उदा०*—इवर्णान्तस्य ईकारे—दाक्षी, प्लाक्षी, सखी। इवर्णान्तस्य तद्धिते—दुलि = दौलेयः, । बलि = बालेयः, अत्रि = आत्रेयः। अवर्णान्तस्य ईकारे—कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी। अवर्णान्तस्य तद्धिते—दाक्षिः, प्लाक्षिः, चौडिः, बालाकिः, सौमित्रिः॥

भाषार्थः—[*यस्य*] इवर्णान्त तथा अवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है [*ईति*] ईकार [*च*] तथा तद्धित के परे रहते॥ पूर्ववत् अन्त्य वर्ण का लोप होगा॥ दाक्षी प्लाक्षी में *इतो मनुष्यजातेः* (४।१।६५) से

ङीष् होता है, सो ङीष् परे इकार लोप हुआ है ॥ सखी शब्द
सख्यशि० (४।१।६२) से ङीष् प्रत्ययान्त निपातित है। दौलेयः आ
में *इतश्चानिञः* (४।१।१२२) से ढक् प्रत्यय हुआ है। कुमारी आदि
सिद्धि भाग २ परि० ४।१।२ में देखें। दाक्षिः आदि में *अत इ*
(४।१।९५) से इञ् तथा बालाकिः सौमित्रिः में *बाह्वादिभ्यश्च* (४।१।९६
से इञ् हुआ है, सो उसके परे प्रकृत सूत्र से अवर्ण का लोप हुआ है ॥

यहाँ से '*ईति*' की अनुवृत्ति ६।४।१५० तक जायेगी ॥

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ॥६।४।१४९॥

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानाम् ६।३॥ यः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ *स०*—सूर्य
इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—ईति, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अङ्ग
भसंज्ञकस्योपधायकारस्य लोपो भवति ईति परतस्तद्धिते च स चेद्यकारः सूर्य
तिष्य, अगस्त्य मत्स्य इत्येतेषां सम्बन्धी भवति ॥ *उदा०*—सौरी बलाका
तिष्य—तैषमहः, तैषी रात्रिः। अगस्त्य—आगस्ती, आगस्तीयः। मत्स्य-
मात्सी ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक अङ्ग के [*उपधायाः*] उपधा [*यः*] यकार का लो
होता है, ईकार तथा तद्धित के परे रहते यदि वह 'य्' [*सूर्य...नाम*
सूर्य, तिष्य, अगस्त्य तथा मत्स्य सम्बन्धी हो ॥ उदाहरणों में पहि
अवर्ण का लोप *यस्येति* च (६।४।१४८) से होगा, पीछे 'य्' का प्रकृत सू
से होगा ॥ *असिद्धवदत्राभात्* के नियम से अकारलोप के असिद्ध होने
'य्' से परे ई वा तद्धित नहीं रहता, अतः उपधा ग्रहण किया है। सि
परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से '*यः*' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक तथा '*उपधायाः*' व
६।४।१५० तक जायेगी ॥

हलस्तद्धितस्य च ॥६।४।१५०॥

हलः ५।१॥ तद्धितस्य ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—उपधायाः, यः, ईति
भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्योपधाभूतस
तद्धितयकारस्य ईति परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—गार्गी, वात्सी ॥

भाषार्थः—[*हलः*] हल् से उत्तर भसंज्ञक अङ्ग के उपधाभूत [*तद्धितस्य*
तद्धित यकार का [*च*] भी ईकार परे रहते लोप होता है ॥ सिद्धि भाग २ परि

४।१।१६ में देखें। वहाँ गार्ग्य् का य् तद्धित का एवं हल् से उत्तर है। 'य्' का लोप करते समय अलोप असिद्ध (६।१।२२) हो जाता है, अतः य् की उपधा संज्ञा होगी॥

यहाँ से 'हलः' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक जायेगी॥

आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ॥६।४।१५१॥

आपत्यस्य ६।१॥ च अ०॥ तद्धिते ७।१॥ अनाति ७।१॥ *स०*—न आत् अनात् तस्मिन्, ···नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—हलः, यः, लोपः, भस्य, अङ्गस्य॥ अपत्यस्य इदम् आपत्यम्, तस्य···॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्य आपत्ययकारस्यानाकारादौ तद्धिते परतो यलोपो भवति॥ *उदा०*—गर्गाणां समूहो = गार्गकम्, वात्सकम्॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर भसंज्ञक अङ्ग के [*आपत्यस्य*] अपत्य सम्बन्धी यकार का [च] भी [*अनाति*] अनाकारादि [*तद्धिते*] तद्धित परे रहते लोप होता है॥ गार्ग्य वात्स्य यञन्त शब्द से *गोत्रोक्षोष्ट्रो०* (४।२।३८) से वुञ् तद्धित प्रत्यय होता है, सो उसके परे रहते य् का लोप हो गया। अकार का यस्येति लोप हो ही जायेगा। यञ् प्रत्यय (४।१।१०५) अपत्य अर्थ में ही हुआ है, अतः अपत्य सम्बन्धी यकार है ही॥

यहाँ से '*आपत्यस्य*' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक तथा '*तद्धिते*' की ६।४।१५३ में जायेगी॥

क्यच्व्योश्च ॥६।४।१५२॥

क्यच्व्योः ७।२॥ च अ०॥ *स०*—क्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—आपत्यस्य, हलः, लोपः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य अङ्गस्यापत्ययकारस्य क्य च्वि इत्येतयोश्च परतो लोपो भवति॥ *उदा०*—वात्सीयति, गार्गीयति, वात्सीयते, गार्गीयते। च्वौ—गार्गीभूतः, वात्सीभूतः॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर अङ्ग के अपत्य सम्बन्धी यकार का [*क्यच्व्योः*] क्य तथा च्वि परे रहते [च] भी लोप होता है॥ पूर्ववत् य्

अपत्य सम्बन्धी है ।। गार्गीयति, वात्सीयति की सिद्धि परि० २।४।७१ के पुत्रीयति के समान जानें ।। गार्गीयते वात्सीयते में कर्त्तुः क्यङ्० (३।१।११) से क्यङ् हुआ है, अतः ङित् होने से आत्मनेपद हो गया । गार्गीभूतः में कृभ्वस्तियोगे० (५।४।५०) से च्वि होता है, सिद्धि वहीं देखें ।। 'क्य' से क्यच् तथा क्यङ् दोनों ही सामान्य निर्देश से गृहीत हैं ।।

बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् ।।६।४।१५३।।

बिल्वकादिभ्यः ५।३।। छस्य ६।१।। लुक् १।१।। स०—बिल्वक आदिर्येषां ते बिल्वकादयस्तेभ्यः''बहुव्रीहिः ।। *अनु०*—तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—बिल्वकादिभ्य उत्तरस्य भसंज्ञकस्य छस्य तद्धिते परतो लुक् भवति ।। *उदा०*—बिल्वा यस्यां सन्ति बिल्वकीया, तस्यां भवाः बैल्वकाः । वैणुकीयाः = वैणुकाः । वेत्रकीयाः = वैत्रकाः ।।

भाषार्थः—[*बिल्वकादिभ्यः*] बिल्वकादि शब्दों से उत्तर भसंज्ञक [*छस्य*] छ का [*लुक्*] लुक् (अदर्शन) होता है ।। बिल्वादि शब्द नडादि गण में पठित हैं, सो *नडादीनां कुक् च* (४।२।९०) से कुक् आगम करके सूत्र में बिल्वक् निर्देश किया है । 'छ' प्रत्यय करने पर बिल्वकीया वेणुकीया बना, पश्चात् *तत्र भवः* (४।३।५३) से अण् करके उस अण् तद्धित के परे रहते छ अर्थात् ईय् का लुक् हो गया तो आदि अच् को वृद्धि आदि कार्य होकर बैल्वकाः, वैणुकाः, वैत्रकाः बन गये ।।

तुरिष्ठेमेयस्सु ।।६।४।१५४।।

तुः ६।१।। इष्ठेमेयस्सु ७।३।। *स०*—इष्ठश्च इमा च ईयश्च इष्ठेमेयसस्तेषु''इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—तृ इत्येतस्य भस्याङ्गस्य इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् इत्येतेषु परतो लोपो भवति ।। *उदा०*—इष्ठन्—आसुतिं करिष्ठः, विजयिष्ठः, वहिष्ठः । ईयसुन्—दोहीयसी धेनुः ।।

भाषार्थः—[*तुः*] तृ का लोप होता है [*इष्ठेमेयस्सु*] इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते ।। नकार लोप करके 'इष्ठेमेयस्सु' निर्देश किया है । इमनिच् ग्रहण उत्तरार्थ है, क्योंकि तृन्नन्त से '*तुश्छन्दसि*' (५।३।५९)

से इष्ठन् ईयसुन् का ही विधान है, न कि इमनिच् का। अतः यहाँ इष्ठन् ईयसुन् के ही उदाहरण दिये हैं॥ करिष्ठः, दोहीयसी की सिद्धि भाग २ परि० ५।२।५९ में देखें। इसी प्रकार इष्ठन् परे रहते विजेतृ से विजयिष्ठः एवं वोढृ से वहिष्ठः बना है॥

यहाँ से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति ६।४।१६३ तक जायेगी॥

टेः ॥६।४।१५५॥

टेः ६।१॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—इष्ठेमेयस्सु परतः भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति॥ उदा०—पटु—पटिष्ठः, पटिमा, पटीयान्। लघु—लघिष्ठः, लघिमा, लघीयान्॥

भाषार्थः—इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के [टेः] टि भाग का लोप होता है। सिद्धियाँ भाग २ सूत्र ५।३।५५ एवं ५७ में देखें। ईयसुन् = ईयस् के परे रहते नुम् आगमादि कार्य परि० १।१।१ के चितवान् के सदृश हो ही जायेंगे॥

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ॥६।४।१५६॥

स्थूल''णाम् ६।३॥ यणादिपरम् १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ च अ०॥ गुणः १।१॥ *स०*—स्थूल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। यण् आदिर्यस्य तद् यणादि, बहुव्रीहिः। यणादि च अदः परञ्च यणादिपरम्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इत्येतेषां यणादिपरं लुप्यते, इष्ठेमेयस्सु परतः, पूर्वस्य च गुणो भवति॥ उदा०—स्थूल—स्थविष्ठः, स्थवीयान्। दूर—दविष्ठः, दवीयान्। युवन्—यविष्ठः, यवीयान्। ह्रस्व—ह्रसिष्ठः, ह्रसीयान्, ह्रसिमा। क्षिप्र—क्षेपिष्ठः, क्षेपीयान्, क्षेपिमा। क्षुद्र—क्षोदिष्ठः, क्षोदीयान्, क्षोदिमा॥

भाषार्थः—[स्थूल''णाम्] स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इन अङ्गों के [यणादिपरम्] परे जो यणादि भाग उस का लोप होता है

इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते [च] तथा उस यणादि से [पूर्वस्य] पूर्व को [गुणः] गुण होता है ॥ स्थूल दूर आदि में पर जो ल र आदि यणादि (शब्द) उनका लोप तथा पूर्व इक् के स्थान में (१।१।३) गुण होकर स्थो इष्ठ = स्थविष्ठः बनता है। पर यणादि का लोप इसलिये कहा कि युव ह्रस्व शब्दों के पूर्ववाले यणादि यु एवं र का लोप न हो जाये। ह्रस्व क्षिप्र क्षुद्र शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अतः *पृथ्वादिभ्यः०* (५।१।१२१) से इमनिच् हुआ है। इस प्रकार इन्हीं शब्दों के इमनिच् परे का उदाहरण हैं, अन्यों का नहीं। ह्रस्व शब्द में यणादि पर से पूर्व इक् न होने से गुण नहीं हुआ है। ईयसुन् परे रहते पूर्ववत् नुमादि होकर सिद्धि जानें ॥

प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः ॥६।४।१५७॥

प्रिय···णाम् ६।३॥ प्रस्थ···वृन्दाः १।३॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इत्येतेषामङ्गानां स्थाने प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि त्रप्, द्राघि, वृन्द इत्येते यथासंख्यमादेशा भवन्ति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ *उदा०*—प्रिय–प्रेष्ठः, प्रेमा, प्रेयान्। स्थिर–स्थेष्ठः, स्थेयान्। स्फिर–स्फेष्ठः, स्फेयान्। उरु–वरिष्ठः, वरिमा, वरीयान्। बहुल—बंहिष्ठः, बंहिमा, बंहीयान्। गुरु—गरिष्ठः, गरिमा, गरीयान्। वृद्ध–वर्षिष्ठः, वर्षीयान्। तृप्र–त्रपिष्ठः, त्रपीयान्। दीर्घ–द्राघिष्ठः, द्राघिमा, द्राघीयान्। वृन्दारक–वृन्दिष्ठः, वृन्दीयान् ॥

भाषार्थः—[*प्रिय······णाम्*] प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इन अङ्गों को [*प्रस्थ······वृन्दाः*] प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द ये आदेश यथासंख्य करके हो जाते हैं, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते ॥ प्रिय, उरु, गुरु, बहुल तथा दीर्घ शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अतः उनके ही इमनिच् परे का उदाहरण दिखाया है, अन्यों का नहीं॥ बंहि के इकार का टेः (६।४।१५५) से लोप होता है। प्रेष्ठः में टेः की प्रवृत्ति *प्रकृत्यैकाच्* (६।४।१६३) से प्रकृतिवत् होने से नहीं होती, सो *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर प्रेष्ठः बनता है ॥

बहोर्लोपो भू च बहोः ॥६।४।१५८॥

बहोः ५।१॥ लोपः १।१॥ भू लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ बहोः ६।१॥ *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—बहोरुत्तरेषामिष्ठेमेयसां लोपो भवति, तस्य च बहोः स्थाने भू इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—भूयान्, भूमा ॥

भाषार्थः—[*बहोः*] बहु शब्द से उत्तर इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् का [*लोपः*] लोप होता है, और उस [*बहोः*] बहु के स्थान में [*भू*] भू आदेश [च] भी होता है ॥ यहाँ 'इष्ठेमेयस्सु' षष्ठ्यन्त में बदल जाता है। बहु शब्द पृथ्वादि गण में पढ़ा है। इष्ठन् परे का उदाहरण यहाँ इसलिये नहीं दिखाया है क्योंकि वह अगले सूत्र का उदाहरण बन जाता है, अतः वहीं देखें ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से ईयसुन् इमनिच् के इवर्ण का ही लोप हुआ है। भू यस् = भूयान् ॥ *अनेकाल्०* (१।१।५४) से सम्पूर्ण बहु को भू आदेश होगा ॥

यहाँ से '*बहोः भू च बहोः*' की अनुवृत्ति ६।४।१५६ तक जायेगी ॥

इष्ठस्य यिट् च ॥६।४।१५९॥

इष्ठस्य ६।१॥ यिट् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—बहोः भू च बहोः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—बहोः परस्य इष्ठन् इत्येतस्य यिट् आगमो भवति, बहोश्च भूरादेशो भवति ॥ *उदा०*—भूयिष्ठः ॥

भाषार्थः—बहु शब्द से उत्तर [*इष्ठस्य*] इष्ठन् को [*यिट्*] यिट् आगम होता है [च] तथा बहु शब्द को भू आदेश भी होता है ॥ यिट् में इकार उच्चारणार्थ है। टित् होने से इष्ठन् के आदि को यिट् होकर भू य् इष्ठ = भूयिष्ठः बन गया ॥

ज्यादादीयसः ॥६।४।१६०॥

ज्यात् ५।१॥ आत् १।१॥ ईयसः ६।१॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ज्यात् उत्तरस्य ईयस आकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—ज्यायान् ॥

भाषार्थः—[*ज्यात्*] ज्य अङ्ग से उत्तर [*ईयसः*] ईयस् को [*आत्*] आकार आदेश होता है ॥ पूर्ववत् आदि अक्षर ईयसुन् के 'ई' को

आकारादेश होगा। ज्य च (५।३।६१) से प्रशस्य शब्द को ज्य आदेश होता है। ज्य आ यस् = ज्यायान् ॥

र ऋतो हलादेर्लघोः ॥६।४।१६१॥

रः १।१॥ ऋतः ६।१॥ हलादेः ६।१॥ लघोः ६।१॥ स०—हल् आदिर्यस्य तद् हलादि, तस्य.....बहुव्रीहिः॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—हलादेरङ्गस्य भस्य लघोः ऋकारस्य स्थाने र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः॥ *उदा०*—प्रथिष्ठः, प्रथिमा, प्रथीयान्। म्रदिष्ठः, म्रदिमा, म्रदीयान्॥

भाषार्थः—[*हलादेः*] हल् आदि वाले भसंज्ञक अङ्ग के [*लघोः*] लघु [*ऋतः*] ऋकार के स्थान में [र] र आदेश होता है, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते॥ पृथु मृदु का ऋकार ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से लघु संज्ञक एवं हल् आदि वाला है, सो र आदेश हो गया। यहाँ अकारविशिष्ट 'र' का ग्रहण है। सिद्धियाँ ५।१।१२१ सूत्र में ही देखें॥

यहाँ से '*र ऋतः*' की अनुवृत्ति ६।४।१६२ तक जायेगी॥

विभाषर्जोश्छन्दसि ॥६।४।१६२॥

विभाषा १।१॥ ऋजोः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—र ऋतः, इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ऋजु इत्येतस्याङ्गस्य ऋतः स्थाने विभाषा र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः॥ *उदा०*—रजिष्ठमेति पन्थानम्। त्वं रजिष्ठमनु नेषि (ऋ० १।९१।१)। पक्षे—त्वमृजिष्ठः॥

भाषार्थः—[*ऋजोः*] ऋजु अङ्ग के ऋकार के स्थान में [*विभाषा*] विकल्प से र आदेश होता है [*छन्दसि*] वेद विषय में, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते॥ वेद का यथाप्राप्त इष्ठन् परे का ही उदाहरण यहाँ दिया है॥ ऋजु इष्ठ यहाँ टेः (६।४।१५५) से टि का लोप एवं ऋ को र होकर रजिष्ठः बन गया॥

प्रकृत्यैकाच् ॥६।४।१६३॥

प्रकृत्या ३।१॥ एकाच् १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच् बहुव्रीहिः॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—एकाच् यद्

भसंज्ञकमङ्गं तत् प्रकृत्या भवति इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ उदा०—स्रजिष्ठः, स्रजीयान्, स्रजयति[1] । स्रुचिष्ठः, स्रुचीयान्, स्रुचयति[1] ॥

भाषार्थः—[*एकाच्*] एक अच् वाला भसंज्ञक अङ्ग [*प्रकृत्या*] प्रकृति से रह जाता है, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते ॥ *अस्मायामेधा०* (५।२।१२१) से स्रग्विन् में विनि प्रत्यय होकर पश्चात् इष्ठन् आदि प्रत्यय हुये हैं । इष्ठन् आदि के परे *विन्मतोर्लुक्* (५।३।६५) से विन् का लुक् हुआ है । इस प्रकार स्रज् शब्द इष्ठनादि के परे एक अच् वाला है, अतः प्रकृतिभाव हो गया । प्रकृतिभाव होने से टेः (६।४।१५५) से जो टिभाग का लोप प्राप्त था वह नहीं हुआ । इसी प्रकार स्रुग्वत् मतुप् प्रत्ययान्त शब्द से स्रुचिष्ठः आदि की सिद्धि जानें ॥

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी ॥

इनण्यनपत्ये ॥६।४।१६४॥

इन् १।१॥ अणि ७।१॥ अनपत्ये ७।१॥ *स०*—अन० इत्यत्र नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनपत्यार्थेऽणि परत इन्नन्तं भसंज्ञकाङ्गं प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—सांकूटिनम्, सांराविणम्, सांमार्जिनम् । स्रग्वी—स्रग्विण इदं स्राग्विणम्, *तस्येदमित्यण्* ॥

भाषार्थः—[*अनपत्ये*] अपत्य अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान [*अणि*] अण् प्रत्यय के परे रहते [*इन्*] इन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ सिद्धियाँ परि० ३।३।४४ पृ० ६०७ में देखें । यहाँ अण् अपत्य अर्थ में नहीं आया है । इसी प्रकार मृजूष् धातु से सांमार्जिनम् भी समझें ॥ *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) की प्राप्ति में यह सूत्र है ॥

यहाँ से 'इन्' की अनुवृत्ति ६।४।१६६ तक तथा '*अणि*' की ६।४।१७१ तक जायेगी ॥

गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च ॥६।४।१६५॥

गाथि···नः १।३॥ च अ० ॥ *स०*—गाथी च विदथी च केशी च गणी च पणी च, गाथि···नः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इन्, अणि,

---

१. *णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य* (वा० ६।४।१५५) से णिच् को इष्ठवत् कार्य होता है, अतः ये उदाहरण दिए हैं ॥

इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते [च] तथा उस यणादि से [पूर्वस्य] पूर्व को [गुणः] गुण होता है ।। स्थूल दूर आदि में पर जो ल र आदि यणादि (शब्द) उनका लोप तथा पूर्व इक् के स्थान में (१।१।३) गुण होकर स्थो इष्ठ = स्थविष्ठः बनता है । पर यणादि का लोप इसलिये कहा कि युव ह्रस्व शब्दों के पूर्ववाले यणादि यु एवं र का लोप न हो जाये । ह्रस्व क्षिप्र क्षुद्र शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अतः *पृथ्वादिभ्यः०* (५।१।१२१) से इमनिच् हुआ है । इस प्रकार इन्हीं शब्दों के इमनिच् परे का उदाहरण है, अन्यों का नहीं । ह्रस्व शब्द में यणादि पर से पूर्व इक् न होने से गुण नहीं हुआ है । ईयसुन् परे रहते पूर्ववत् नुमादि होकर सिद्धि जानें ।।

प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः ।।६।४।१५७।।

प्रिय...णाम् ६।३।। प्रस्थ...वृन्दाः १।३।। *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इत्येतेषामङ्गानां स्थाने प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि त्रप्, द्राघि, वृन्द इत्येते यथासंख्यमादेशा भवन्ति, इष्ठेमेयस्सु परतः ।। *उदा०*—प्रिय-प्रेष्ठः, प्रेमा, प्रेयान् । स्थिर-स्थेष्ठः, स्थेयान् । स्फिर-स्फेष्ठः, स्फेयान् । उरु-वरिष्ठः, वरिमा, वरीयान् । बहुल—बंहिष्ठः, बंहिमा, बंहीयान् । गुरु—गरिष्ठः, गरिमा, गरीयान् । वृद्ध-वर्षिष्ठः, वर्षीयान् । तृप्र-त्रपिष्ठः, त्रपीयान् । दीर्घ-द्राघिष्ठः, द्राघिमा, द्राघीयान् । वृन्दारक-वृन्दिष्ठः, वृन्दीयान् ।।

भाषार्थः—[*प्रिय.....णाम्*] प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इन अङ्गों को [*प्रस्थ.....वृन्दाः*] प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द ये आदेश यथासंख्य करके हो जाते हैं, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते ।। प्रिय, उरु, गुरु, बहुल तथा दीर्घ शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अतः उनके ही इमनिच् परे का उदाहरण दिखाया है, अन्यों का नहीं ।। बंहि के इकार का टेः (६।४।१५५) से लोप होता है । प्रेष्ठः में टेः की प्रवृत्ति *प्रकृत्यैकाच्* (६।४।१६३) से प्रकृतिवत् होने से नहीं होती, सो *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर प्रेष्ठः बनता है ।।

बहोर्लोपो भू च बहोः ॥६।४।१५८॥

बहोः ५।१॥ लोपः १।१॥ भू लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ बहोः ।१॥ *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—बहोरुत्तरेषामि- मेयसां लोपो भवति, तस्य च बहोः स्थाने भू इत्ययमादेशो भवति ॥ दा०—भूयान्, भूमा ॥

भाषार्थः—[*बहोः*] बहु शब्द से उत्तर इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् ा [*लोपः*] लोप होता है, और उस [*बहोः*] बहु के स्थान में [*भू*] भू ादेश [*च*] भी होता है ॥ यहाँ 'इष्ठेमेयस्सु' षष्ठ्यन्त में बदल जाता ै । बहु शब्द पृथ्वादि गण में पढ़ा है । इष्ठन् परे का उदाहरण यहाँ ्सलिये नहीं दिखाया है क्योंकि वह अगले सूत्र का उदाहरण बन जाता ै, अतः वहीं देखें ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से ईयसुन् इमनिच् के ्वर्ण का ही लोप हुआ है । भू यस् = भूयान् ॥ *अनेकाल्०* (१।१।५४) े सम्पूर्ण बहु को भू आदेश होगा ॥

यहाँ से '*बहोः भू च बहोः*' की अनुवृत्ति ६।४।१५६ तक जायेगी ॥

इष्ठस्य यिट् च ॥६।४।१५९॥

इष्ठस्य ६।१॥ यिट् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—बहोः भू च बहोः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—बहोः परस्य इष्ठन् इत्येतस्य यिट् आगमो भवति, बहोश्च भूरादेशो भवति ॥ उदा०—भूयिष्ठः ॥

भाषार्थः—बहु शब्द से उत्तर [*इष्ठस्य*] इष्ठन् को [*यिट्*] यिट् आगम होता है [*च*] तथा बहु शब्द को भू आदेश भी होता है ॥ यिट् में इकार उच्चारणार्थ है । टित् होने से इष्ठन् के आदि को यिट् होकर भू य् इष्ठ = भूयिष्ठः बन गया ॥

ज्यादादीयसः ॥६।४।१६०॥

ज्यात् ५।१॥ आत् १।१॥ ईयसः ६।१॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ज्यात् उत्तरस्य ईयस आकार आदेशो भवति ॥ उदा०— ज्यायान् ॥

भाषार्थः—[*ज्यात्*] ज्य अङ्ग से उत्तर [*ईयसः*] ईयस् को [*आत्*] आकार आदेश होता है ॥ पूर्ववत् आदि अक्षर ईयसुन् के 'ई' को

२२

आकारादेश होगा। ज्य च (५।३।६१) से प्रशस्य शब्द को ज्य आदेश होता है। ज्य आ यस् = ज्यायान् ॥

र ऋतो हलादेर्लघोः ॥६।४।१६१॥

रः १।१॥ ऋतः ६।१॥ हलादेः ६।१॥ लघोः ६।१॥ स०—हल् आदिर्यस्य तद् हलादि, तस्य······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हलादेरङ्गस्य भस्य लघोः ऋकारस्य स्थाने र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ *उदा०*—प्रथिष्ठः, प्रथिमा, प्रथीयान् । म्रदिष्ठः, म्रदिमा, म्रदीयान् ॥

भाषार्थः—[*हलादेः*] हल् आदि वाले भसंज्ञक अङ्ग के [*लघोः*] लघु [*ऋतः*] ऋकार के स्थान में [*र*] र आदेश होता है, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते ॥ पृथु मृदु का ऋकार ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से लघु संज्ञक एवं हल् आदि वाला है, सो र आदेश हो गया। यहाँ अकारविशिष्ट 'र' का ग्रहण है। सिद्धियाँ ५।१।१२१ सूत्र में ही देखें ॥

यहाँ से 'र ऋतः' की अनुवृत्ति ६।४।१६२ तक जायेगी ॥

विभाषर्जोश्छन्दसि ॥६।४।१६२॥

विभाषा १।१॥ ऋजोः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—र ऋतः, इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ऋजु इत्येतस्याङ्गस्य ऋतः स्थाने विभाषा र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ *उदा०*—रजिष्ठमेति पन्थानम् । त्वं रजिंष्ठमनु नेषि (ऋ० १।९१।१)। पक्षे—त्वमृजिष्ठः ॥

भाषार्थः—[*ऋजोः*] ऋजु अङ्ग के ऋकार के स्थान में [*विभाषा*] विकल्प से र आदेश होता है [*छन्दसि*] वेद विषय में, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते ॥ वेद का यथाप्राप्त इष्ठन् परे का ही उदाहरण यहाँ दिया है ॥ ऋजु इष्ठ यहाँ टेः (६।४।१५५) से टि का लोप एवं ऋ को र होकर रजिष्ठः बन गया ॥

प्रकृत्यैकाच् ॥६।४।१६३॥

प्रकृत्या ३।१॥ एकाच् १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—एकाच् यद्

नसंज्ञकमङ्गं तत् प्रकृत्या भवति इष्ठेमेयस्सु परतः ।। उदा०—स्रजिष्ठः, स्रजीयान्, स्रजयति[1] । स्रुचिष्ठः, स्रुचीयान्, स्रुचयति[1] ।।

भाषार्थः—[*एकाच्*] एक अच् वाला भसंज्ञक अङ्ग [*प्रकृत्या*] प्रकृति से रह जाता है, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते ।। *अस्मायामेधा०* (५।२।१२१) से स्रग्विन् में विनि प्रत्यय होकर पश्चात् इष्ठन् आदि प्रत्यय हुये हैं । इष्ठन् आदि के परे *विन्मतोर्लुक्* (५।३।६५) से विन् का लुक् हुआ है । इस प्रकार स्रज् शब्द इष्ठनादि के परे एक अच् वाला है, अतः प्रकृतिभाव हो गया । प्रकृतिभाव होने से टेः (६।४।१५५) से जो टिभाग का लोप प्राप्त था वह नहीं हुआ । इसी प्रकार स्रुग्वत् मतुप् प्रत्ययान्त शब्द से स्रुचिष्ठः आदि की सिद्धि जानें ।।

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी ।।

इनण्यनपत्ये ।।६।४।१६४।।

इन् १।१।। अणि ७।१।। अनपत्ये ७।१।। *स०*—अन० इत्यत्र नञ्-तत्पुरुषः ।। *अनु०*—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—अनपत्यार्थेऽणि परत इन्नन्तं भसंज्ञकाङ्गं प्रकृत्या भवति ।। *उदा०*—सांकूटिनम्, सांराविणम्, सांमार्जिनम् । स्रग्वी-स्रग्विण इदं स्राग्विणम्, *तस्येदमित्यण्* ।।

भाषार्थः—[*अनपत्ये*] अपत्य अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान [*अणि*] अण् प्रत्यय के परे रहते [*इन्*] इन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव हो जाता है ।। सिद्धियाँ परि० ३।३।४४ पृ० ६०७ में देखें । यहाँ अण् अपत्य अर्थ में नहीं आया है । इसी प्रकार मृजूष् धातु से सांमार्जिनम् भी समझें ।। *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) की प्राप्ति में यह सूत्र है ।।

यहाँ से 'इन्' की अनुवृत्ति ६।४।१६६ तक तथा '*अणि*' की ६।४।१७१ तक जायेगी ।।

गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च ।।६।४।१६५।।

गाथि...नः १।३।। च अ० ।। *स०*—गाथी च विदथी च केशी च गणी च पणी च, गाथि...नः, इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—इन्, अणि,

---

१. *णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य* (वा० ६।४।१५५) से णिच् को इष्ठवत् कार्य होता है, अतः ये उदाहरण दिए हैं ।।

प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् इत्येते च अणि परतः प्रकृत्या भवन्ति ॥ *उदा०*—गाथिनोऽपत्यम्= गाथिनः, वैदथिनः, कैशिनः, गाणिनः, पाणिनः ॥

भाषार्थः—[*गाथि***नः*] गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् इन अङ्गों को [च] भी अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ ये शब्द मत्वर्थीय इनि (५।२।११५) प्रत्ययान्त हैं ॥ इन्नन्त होने से पूर्व सूत्र से ही प्रकृतिभाव सिद्ध था, यहाँ अपत्यार्थक अण् परे रहते भी हो जाये इसलिये यह सूत्र है ॥ सर्वत्र *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) से अण् प्रत्यय हुआ है ॥ पूर्ववत् *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टिलोप प्राप्त था तदपवाद है ॥

संयोगादिश्च ॥६।४।१६६॥

संयोगादिः १।१॥ च अ० ॥ *स०*—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इन्, अणि, प्रकृत्या ॥ *अर्थः*—संयोगादिश्च इन् अणि परतः प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—शङ्खिनोऽपत्यं शाङ्खिनः, माद्रिणः, वाज्रिणः ॥

भाषार्थः—[*संयोगादिः*] संयोग आदि में है जिस 'इन्' के उसको [च] भी अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ इस सूत्र का भी आरम्भ अपत्यार्थक अण् परे रहते भी हो जाये इसलिये है ॥ पूर्ववत् शङ्खिन् आदि इनिप्रत्ययान्त हैं, तदन्त से अण् प्रत्यय अपत्यार्थ में हुआ है। पूर्ववत् यहाँ भी टिलोप प्राप्त था ॥ शङ्खिन्, मद्रिन्, वज्रिन् में 'इन्' से पूर्व संयोग (ङ् ख् आदि का) है ही ॥

अन् ॥६।४।१६७॥

अन् १।१॥ *अनु०*—अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अन्नन्तं भसंज्ञकमङ्गमणि परतः प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—सामनः, वैमनः, सौत्वनः, जैत्वनः ॥

भाषार्थः—[*अन्*] अन् अन्त वाले, भसंज्ञक अङ्ग को अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ सामान्य अण् (अपत्यार्थक हो या अनपत्यार्थक) परे रहते यह विधि है ॥ सामनः, वैमनः में *तस्येदम्* (४।३।१२०)

अण् हुआ है। षुञ् धातु से सुयजो० (३।२।१०३) से ङ्वनिप् एवं
।।६९ से तुक् आगम होकर सुत्वन् बना, तत्पश्चात् तस्यापत्यम्
।१।९२) से अण् होकर सौत्वनः बन गया। इसी प्रकार जि धातु से
येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३।२।७५) से क्वनिप् होकर जित्वन् बनता है।
वत् नस्तद्धिते से टिलोप प्राप्त था तदपवाद है ॥

यहाँ से 'अन्' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी ॥

ये चाभावकर्मणोः ॥६।४।१६८॥

ये ७।१॥ च अ० ॥ अभावकर्मणोः ७।२॥ स०—भावश्च कर्म च
वकर्मणी, न भावकर्मणी अभावकर्मणी, तयोः······द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पु-
षः ॥ अनु०—अन्, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य। आपत्यस्य च तद्धितेऽ
ति (६।४।१५१) इत्यतः 'तद्धिते' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥
र्थः—यकारादौ च तद्धिते परतोऽभावकर्मणोरर्थयोरन् प्रकृत्या भवति ॥
दा०—सामसु साधुः सामन्यः, वेमन्यः ॥

भाषार्थः—[अभावकर्मणोः] भाव तथा कर्म से भिन्न अर्थ में वर्तमान
ये] यकारादि तद्धित के परे रहते [च] भी अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को
कृतिभाव हो जाता है ॥ सिद्धि तत्र साधुः (४।४।९८) सूत्र में देखें ॥

आत्माध्वानौ खे ॥६।४।१६९॥

आत्माध्वानौ १।२॥ खे ७।१॥ स०—आत्मा च अध्वा च आत्मा-
ध्वानौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—
आत्मन् अध्वन् इत्येतावङ्गौ खे प्रत्यये परतः प्रकृत्या भवतः ॥
उदा०—आत्मने हितः = आत्मनीनः। अध्वानमलङ्गामी = अध्वनीनः ॥

भाषार्थः—[आत्माध्वानौ] आत्मन् तथा अध्वन् भसंज्ञक अङ्गों को
[खे] ख प्रत्यय परे रहते प्रकृतिभाव होता है ॥ आत्मनीनः में आत्म-
न्विश्व० (५।१।९) से ख प्रत्यय होता है, तथा अध्वनीनः में अध्वनो
यत्खौ (५।२।१६) से ख होता है, उसके परे रहते पूर्ववत् (६।४।१४४)
टिलोप प्राप्त था, प्रकृतिभाव कह दिया ॥

न मपूर्वोऽपत्येऽवर्म्मणः ॥६।४।१७०॥

न अ० ॥ मपूर्वः १।१॥ अपत्ये ७।१॥ अवर्म्मणः ६।१॥ स०—मकारः

पूर्वो यस्य (अनः) स मपूर्वः, बहुव्रीहिः। न वर्म्मा अवर्म्मा, तस्य······ नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अन्, अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अपत्यार्थकेऽणि परतो वर्म्मणो वर्जितस्य मपूर्वोऽन् प्रकृत्या न भवति ॥ *उदा०*—सुषाम्णोऽपत्यं सौषामः, चान्द्रसामः ॥

भाषार्थः—[*अपत्ये*] अपत्यार्थक अण् के परे रहते [*अवर्मणः*] वर्म्मन् शब्द को छोड़कर जो [*मपूर्वः*] मकार पूर्व वाला अन् उसको प्रकृतिभाव [*न*] नहीं होता ॥ *अन्* (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव प्राप्त था निषेध कर दिया तो यथाप्राप्त सुषामन् चन्द्रसामन् के टि (अन्) का लोप *नस्तद्धिते* से अण् (४।१।९२) परे रहते हो गया। सुषामन् चन्द्रसामन् शब्दों के अन् से पूर्व मकार है ही। वर्म्मन् में भी मकार पूर्व था, अतः निषेध कर दिया ॥

यहाँ से '*अपत्ये*' की अनुवृत्ति ६।४।१७१ तक जायेगी ॥

ब्राह्मोऽजातौ ॥६।४।१७१॥

ब्राह्मः १।१॥ अजातौ ७।१॥ *स०*—न जातिः अजातिः, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अपत्ये ॥ *अर्थः*—ब्राह्म इति निपात्यते, अपत्ये जातौ न ॥ योगविभागोऽत्र कर्त्तव्यः। अजातावित्यनेन 'अपत्ये' इति सम्बध्यते न तु निपातनेन। तेन ब्राह्म इत्यत्र टिलोपो निपात्यतेऽनपत्येऽणि। ततोऽजातौ—अपत्ये जातावणि ब्रह्मणः टिलोपो न भवत्ययमर्थः सम्पद्यते ॥ *उदा०*—ब्राह्मो गर्भः, ब्राह्मम् अस्त्रम्, ब्राह्मं हविः ॥ अपत्ये जातौ न भवति—ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—[*ब्राह्मः*] ब्राह्म शब्द में टिलोप निपातन किया जाता है, अपत्य [*अजातौ*] जाति अर्थ को छोड़कर ॥ इस सूत्र में योगविभाग करके महाभाष्यादि में इष्ट अर्थ का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—'*ब्राह्मः*' ब्राह्म शब्द में टिलोप अपत्य अण् के परे रहते निपातन से होता है। पश्चात् '*अजातौ*' कहा सो उसमें पूर्व सूत्रोक्त 'अपत्ये' की अनुवृत्ति आकर अर्थ हुआ 'अपत्यार्थक जाति में ब्रह्मन् के टि का लोप नहीं होता'। अर्थात् 'अपत्ये' का सम्बन्ध अजातौ से लगेगा न कि ब्राह्मः निपातन के साथ। सो ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः यहाँ अपत्यार्थक जाति को

ने में टिलोप नहीं हुआ[1] ॥ अनपत्य अर्थ में ब्राह्म के टि का लोप ति अजाति सर्वत्र होगा, किन्तु 'अपत्य अर्थ में जाति में नहीं' यह तेषेध कर दिया ॥

ब्राह्म निपातन के साथ 'अपत्ये' अनुवृत्ति का सम्बन्ध न करने से । सूत्र से प्रकृतिभाव का निषेध ब्राह्म में नहीं प्राप्त हुआ, अर्थात् *अन्* ।४।१६७) से प्रकृतिभाव ही प्राप्त हुआ, अतः टिलोपार्थ यह तन है ॥

कार्म्मस्ताच्छील्ये ॥६।४।१७२॥

कार्म्मः १।१॥ ताच्छील्ये ७।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य, भस्य ॥ *अर्थः*—ार्म्म इति ताच्छील्ये णे टिलोपो निपात्यते ॥ *उदा०*—कर्म्म-ील: = कार्म्मः ॥

भाषार्थः—[*कार्म्मः*] कार्म्म इस शब्द में [*ताच्छील्ये*] ताच्छील्यार्थक । परे रहते टिलोप निपातन किया जाता है ॥ *छत्रादिभ्यो णः* ४।४।६२) से कर्मन् शब्द से ण प्रत्यय होता है । टि भाग = अन् का ोप प्रकृत सूत्र से हो गया है ॥

औक्षमनपत्ये ॥६।४।१७३॥

औक्षम् १।१॥ अनपत्ये ७।१॥ *स०*—*अन०* इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनपत्येऽणि औक्षमिति टिलोपो निपात्यते ॥ *उदा०*—औक्षं पदम् ॥

भाषार्थः—[*अनपत्ये*] अनपत्यार्थक अण् परे रहते [*औक्षम्*] औक्षम् यहाँ टिलोप निपातन किया जाता है ॥ उक्षन् शब्द से *तस्येदम्* (४।३।१२०) से अण् प्रत्यय एवं टिलोप होकर औक्षम् बना है ॥

दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौण-हत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥६।४।१७४॥

दाण्डि''यानि १।३॥ *स०*—*दाण्डि०* इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—

---

१. ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्विरचितानि वेदव्याख्यानानि ब्राह्मणानि । यहाँ अपत्यार्थक जाति न होने से टि का लोप प्राप्त होता है उसका अभाव *छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि* (४।२।६५) इत्यादि सूत्रों में ग्रन्थविशेषवाचक ब्राह्मण शब्द के निपातन से होता है ॥

दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वाशिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय, हिरण्मय इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते ॥ दण्डिन्, हस्तिन् इत्येतौ शब्दौ नडादिषु पठ्येते (४।१।९९) तयोरायने परतः प्रकृतिभावो निपात्यते । दण्डिनोऽपत्यं दाण्डिनायनः, हस्तिनोऽपत्यं हास्तिनायनः ॥ अथर्वन् शब्दो वसन्तादिषु पठ्यते । अथर्वणमधीते यः स आथर्वणिकः, *वसन्तादिभ्यष्ठक्* (४।२।६२) इत्यनेन ठक्प्रत्ययः । अत्रापि इके परतः प्रकृतिभावो निपात्यते ॥ जिह्माशिनोऽपत्यं जैह्माशिनेयः, शुभ्रादित्वादत्र (४।१।१२३) ढक्प्रत्ययो निपातनाच्च प्रकृतिभावः ॥ वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः, *उदीचां वृद्धाद०* (४।१।१५७) इत्यनेन फिञ्प्रत्ययः, प्रकृतिभावश्च निपातनात् ॥ भ्रौणहत्य, धैवत्य इत्यत्र भ्रूणहन् धीवन् इत्येतयोः ष्यञि परतस्तकारादेशो निपात्यते । भ्रूणघ्नो भावः भ्रौणहत्यम्, धीव्नो भावः धैवत्यम् ॥ सारव इत्यत्र सरयू इत्येतस्य अणि परतो यूशब्दस्य स्थाने व इत्ययमादेशो निपात्यते । सरय्वां भवं सारवमुदकम् ॥ ऐक्ष्वाक इति आद्युदात्तो अन्तोदात्तश्च निपात्यते, उकारलोपश्च । इक्ष्वाकोरपत्यं ऐक्ष्वाकः, *जनपदशब्दा०* (४।१।१६६) इत्यनेन अञ्, अथवा इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवः ऐक्ष्वाकः, *कोपधादण्* (४।२।१३१) इत्यण् प्रत्ययः, अत्रापि उकारलोपो निपातनात् । मित्रयुशब्दो गृष्ट्यादिषु पठ्यते तत्र *गृष्ट्यादिभ्यश्च* (४।१।१३६) इत्यनेन ढञ्, ततो ढञि परतः *केकयमित्रयु०* (७।३।२) इत्यनेन यकारादेः स्थाने प्राप्तस्य इयादेशस्यापवादो युलोपो निपात्यते । मित्रयोरपत्यम् मैत्रेयः इति ॥ हिरण्मयम् इत्यत्र हिरण्यस्य मयटि (४।३।१४१) परतो यादिलोपो निपात्यते । हिरण्यस्य विकारः हिरण्मयः ॥

भाषार्थः—[*दाण्डि...यानि*] दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वाशिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय, हिरण्मय ये शब्द निपातन किये जाते हैं ॥

दण्डिन् हस्तिन् शब्द नडादि गण में पढ़े हैं अतः *नडादिभ्यः फक्* से फक् प्रत्यय हुआ है । निपातन से आयन् परे रहते यहाँ प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् ६।४।१४४ से टिलोप नहीं होता । दाण्डिनायनः, हास्तिनायनः ॥ आथर्वणिक यहाँ अथर्वन् शब्द वसन्तादिगण में पठित है, अतः *वसन्तादिभ्यः०* से ठक् प्रत्यय हुआ है । ठ को इक होकर, इक

परे प्रकृतिभाव निपातन है। अथर्वन् ऋषि के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ भी अथर्वन् उपचार से कहा जायेगा, अतः उस ग्रन्थ को पढ़ने वाला आथर्वणिक कहायेगा। जैह्माशिनेय यहाँ जिह्माशिन् शब्द से *शुभ्रादिभ्यश्च* से ढक् होकर उसके परे प्रकृतिभाव निपातन है॥ वाशिनायनिः यहाँ वाशिन् शब्द से *उदीचां वृद्धा०* से फिञ् प्रत्यय हुआ है, पूर्ववत् प्रकृतिभाव निपातन है॥ भ्रौणहत्य धैवत्य यहाँ भ्रूणहन् धीवन् इन शब्दों को ष्यञ् (५।१।१२३) प्रत्यय परे रहते तकारादेश निपातन से होता है। *अलोन्त्यस्य* से अन्त्य अल् न् को 'त्' होगा॥ सारव यहाँ सरयू शब्द के 'यू' के स्थान में व आदेश अण् परे रहते निपातन है॥ ऐक्ष्वाक शब्द सूत्र में एकश्रुति में पढ़ा है सो उसे आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त तथा उकारलोप निपातन से होता है। जब इक्ष्वाकु शब्द से *जनपदशब्दात्०* सूत्र से अञ् होता है तो निपातन से एकश्रुति हटकर यथाप्राप्त (६।१।१९१) आद्युदात्त स्वर होता है, तथा *कोपधादण्* से अण् करने पर यथाप्राप्त (३।१।३) अन्तोदात्त स्वर होगा। दोनों पक्षों में उकारलोप होगा ही॥ मैत्रेय यहाँ मित्रयु शब्द से *गृष्ट्यादिभ्यश्च* से ढञ् करके उस ढञ् के परे रहते यादि = 'य्' आदि वाले अर्थात् 'य्' को जो *केकयमित्रयु०* से इय् आदेश प्राप्त था उसको बाधकर यहाँ 'यु' का लोप निपातन से होता है। मित्रयु ढ = मित्र एय = यस्येति लोपादि होकर मैत्रेयः बना॥ हिरणमय यहाँ हिरण्य शब्द के 'य' का मयट् परे रहते लोप निपातन है॥

ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि ॥६।४।१७४॥

ऋत्व्य...यानि १।३॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—ऋत्व्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अर्थः*—ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते छन्दसि विषये॥ ऋतु वास्तु इत्येतयोः यति (४।४।११०) परतो यणादेशो निपात्यते। ऋतौ भवम् ऋत्व्यम्, वास्तौ भवं वास्त्व्यम्॥ वास्त्वमिति वस्तुशब्दस्य अणि परतो यणादेशो निपात्यते। वस्तुनि भवो वास्त्वः॥ माध्वी इत्यत्र मधुशब्दस्य अणि परतो स्त्रियां यणादेशो निपात्यते। माध्वी॑र्नः स॒न्त्वोष॑धीः (ऋ० १।९०।६)॥ हिरण्ययम् इत्यत्र हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपो निपात्यते। हि॒र॒ण्यये॑न सवि॒ता रथे॒न (ऋ० १।३५।२)॥

भाषार्थः—[*ऋत्व्य*···*यानि*] ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय ये शब्दरूप निपातन किये जाते हैं [*छन्दसि*] वेद विषय में ।। ऋतु वास्तु इन शब्दों को यत् परे रहते यणादेश निपातन से ऋत्व्यम्, वास्त्व्यम् शब्दों में किया गया है । *भवे छन्दसि* से यहाँ यत् प्रत्यय होता है ।। वास्त्व यहाँ भी अण् (४।३।५३) परे रहते यणादेश निपातन है । *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण प्राप्त था यणादेश कह दिया ।। माध्वी यहाँ मधु शब्द से अण् (४।३।१२०) परे रहते स्त्रीलिङ्ग में यणादेश निपातन है । पूर्ववत् गुण प्राप्ति थी यणादेश कह दिया ।। हिरण्यय यहाँ हिरण्य शब्द से विहित मयट् (४।३।१४१) के मकार का लोप निपातन से होता है ।।

।। *इति षष्ठोऽध्यायः* ।।